परिचित प्रश्न : नई समीक्षा

सत्यपाल चुघ
प्राध्यापक, किरोड़ीमल कालिज
दिल्ली विश्वविद्यालय

निशियाम प्रकाशन, नई दिल्ली

प्रकाशक :
वरदाचारी पण्डित
निशियास प्रकाशन
१६ एल० लाजपतनगर-३
नई दिल्ली-१४

प्रथम संस्करण

मूल्य : चौदह रुपए

मुद्रक
राजकमल इलैक्ट्रिक प्रैस
सब्जी मण्डी, दिल्ली

परममित्र

हेमचन्द्र कौशिक

को

सप्रेम

प्रकाश

प्रस्तुत पुस्तक भाई सत्यपाल जी के समय-समय पर लिखे गए निबन्धों का संग्रह है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, लेखक को यह स्वीकार है कि उसने परिचित प्रश्न लिए हैं, पर इन परिचित प्रश्नों की समीक्षा में नूतन सामग्री तथा दृष्टिकोण के कारण पर्याप्त मौलिकता है। 'नई समीक्षा' नाम में अहं की गंध मिल सकती है पर यथार्थता यह है कि यह लेखक के विश्वास का द्योतक है। साथ ही इसमें एक ध्वनि भी है। प्रश्नों के परिचित होने के कारण ही उनके उत्तर या समीक्षाएं अपठनीय नहीं हैं। कुछ लोगों में यह एक विचित्र धारणा बन गई है कि कुछ प्रश्न जो बार-बार परीक्षाओं में पूछे जाते हैं केवल परीक्षार्थी और परीक्षा-जगत के हैं। विद्वान लोग उन पर विचार करना अपने लिए अशोभन मानते हैं, जबकि यथार्थता यह है कि इन प्रश्नों में बहुत से साहित्य के किसी न किसी रूप में बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न हैं और उनके अनेक कोने अभी तक अस्पर्शित हैं। कहना न होगा कि साहित्य का कोई भी प्रश्न अपने आप में हेय नहीं है, यदि उस पर विचार करने वाले में विचार करने की प्रतिभा हो। इस पुस्तक में भी अनेक प्रश्न इसी प्रकार के हैं, जिन पर पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है पर यहाँ जो कहा गया है उसे उस कहे गए की प्रायः पुनरावृत्ति नहीं कह सकते। साथ ही जो कुछ कहना था सब कुछ कह दिया गया ऐसी भी बात नहीं है। भविष्य में भी इन प्रश्नों पर नई बातें कही जा सकती हैं और कही जायेंगी, यही साहित्य की विलक्षणता है। ऐसी स्थिति में परिचित और पुराने प्रश्नों पर पुनर्विचार अनावश्यक नहीं, अनिवार्यतः आवश्यक है। नए युग, नए दृष्टिकोण के प्रकाश में उनसे नई उपलब्धियों की संभावनाएँ सर्वदा हो सकती हैं।

किसी निबन्ध या पुस्तक का शीर्षक देखकर ही यह सोचने लगना कि घिसा-पिटा प्रश्न या विषय है, इसमें मौलिकता नहीं हो सकती, या यह सोचना कि मौलिकता केवल नए प्रश्नों में ही हो सकती है किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। अस्तु।

प्रस्तुत पुस्तक में तीन प्रकार के निबन्ध संगृहीत हैं, सैद्धान्तिक, कृति-विषयक और कृतिकार-विषयक। सैद्धान्तिक निबन्ध केवल एक है—रेखाचित्र। इसमें साहित्य की अपेक्षाकृत इस नवीन विधा का बड़ी गहराई से सांगोपांग विवेचन किया गया है।

कृति-विषयक निबंधों का सम्बन्ध गोदान, चन्द्रगुप्त, चिन्तामणि, संन्यासी, मृगनयनी और यशोधरा से है। गोदान पर दो निबन्ध हैं। एक में उसके नामकरण पर विचार किया गया है, और दूसरे में उद्देश्य और वस्तु-संगठन पर। इस दूसरे निबन्ध में लेखक ने बहुत से आलोचकों द्वारा व्यक्त की गई इस धारणा का निराकरण किया है कि गाँव और नगर के अलग-अलग असंबद्ध चित्र प्रेमचन्द की कई रचनाओं में मिलते हैं और यह दोष गोदान में और भी बढ़ गया है। इसी प्रकार श्री नलिन विलोचन शर्मा तथा अन्य लोगों द्वारा गोदान के उद्देश्य के बारे में कही गई बातें भी लेखक को स्वीकार नहीं हैं और उसने इस प्रश्न के अधिक व्यापक और नवीन पक्ष की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित किया है। गोदान के उद्देश्य और वस्तु-संगठन पर प्रथम बार इस मौलिक विधि से विचार किया गया है और यह प्रेमचन्द के अन्य बड़े उपन्यासों के उद्देश्य और वस्तु-संगठन को समझने में सहायक हो सकता है।

प्रसाद के प्रसिद्ध नाटक 'चन्द्रगुप्त' से सम्बद्ध तीन प्रश्न यहाँ उठाए गए हैं, उसका उद्देश्य, नायक और दोष। उसके उद्देश्य के सम्बन्ध में यत्र-तत्र और लोगों ने भी विचार किया है पर यहाँ एक विशेष दृष्टि-कोण से इस प्रश्न को लिया गया है। लेखक ने राष्ट्रीयता में अन्तर्निहित विभिन्न भावनाओं का विवेचन करते हुए उसके प्रमुख—राष्ट्रीयता—और अप्रमुख उद्देश्यों का स्पष्टीकरण किया है। नायक के प्रश्न पर भी

कई नई दृष्टियों से विचार किया गया है। दोषों को कवित्व, वस्तुविधान, मालविका, राक्षस और चन्द्रगुप्त के चरित्र आदि दृष्टियों से स्पष्ट किया गया है। लेखक ने कई पुरानी मान्यताओं का निराकरण करते हुए प्रायः सभी प्रमुख दोष सामने रक्खे है। चिन्तामणि से सम्बन्धित यहाँ तीन प्रश्न उठाए गए हैं—निबन्धों का वर्गीकरण, गद्य-शैली और इसमें व्यक्त विचारधारा। वर्गीकरण के प्रश्न के मूल से शुक्ल जी के लिखने का उद्देश्य सम्बद्ध है, इसी कारण यह प्रश्न पर्याप्त महत्वपूर्ण है। इसीलिए इस प्रश्न पर यहाँ बहुत विस्तार से विचार किया गया है। चिन्तामणि की गद्य-शैली पर लिखा गया निबन्ध बहुत विस्तृत है। इसमें उनके विभिन्न प्रकार के प्रयोग तथा शैलियों का सूक्ष्म और सोदाहरण विवेचन किया गया है। किसी की गद्य शैली का अध्ययन किन-किन कसौटियों पर होना चाहिए इस निबन्ध में इसके लिए भी पर्याप्त संकेत हैं।

चिन्तामणि में व्यक्त शुक्ल जी की समाज सम्बन्धी विचारधारा पर डा० रामविलास शर्मा तथा कुछ और लोगों ने यत्रतत्र विचार किया हैं, पर यहाँ उसे समग्ररूपेण लिया गया है और निरपेक्ष दृष्टिकोण से उनकी पूरी विचारधारा के पुनर्निर्माण का यह प्रथम मौलिक प्रयास है।

श्री इलाचंद्र जोशी के बहु प्रशंसित उपन्यास 'संन्यासी' का 'उद्देश्य' की दृष्टि से यहाँ सविस्तर विचार किया गया है और 'मुक्तिपथ' से कड़ी जोड़ते हुए उस पर प्रकाश डाला गया है, प्रासंगिक रूप से उसके कला-विषयक दोषों की ओर भी अंगुलिनिर्देश हुआ है। इसी प्रकार श्री वृन्दावनलाल वर्मा के सुप्रसिद्ध उपन्यास 'मृगनयनी' के उद्देश्य पर भी विचार किया गया है। इसके पूर्व डा० सत्येन्द्र तथा कुछ और लोगों ने संक्षेप में इसके उद्देश्य पर प्रकाश डाला था पर कला-कर्त्तव्य के प्रश्न पर लेखक पूर्ववर्ती लेखकों से अपना मत-वैभिन्य प्रकट करता है, जो निराधार नहीं है। मृगनयनी के गुण-दोष की भी यहाँ सविस्तर विवेचना की गई है जिसमें सब से बड़ी नवीन मान्यता स्थापत्य कला के संबंध में स्थापित की गई है। मेरा भी यह बहुत पहले से मत रहा है कि स्थापत्य

कला को ठीक उसी रूप में ललितकला नहीं माना जा सकता जिस रूप में मूर्ति, चित्र, संगीत या काव्य को माना जाता है। यदि ललित कला का मूल आधार भावाभिव्यक्ति है तो उसमें स्थापत्य कला के लिए प्रायः कोई स्थान नहीं है। स्थापत्य कला भावाभिव्यक्ति यदि कर सकती है तो मूर्ति और चित्र-कला के आधार पर, बिना उनकी सहायता के नहीं।

गुप्त जी की यशोधरा में वैष्णव भावना का विचार करते हुए लेखक ने यह मान्यता सामने रक्खी है कि इसे वैष्णव-भावना न कहकर आधुनिक विचारधारा कहना अधिक संगत है। साथ ही प्रतिपाद्य में वैचारिक असंगति की ओर भी प्रथम बार यहाँ ध्यान दिलाया गया है।

तीसरे प्रकार के निबन्ध विभिन्न साहित्यकारों पर स्वतन्त्र लेख हैं, जिनमें क्रम से तुलसी की समन्वयसाधना, इलाचंद्र जोशी के आधार भूत सिद्धान्त, वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में ऐतिहासिकता, महादेवी की भावधारा, प्रसाद जी की कविता का मर्म, परिमल की भूमिका, निराला-काव्य की विशेषताएँ और वाद, एवं बिहारीलाल से 'इन्टरव्यू' हैं। इनमें पहले निबन्ध को छोड़कर औरों में पर्याप्त मौलिकता है। जोशी जी के सिद्धांत यहाँ प्रथम बार इतने विस्तार से दिए गये हैं। इस निबन्ध की एक विशेषता यह भी है कि लेखक ने अपनी ओर से कम कहा है, अधिकतर बातें व्याख्या के रूप में आई हैं। वर्मा जी के उपन्यासों की ऐतिहासिकता पर विचार करने के लिए लेखक ने कुछ सुस्पष्ट मापमान स्थापित किए हैं और इस कारण इस लेख में सैद्धांतिक और प्रायोगिक दोनों ही दृष्टियों से बहुत सी नई बातें आई हैं।

महादेवी के गद्य-पद्य में लोग विचारधारा का अन्तर मानते हैं, साथ ही उन्हें पलायनवादी कहते हैं। लेखक ने युक्तियुक्त तर्कों के आधार पर इसका खंडन करते हुए उनकी भावधारा एवं उनके ब्रह्म आदि को स्पष्ट किया है।

परिमल की भूमिका की कुछ बातें इसके पूर्व भी कही जा चुकी हैं पर यहाँ कुछ नई भी हैं। लेखक ने उनके सिद्धांतों के साथ उन्हीं के

उदाहरण देकर ताल-मेल बैठाने का अच्छा प्रयास किया है। निराला की विशेताएँ तथा वाद में कुछ आलोचक अपने-अपने प्रश्नों के साथ उनके पास पहुँचते है और उनकी निराली शैली में अपना-अपना समाधान पाते हैं। यह निबन्ध शैली तथा निराला के मूलभूत स्वच्छंद सिद्धांत, दोनों ही दृष्टियों से सुन्दर बन पड़ा है। यहाँ पहली बार यह स्थापित किया गया हैं कि वे स्वच्छन्द कवि हैं, स्वच्छंदतावादी या छायावादी नहीं! उन्हें प्रायः आलोचकों ने छायावादी मानते हुए स्वच्छन्दतावादी कहा है, जिसका कोई अर्थ नहीं है।

बिहारीलाल से इन्टरव्यू में भी प्रायः ऐसी ही शैली है। इसमें बड़े मनोरंजक ढंग से उनकी कला, सौन्दर्यानुभूति, चयनवृत्ति, औचित्य एवं ध्वनिवादिता आदि का स्पष्टीकरण है। उनके काव्य तथा जीवन के प्रति आदर्श विषयक सारे दोहे भी इस में दिए गए हैं जिनसे बिहारी के व्यक्तित्व तथा आलोचनादर्श को समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

'प्रसाद की कविता का मर्म' शीर्षक लेख संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित है और इससे निस्सन्देह उनकी कविता का मर्म सामने आ जाता है।

'मीराँ का गीतिकाव्य' शीर्षक निबन्ध में उनके मनोभावों की पृष्ठ-भूमि और उसका विकास देते हुए गीति-काव्य की प्रत्येक बात सोदा-हरण स्पष्ट की गई है, साथ ही सूर से तुलना भी है। इसके पूर्व आलोचकों ने मीराँ के गीति-काव्य की तारीफ़ तो की है पर उसका सांगोपांग विवेचन किसी ने नहीं किया है।

अंत में मैं यही कहना चाहता हूँ कि लेखक ने प्रायः सभी प्रश्नों पर पर्याप्त हराई से विचार किया है और उनके सम्बन्ध में अपने चिंतन और मनन के आधार पर पर्याप्त सामग्री दी है—जिसका अधिकांश नया है। आलोचक में अपनी कसौटी का कोई दुराग्रह न हो और वह अपने बने-बनाये ढाँचे में कृति या कृतिकार को न रखकर उसकी रचना के आधार पर कसौटी का निर्माण करे और उस आधार पर उसकी परीक्षा करे तो वह अधिक न्याय कर सकता है। सत्यपाल जी ने

निश्चय ही इसका ध्यान रक्खा है। पुस्तक में कुछ ऐसे भी लेख हैं, जिनमे सामग्री पुरानी है पर इनमें भी यत्र-तत्र बिखरी सामग्री को एक सूत्र में क्रम-बद्ध रूप से पिरोने का प्रयास है। गिनाने की पद्धति गंभीर विवेचन के लिए प्रायः ठीक नही मानी जाती पर स्पष्टता की दृष्टि से उसकी उपयोगिता को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पुस्तक की कुछ खटकने वाली बातों की ओर भी संकेत किया जा सकता है। कुछ निबन्धों में बातें केवल सूत्र रूप में (जैसे 'तुलसी की समन्वय-साधना') कही गई हैं। शायद विस्तार के भय से लेखक को ऐसा करना पड़ा है। कुछ निबन्धों में सुसंगठित निबन्धन की कमी भी खटकती है, जिसके कारण प्रभविष्णुता को भी कहीं-कहीं धक्का लगा है। प्रूफ़ की भूलें—विशेषतः विराम चिह्नों की—कहीं-कहीं खटकने वाली हैं। किन्तु ये छोटे-मोटे दोष नगण्य से हैं। विद्यार्थी तो इसे पढ़ेंगे ही, मैं अध्यापकों और इन विषयों में रुचि रखने वाले विद्वानों से भी इसे पढ़ने का अनुरोध करूँगा।

दिल्ली
७ मार्च, १९५९

डॉ० भोलानाथ तिवारी

विषय-क्रम

————

१. तुलसीदास की समन्वय साधना

तुलसीदास का बहुमुखी व्यक्तित्व भक्त, कवि, धर्म-संस्थापक लोक-नायक आदि विभिन्न रूपों में एकत्र एकसाथ व्यक्त हुआ। यह सब उनकी महती समन्वयसाधना का परिणाम था।

तुलसीदास भक्तिकाल के प्रतिनिधि कवि थे। प्रतिनिधि कवि वही हो सकता है जो अपने युग की धड़कन को पहचान सके, नब्ज़ को टटोल सके और परिणाम स्वरूप उपयुक्त निदान दे सके—युगीन समस्त संवेदनाओं को मुखरित कर सके तथा गति-प्रगति को अभिव्यक्त कर अनुकूल समाधान दे सके। प्रतिनिधि कवि जन-विशेष का न होकर जनता का, वर्ग का न होकर समाज का होता है। ऐसा कवि वाद-विशेष के सीमित संकुचित क्षेत्र का साधक न होकर समन्वय की साधना करता है—विभिन्न विरोधों में सामंजस्य स्थापित करता है। विशाल भारत के प्रतिनिधित्व करने वाले साहित्यकार के लिए यह और भी आवश्यक हो जाता है क्योंकि उसे भिन्न मतावलम्बियों की परस्पर विरोधिनी प्रवृत्तियों में समत्व स्थापित करना होता है।

भारतीय संस्कृति सदैव उदार रही है। श्री क्षितिमोहन सेन के अनुसार "भारत में भगवान ने वैचित्र्य ही को चुना है। इसीलिए यहां किसी प्रबल सभ्यता या संस्कृति ने अपेक्षाकृत दुर्बल अन्य सभ्यता या संस्कृति को नष्ट नहीं किया। सभी पास-पास बन्धु भाव से निवास करती आई हैं। विभिन्नता होने ही से विद्वेष-बुद्धि क्यों होनी चाहिए ? यहा तो भगवान ने चाही है सकल संस्कृतियों के मध्य समन्वय साधना। जगत् में और कहीं भी इस प्रकार की बात नहीं देखी जाती। वहा एक धर्म या संस्कृति ने दूसरे सब दुर्बल धर्मों और संस्कृतियों को मारकर समस्या को सरल बना दिया है। वह सरल पथ भारत का नही है।" अतएव ऐसे

व्यक्ति जो भेद-विभेद, विच्छेद और विद्वेष के बीच में प्रीति और ममत्व का योग-सेतु निर्माण कर पायें वे ही हमारे महापुरुष हुए। इस तथ्य के अनुसार भारत के प्रतिनिधि लेखकों का साहित्य भी समन्वयात्मक रहा है। तुलसीदास के "पूर्ववर्त्ती साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया है कि समन्वय की भावना केवल तुलसीदास जी की ही विशेपता न थी, वरन् वह भारतीय साहित्य में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक ओत-प्रोत है।" *

तुलसीदास को अपने परम्परागत साहित्य के अध्ययन से तो समन्वय साधना के तत्व अवश्य मिले ही होंगे, साथ ही भक्ति युग की सामयिक परिस्थितियां भी ऐसे प्रतिनिधि कवि का आह्वान कर रही थीं जो विभिन्न विरोधों में सामंजस्य स्थापित कर सकता। यदि उस समय की परिस्थितियों का निरीक्षण-परीक्षण किया जाए तो यह स्पष्ट होता है कि भारतवर्ष मुसलमानों द्वारा अधिकृत हो चुका था। बहुत थोड़े हिन्दू सामन्तों को छोड़ कर अन्य सभी मुसलमानों के आगे सिर झुका चुके थे। शक्तिशाली से सम्बंध बढ़ा कर पद-लालसा की मानव-सुलभ दुर्बलता तथा मुसलमानों के ज़ोर-ज़ुल्म से हिन्दू मुसलमान हो रहे थे। नाना प्रकार के मुस्लिम पीर-फकीर (जैसे सूफ़ी) हिन्दुओं में इस्लाम का प्रचार भी कर रहे थे। ऐसी अवस्था में संगठित हिन्दूशक्ति ही इसका सामना कर सकती थी, केवल तभी हिन्दूजाति का अस्तित्व अटल बन सकता था। किन्तु हिन्दूजाति का संगठन शिथिल हो चुका था। वर्णाश्रम धर्म लुप्त हो रहा था। ब्राह्मण अपने मान से वंचित हो रहे थे। जनता नाना पंथों में 'कलप' रही थी। उलझन के कारण 'कहां जाई का करी' की स्थिति बनी हुई थी। शैव-वैष्णव, निर्गुण-सगुण, ज्ञान-भक्ति के विवाद विभेदों की सृष्टि कर रहे थे। संगठन का आधार

---

*देखिए गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना (प्रथम भाग पृ० २)
—ब्यौहार राजेन्द्रसिंह

समान मान-चिन्हों के प्रति श्रद्धा भी होती है किन्तु उस समय वेदों की ही निन्दा होने लगी थी—'साखी, सबदी, दोहरा' कहने वाले कबीर (संतमार्गी) तथा 'किहनी आख्यान' (कहानी उपाख्यान) कहने वाले जायसी (सूफी,प्रेममार्गी) 'वेद-पुराण' की निन्दा में रत थे। धार्मिक पाखंड तथा बाह्याडम्बरों का बाहुल्य हो रहा था। आर्थिक स्थिति भी शोचनीय थी—किसान को खेती तथा भिखारी को भीख नहीं मिल रही थी। प्रजा हर दृष्टि से पीड़ित थी। ये सब लक्षण कलियुग के थे जिसके प्रकोप से प्रजा को छुड़ाना आवश्यक था।

कबीर आदि संत मानववादी भावनाओं से प्रेरित होकर आध्यात्मिक आधार पर हिन्दू-मुस्लिम एकता का, दोनों जातियों के पारस्परिक व्यवहार में उदारता लाने का प्रयास कर रहे थे। निम्न वर्ग की जनता के लिए वे वरदान सिद्ध हुए थे। उनमें आत्मनिर्भरता, आत्मविश्वास बढ़ रहा था। परिणामतः निम्न वर्गीय उच्चवर्गो (ब्राह्मण आदि) को चुनौती देने लगे थे। मानवता, आचार आदि की दृष्टि से उपर्युक्त मार्ग उचित था किन्तु इससे तो हिन्दू जाति का संगठन और भी शिथिल हो रहा था, पारस्परिक विभेद ही बढ़ रहे थे। कबीर का अक्खड़-फक्कड़ निर्भीक-सशक्त व्यक्तित्व अवश्य ही खरी-खड़ी शैली में क्रान्तिकारी बात कहता था, निम्न जातियों के साहस का सम्बल था, किन्तु उच्चवर्गीय विपक्षियों को तथा विरोधों को उतना ही उत्तेजित भी करता था। मानवता की दृष्टि से यह कार्य स्तुत्य था किन्तु जातीय संगठन की सामयिक मांग के यह विरुद्ध था। वस्तुतः कबीर का दृष्टिकोण मानववादी था, तुलसी का राष्ट्रवादी। कबीर की समन्वय साधना उनकी मानवता में है, तुलसीदास की समन्वय साधना की सिद्धि जातीय संगठन की दृढ़ता में। कबीर का लक्ष्य था सुधार का, निरपेक्ष सत्य की स्थापना का, किन्तु तुलसी का ध्येय था निर्माण का, निरपेक्ष के साथ सापेक्ष सत्य के संयोजन का। उन्हे हिन्दू जाति के पारस्परिक भेदों तथा नाना पंथों को समाप्त करते हुए संस्कृति के स्तम्भों तथा जाति के

सामान्य मानचिन्हों वेद-पुराणों के प्रति श्रद्धा स्थिर करते हुए, वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था के साथ जाति को ऐसी प्रबल शक्ति के रूप में प्रस्तुत करना था जो इस्लाम का सामना करने में समर्थ हो सकती। इसलिए तुलसी ने संत मार्गियों के साथ 'किहनी आख्यान' कहने वाले, वेदनिंदक उन जायसी आदि सूफियों का भी परोक्षात्मक विरोध किया है जो सांकेतिक विधि से इस्लाम के प्रचार-प्रसार में संलग्न थे। फिर भी तुलसीदास की समन्वय साधना अधूरी रह जाती यदि वह निम्न जातियों के लिए आदर्श राम राज्य की व्यवस्था न करते, शील पर विशेष बल देकर, उसका राम-कथा के रूप में असामान्य उत्कर्ष दिखाकर, पाखंड-खंडन न करते। यह भी स्पष्ट है कि उन्हें अपनी इस समन्वय साधना जन्य जातीय संगठन की सफलता की लक्ष्य-सिद्धि के हेतु कबीर की स्पष्ट-प्रखर शैली के स्थान पर अधिक मनोवैज्ञानिक, अधिक सांकेतिक शैली से काम लेना था। मात्र समन्वयात्मक आदर्शों के कथन अथवा सिद्धांतों के खंडन-मंडन से वह प्रभाव नहीं पड़ सकता जो इनको पमाणित करने वाली कथा का आधार लेकर हो सकता था। किसी को विधि-निषेधात्मक वचनों—'ऐसा करो' 'ऐसा न करो' आदि—से समझाना अमनोवैज्ञानिक हैं किन्तु आदर्श चरित्रों वाली कथा के यथार्थ कथन से अनुकरणात्मक प्रवृत्ति जागृत की जा सकती है। तुलसी ने राम कथा के माध्यम से उक्त लक्ष्य को सिद्ध किया।

रामानंद ने हिंदी साहित्य को कबीर और तुलसीदास दोनों भिन्न-भिन्न मतावलम्बी दिये। इसका कारण यही है कि उनका अपना व्यक्तित्व भी समन्वयशील था। तुलसीदास को रामानंद के इस समम्वयशील व्यक्तित्व से भी प्रेरणा मिली होगी।

तुलसीदास को परम्परा तथा समय से समन्वयात्मक प्रवृत्ति के लिए प्रेरणा तो मिली ही उनके व्यकितत्व ने भी इसमें योग दिया। तुलसी दास विविध सामाजिक स्तरों में जीवन व्यतीत कर चुके थे। ब्राह्मण वंश में उनके जन्म तथा दरिद्रता के कारण दर-दर भटकने में वे विभिन्न

सामाजिक-धार्मिक प्रवृत्तियों के लोगों के सम्पर्क में आए। उन्होंने गार्हस्थ्य की चरम आसक्ति का अनुभव भी किया और उसी शक्ति का ऊर्ध्व साधना में उपयोग भी हुआ। साक्षात अनुभवों के साथ अपार ग्रन्थज-ज्ञान ने भी उनके दृष्टिकोण को व्यापक बनाया। समन्वय साधना के प्रेरणा तथा निर्मायक पक्ष पर प्रकाश डालने के पश्चात अब हम इसके स्वरूप का विश्लेषण करेंगे।

१. विभिन्न ग्रन्थों का सार-विचार

तुलसीदास का 'मानस' केवल कवि-प्रेरणा का परिणाम नहीं, वरन् वह एक महाकवि के गम्भीर अध्ययन-चिंतन का सुफल है। तुलसी ने 'मानस' का 'नाना पुराण निगमागम सम्मतं' होना स्वीकार किया है। वाल्मीकि रामायण, महारामायण, आध्यात्मरामायण, संस्कृत के नाटकों—'प्रसन्नराघव' 'हनुमन्नाटक' 'रघुवंश' आदि का ही नहीं, प्राकृत अपभ्रन्श के विपुल राम-साहित्य—विशेषरूप से स्वयंभूदेव (७६० ई०) की रामायण—का अवगाहन कर के तुलसी ने अपने समय के उपयुक्त मौलिक प्रतिभा का उपयोग करते हुए 'मानस' की रचना की। अतैव तुलसीदास राम-कथा की एक लम्बी विराट परम्परा के उज्ज्वल रत्न बन कर उपस्थित हुए। उन्होंने इस परम्परा के पूर्ववर्ती जाज्वल्यमान चारणों की भी वन्दना की है—

ब्यास आदि कवि पुंगव नाना।
जिन्ह सादर हरिचरित बखाना॥
चरन कमल बंदउँ तिन्ह केरे।
पुरवहु सकल मनोरथ मेरे॥
कलि के कविन्ह करउँ परनामा।
जिन्ह बरने रघुपति-गुन ग्रामा॥
जे प्राकृत कवि परम सयाने।
भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने॥

२. लोक-शास्त्र का समन्वय

लोक और शास्त्र दोनों का समन्वय कर के तुलसी ने धर्म को व्यवहारोपयोगी बना दिया। उनके ग्रन्थों के अध्ययन से लोक व्यवहार के सूक्ष्म तथा शास्त्र के गम्भीर अध्ययन का प्रमाण मिलता है।

३. शास्त्र+विवेक

तुलसीदास ने मात्र परम्पराबद्ध विश्वासों को प्रोत्साहन नहीं दिया, विवेक दृष्टि द्वारा संतुलित दृष्टि के निर्माण का प्रयास किया है। अपने भक्ति-पथ की व्याख्या में वह कहते हैं—

श्रुति सम्मत हरि-भक्ति पथ, संयुत विरति विवेक

इस दृष्टि से कबीर से उन की तुलना की जा सकती है जो विवेक को ही अपना गुरु बताते हैं—

कहै कबीर मैं सो गुरु पाया जा का नाउँ विवेक।

तुलसीदास अगली ही पंक्ति में उन लोगों को सचेत करते हैं जो मोहवश, अज्ञान वश या अपने ज्ञान के अहंकार में कल्पित पंथों का निर्माण कर उस पर चलते हैं और नाना पंथों को जन्म देकर समाज में उच्छृखंलता फैलाते हैं—

तेहि न चलहिं नर मोह बस, कलपहिं पंथ अनेक। (मानस)

४. इष्ट देव के स्वरूप में समन्वय

(क) निर्गुण+सगुण—तुलसी के इष्ट देव हैं राम। यही उनकी भक्ति का केन्द्र हैं। कबीर ने भी राम का नाम लिया है किन्तु अवतारी पुरुष तथा सगुण-साकार न होने की स्पष्ट घोषणा भी की है—

१. दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना,
　　राम नाम का मरम है आना।

२. जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप,
　　पुहुप वास ते पातरा ऐसा तत्व अनूप।

तुलसीदास अपनी समन्वय साधना के अनुरूप निर्गुण-सगुण के झगड़े को समाप्त करना चाहते थे, साथ ही उन दोनों का रहस्य भी जानते थे। इसलिए दोनों मतावलम्बियों के लिए समतुल्य महत्व की बात कह सके हैं। तुलसी उपनिषदों के स्वर में कहते हैं—

सगुन अगुन दोउ ब्रह्म सरूपा।

तथा

सगुनहि अगुनहिं नहि कछु भेदा।

वेदों के अनुसार वह कहते हैं—

कहि नित नेति निरूपहिं वेदा, निजानंद निरुपाधि अनूपा,

किन्तु जो ब्रह्म अनुभवगम्य, अवर्णनातीत तथा निरुपाधि ब्रह्म है वही निगुर्ण ब्रह्म भी 'भगत भूमि भूसुर सुरभि' के लिए 'मनुज तनु' धारण करता है—देवता, भक्त, पृथ्वी तथा गो-ब्राह्मण के लिए सगुण हो मानव शरीर धारण करता है। शिव पार्वती से भी यही कहते हैं कि जिसका आदि-अंत अज्ञात है, फिर भी अनुमान कर के उसके विषय में वेद तथा बुद्धिमान कहते हैं—

बिनु पद चलै, सुनै बिनु काना, कर बिनु करम करै विधि नाना।

वही भक्तों के लिए 'दशरथ सुत' हुआ। सारतः घट-घट में विद्यमान निर्गुण-निराकार राम समाज-हित की दृष्टि से, प्रेमाधीन होकर सगुण-साकार अवतारी पुरुष बन जाते हैं—

व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन विगद विनोद।
सो अज प्रेम-भगति-बस, कौसल्या के गोद॥

तुलसीदास ज्ञानलभ्य निगुर्णोपासना तथा जन-सुलभ सगुणोपासना के समन्वय में विशेष सामाजिक भावना से प्रेरित हुए हैं। राम का निर्गुण रूप निरपेक्ष सत्य है किंतु सगुण रूप सापेक्ष है—उसे समाज के हित के लिए, धर्म की रक्षा तथा अधर्म के विनाश के लिए अवतार लेना पड़ता है।

निम्न पंक्तियों में तुलसी ने गीता के स्वर में कहा है—

जब जब होइ धरम कै हानी।
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
... ...
तब-तब प्रभु धरि विविध सरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

(ख) राम + अन्य अवतार—तुलसीदास राम के अनन्य भक्त थे। तुलसी ने विनयपत्रिका में कहा भी है कि राम को छोड़कर यदि वह किसी और का नाम लें तो उनकी जिह्वा गल जाय। पर तुलसी की अनन्यता अनुदार नहीं, संकुचित नहीं, अनन्यता के साथ उनमें अद्‌भुत उदारता है। उनके ग्रन्थों में राम और विष्णु का अनेक स्थानों पर तादात्म्य प्रमाणित हुआ है। राम के लिए हरि शब्द का प्रयोग, मानस के प्रारम्भ में उनके धाम को क्षीरसागर और वैकुण्ठ बताना, तथा अन्यत्र रूप सौन्दर्य के वर्णन में उनके वक्षस्थल पर 'विप्रचरण-चिह्न' का वर्णन आदि राम-विष्णु-तादात्म्य के परिचायक हैं। राम और विष्णु में ही नहीं, अन्य विविध अवतारों मे भी कोई भेद नहीं। विष्णु के विविध अवतार भी राम के स्वरूप माने गए है—

दीन बन्धु दयाल रघुराया। देव कीन्हि देवन्ह पर दाया॥
... ...
मीन कमठ सूकर नर-हरी। वामन परसुराम बपु धरी॥
जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायेउ। नाना तनुधरि तुम्हहि नसाबेउ॥

विनय पत्रिका के प्रारम्भ में अवतारों की वन्दना की गई है और उनसे रामभक्ति ही मांगी गई है। उन की धार्मिक उदारता मात्र आदर्श बन कर ही न रह गई। 'पार्वती मंगल' और 'श्रीकृष्ण गीतावली' की रचना करके उसको व्यावहारिक रूप भी दे दिया गया। ये दोनों रचनाएं क्रमश: शिव-पार्वती तथा कृष्ण पर लिखी गई हैं। तुलसीदास ने शब्द के वास्तविक अर्थ में अपने उदार

हृदय में सीता-राम को प्रतिष्ठित कर 'सारे जगत को सियाराममय' जाना था। सच्ची एकनिष्ठता-अनन्यता में एक ऐसी शक्ति का संचार हो जाता है कि वह सीमित रह ही नही पाती, सर्वव्यापी बन जाती है। वास्तविक अनन्य भक्त वही है जो अपने आराध्य को सब में देखा करे और सब इसी नाते से उसके अपने हो जायँ। तुलसीदास की अनन्यता इसी कोटि की थी। अतएव जो 'निज प्रभुमय देखहिं जगत' वह 'का सन करहि विरोध ?' तुलसीदास ने स्वयं राम के मुख से भी कहलवाया है—

सो अनन्य जाके असि मति न टरे हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत॥

(ग) शैव + वैष्णव—इष्टदेव के स्वरूप में इस अनन्य उदारता ने लोक संग्रह या सामाजिक संगठन को दृढ़ किया। शैव-वैष्णव परस्पर लड़ रहे थे और तुलसीदास इस ओर विशेष सजग थे। अतैव उन्होंने रामचरित मानस में शिव को रामकथा के आदि वक्ता तथा राम-भक्त के रूप में चित्रित किया। साथ ही राम को शिव का उपासक दिखाया। यही नहीं उन्होंने राम के मुख से कहलवाया है—

शिवद्रोही मम दास कहावै। सो नर सपनेहु मोहि न पावै।

राम के निम्न साभिप्राय वचनों से वैष्णवों का मार्ग निर्देशन भली भाँति हो जाता है—

कोउ नहिं शिव समान प्रिय मोरे, असि परतीति तजहु जनि भोरे।
जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी, सो न पाव मुनि भगति हमारी॥
(मानस)

शिव-राम की अन्योन्याश्रय सम्बन्ध-भावनासे लोक में भी शैव-वैष्णव की सम्बन्ध भावना दृढ़ हुई।

घ. नर + नारायण—तुलसी ने राम के मानवीय और दैवी, दोनों रूप प्रस्तुत किए हैं। मानवीय रूप में निरूपण काव्य के लिए

आवश्यक था—समाज का साधारणीकरण एक सुख-दुख के सम्भोक्ता संवेदनशील मानव से ही हो सकता है। किसी लोकोत्तर कृत्य पर तो मात्र औत्सुक्य-आश्चर्य जन्य श्रद्धा ही की जा सकती है। सीता-वियोग तथा लक्ष्मण को शक्ति लगने के अवसर पर राम का मार्मिक विलाप इसलिए मार्मिक है क्योंकि वह एक पत्नी-निष्ठ तथा प्रिय भ्राता का विलाप है किसी अलौकिक अवतारी पुरुष का नहीं। लौकिक पुरुष के लोकोत्तर कार्यों द्वारा ही समाज में शील का सम्प्रेषण हो सकता है। इस मानवीय रूप के साथ स्थान स्थान पर राम के ईश्वरत्व का प्रतिपादन तुलसी के आदर्श के लिए आवश्यक था। वाल्मीकि के राम महापुरुष थे, किन्तु तुलसी के राम इस के आगे परब्रह्म भी हैं; इसका कारण यह है कि राम का चित्रण, चरित्राकन के लिए ही नही हुआ, अपितु आदर्श प्रतिष्ठा, विशेष रूप से भक्तों के लिए भगवान या दिव्यालम्बन के रूप मे भी हुआ है। रामचरित मानस भक्ति ग्रन्थ है अतैव नायक का उक्त रूप में चित्रण स्वाभाविक था। ऐसा होने पर भी यह उल्लेखनीय है कि राम के दिव्य रूप के साथ उस के मानवीय रूप का ऐसा समन्वय हुआ है कि समाज को संवेदित करने के, उच्च लक्ष्यों की ओर उन्मुख करने के कवि उद्देश्य में कम से कम बाधा उपस्थित होती है। राम की दिव्यता हमें अपनी लघुता में ही लीन रहने, 'वह भगवान हैं और हम मानव है' के असमर्थ आत्मसंतोष में ही मग्न रहने की प्रेरणा नहीं देती वरन हमारी ग्रहण-शक्ति को उद्बुद्ध कर आंतरिक सत्व को स्फुरित करती है, उच्चाकांक्षाओं को उत्तेजित करती है।

(ङ) शक्ति+शील+सौन्दर्य—मनुष्य के पूर्ण विकास के लिए जिन गुणों की अपेक्षा होती है उनका चरम विकास राम में मिलता है। वे गुण हैं—शक्ति शील, और सौन्दर्य। रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—

"राम में सौंदर्य, शक्ति और शील तीनों की चरम अभिव्यक्ति एक साथ समन्वित होकर मनुष्य के सम्पूर्ण हृदय को—उसके किसी एक ही अंश को नहीं—आकर्षित कर लेती है। कोरी साधुता-का उपदेश पाखंड है, कोरी वीरता का उपदेश उद्दण्डता है, कोरे ज्ञान का उपदेश आलस्य है और कोरी चतुराई का उपदेश धूर्तता है।"

—रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि भाग २ (पृ० २०१)

राम का भुवन- मोहन, मार-मदमोचन या कंदर्प अगणित, अमित छवि, नवनील नीरज सुन्दरं वाला रूप अनेक स्थानों पर स्पष्ट होता है। अतैव राम के सौन्दर्य को देखते ही 'मानस' के सभी पात्र—विश्वामित्र जैसे मुनि, खर-दूषण जैसे राक्षस—मोहित हो जाते हैं। राम 'लोक-लोचन-सुख दाता' हैं—मित्र शत्रु सभी उनके रूप पर मुग्ध होते दिखाए गए हैं।

रूप के साथ राम के गुण-स्वभाव, शील-सदाचार में भी उतना ही आकर्षण है। तुलसीदास पूर्ण मर्यादावादी थे, और राम तो मर्यादा पुरुषोत्तम प्रसिद्ध ही हैं। तुलसी ने ऐसा कोई स्थल नहीं लिया जो उनके कार्य पर किसी प्रकार की भी शंका उपस्थित कर दें; वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड, सीता-त्याग वाले अध्याय को भी वह न ले सके। राम को उन्होंने बचपन से शील प्रकृति वाला प्रदर्शित किया है। उनकी मनोवृत्ति सर्वत्र यह रही है—

> सुनि सीतापति सील सुभाऊ।
> मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर खाऊ।

राम का उन्होंने आदर्श पारिवारिक व्यक्ति—पुत्र, भ्राता, पति-आदर्श सामाजिक व्यक्ति, आदर्श राजा आदि सभी रूपों में चित्रण कर अनेक क्षेत्रों में उनके शील का अनुपम उत्कर्ष दिखाया है।

अद्भुत सौन्दर्य तथा प्रभावक स्वभाव के साथ राम को असीम शक्ति भी प्राप्त हुई। बचपन से ही शास्त्रके साथ शस्त्र विद्या पर

भी उन्होंने पूरा ध्यान दिया था। राम ने अपनी शक्ति का प्रयोग, शीलवान के समान, सदैव मर्यादा-रक्षा तथा लोक-रक्षा के लिए किया, राक्षसां के वर्द्धमान अत्याचारों को देखकर उन्होंने प्रतिज्ञा की थी—

निशिचर हीन करौं मही, भुज उठाइ प्रन कीन्ह,

इस प्रतिज्ञा को अन्त में उन्होंने पूरा किया। 'काव्य मे लोक मंगल की साधनावस्था' या 'प्रयत्न पक्ष' को लेकर चलने वाले काव्यों में ऐसे दृढ़-प्रतिज्ञ, साहस-शौर्य-सम्पन्न नायक की आवश्यकता रहती है। और राम इसके सजग प्रमाण हैं।

(च) कुसुमादपि कोमल+वज्रादपि कठोर। राम के व्यक्तित्व में चरम विरोधी गुणों का समन्वय अति भव्य है। सीता के वियोग में 'घन घमण्ड नभ गरजत घोरा, प्रिया हीन डरपत मन मोरा' कहने वाले राम रावण से युद्ध के समय वज्र-कठोर सिद्ध होते हैं।

(छ) लोक रंजक+लोक रक्षक—सौंदर्य, शील तथा शक्ति के गुणों के प्रदर्शन में राम में लोकरंजक तथा लोकरक्षक सभी गुणों का समावेश हो गया है। सूर ने कृष्ण के केवल लोक रंजक स्वरूप को ही लिया था क्योंकि उनका काव्य लोक-मंगल के उपभोग पक्ष को लेकर ही चला था। अतएव कृष्ण के लोकरंजनकारी अपार सौंदर्य सागर में ही वह मग्न हो सके थे; शक्ति-शील आदि लोक रक्षणकारी गुणों की ओर उनकी दृष्टि नहीं थी।

५. साधन में समन्वय

(क) सभी मार्ग केशव की ओर—तुलसीदास की यह उदार विशेषता है कि वे अपना निश्चित-अनन्य मत रखते हुए भी मूलबात को समझते हैं। कोई संकीर्ण मनोवृत्ति वाला यह कभी न लिख सकता कि अपने इष्टदेव तक पहुंचने के लिए जिसकी जिस मार्ग में प्रेम-निष्ठा है, उसका काम उसीसे चल सकता है। यथा—

प्रीति-प्रतीति जहं जाकी तहं ताको काज सरो

किन्तु 'मेरे तो माय-बाप दोउ आखर हौं सिसु-अरनि अरो'

(ख) ज्ञान+भक्ति+कर्म— कर्म, उपासना तथा ज्ञान— साधना के विभिन्न वैदिक मत प्रसिद्ध हैं। तुलसी ने इन तीनों को खरा कहा है—

'करम, उपासन, ग्यान, वेदमत सो सब भाँति खरो।'

ज्ञान की मान्यता के कारण वे वेदों का समर्थन करते हैं तथा कर्म-मान्यता के कारण वर्ण व्यवस्था का। फिर भी अपना मत दिये बिना वह नहीं रहते—

'मोहिं तौ सावन के अन्धहि ज्यों सूझत रंग हरो।'

(ग) ज्ञान+भक्ति—तुलसीदास राम के परम-भक्त थे, भक्ति-मार्गी थे, किंतु फिर भी वेद-शास्त्र-प्रतिपादित आध्यात्मिक विचारों से विरोध न होने के कारण ज्ञान-मार्ग की भी निंदा नही करते। यही नहीं उन्होंने ज्ञान की महत्ता को भी स्वीकार किया है। वह ज्ञान और भक्ति दोनों को जीव को संसार के आवागमन से मुक्त करने के साधन रूप में स्वीकार करते हैं। काकभुशुण्डि के शब्दों मे—

भगतिहि ग्यानहिं नहि कछु भेदा,

उभय हरहिं भव-सम्भव खेदा।

किंतु उनके अनुसार भक्ति-पथ ज्ञान की अपेक्षा सुगम है। ज्ञान का पथ तलवार की धार पर चलने के समान कठिन-कठोर—

ज्ञानक पंथ कृपान की धारा

अवश्य ही तुलसीदास ने ज्ञान की अव्यवहार्यता के कारण भक्ति को ठहराया है, वैसे लक्ष्य-सिद्धि में दोनों कृत्कार्य कर सकते हैं। अतएव दोनों में कोई अन्तर नही रहत।। ज्ञान-भक्ति का घनिष्ठ बंधन विनय-पत्रिका की निम्न पंक्ति में खूब व्यक्त हुआ है—

ग्यान-अवधेस गृह गेहिनी भक्ति सुभ तत्र अवतार भूभार-हरता

अर्थात् तुलसीदास कमला-रमण से कहते हैं, जिस प्रकार आपने अवधेश दशरथ की गृहिणी कौशल्या के गर्भ से अवतार लिया उसी प्रकार अब ज्ञान के क्षेत्र में भक्ति के द्वारा प्रकट हों।

(घ) विभिन्न साधन+हरिकृपा—तुलसीदास ने अपनी उपासना-पद्धति में इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि ज्ञानी-भक्त कोई भी अहंकारी न होने पावे। अभिमान की भयंकरता के विषय में तुलसी ने कहा है—

संसृति मूल सूल प्रद नाना।
सकल सोकदायक अभिमाना॥—मानस

इसीलिए तो उन्होंने दास भक्ति को अपनाया। अहंकार को दूर रखने का एक तरीका यह भी है कि सभी साधनों को सत्य मानते हुए भगवत् कृपा को भी आवश्यक माना जाए। जब तक भगवान की कृपा न हो तब तक कोई कार्य सफल नहीं हो सकता—

ग्यान भक्ति साधन अनेक सब सत्य, झूठ कछु नाहीं।
तुलसीदास हरि-कृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मन माहीं।
—विनय पत्रिका

(ङ) शास्त्रानुमोदन+सरलता—तुलसीदास ने इस बात पर सदैव दृष्टि रखी है कि उनका मार्ग वेद-शास्त्र सम्मत होता हुआ भी सरल तथा व्यवहारोपयोगी रहे। एक ओर वह अपने मत को श्रुतिसम्मत बताते हैं और वेद-निंदक को कभी क्षमा नहीं कर सकते—

अतुलित महिमा वेद की तुलसी किए विचार।
जो निंदत निंदित भयो विदित बुद्ध अवतार॥—दोहावली

तथा कलप कलप भरि एक एक नरका।
परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका॥—मानस

दूसरी ओर वह यह भी कह सकते हैं—

छ मत विमत, न पुरान मत, एक मत
नेति नेति नित निगम कहत ।

औरनि की कहा चली ? एकै बात भलै भली
राम-नाम लिये तुलसी हू से तरत ।

अर्थात् छओं शास्त्रों के सिद्धांत एक-दूसरे के भिन्न हैं, अठारहों पुराण भी एकमत नही और वेद ते 'नेति नेति' कह कर ही रह जाते हैं। जब ये सब ब्रह्म का ठीक स्वरूप नहीं बता सकते तब औरों की शक्ति ही क्या। तुलसीदास कहते हैं मेरी समझ में तो एक ही मत ठीक है—रामनाम—जिसको लेकर तुलसी जैसे भी पार हो जाते हैं।

अन्यत्र विनय पत्रिका में भी कहते हैं—

बहु मत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो,
गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहि लागत राज डगरो सो ।

तुलसी ने सरलतम विधि राम-नाम जाप को विशेष महत्व दिया क्योंकि सामान्य जन के लिए वेद-शास्त्र के मत को जानना सहज नहीं। उक्त विचारों से तुलसीदास विद्वानों तथा सामान्य जनता सब पर समान रूप से अपना प्रभाव-विस्तार कर सके।

(च) भक्ति की भूमिकाओं में समन्वय—तुलसीदास की भक्ति प्रेमाभक्ति है। प्रेमाभक्ति में साधक को साध्य के समीप पहुंचाने वाले सात सोपान या भूमिकाएं—दैन्य, मान मर्षता, भय दर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य, विचारणा—मानी गई हैं। तुलसीदास के ग्रंथों में ये सप्त भूमिकाएं मिलती हैं। अवश्य ही दैन्य और आश्वासन का प्राचुर्य है।

(छ) भक्ति+शील—राम-भक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा के लिए प्रत्येक प्रकार की निर्मलता आवश्यक है। शील तथा सदाचार के बिना भक्ति

पाखंड है, इसलिए तुलसीदास ने अपनी भक्ति-रीति की व्याख्या में नीति पथ के अनुगमन को आवश्यक माना है—

'प्रीति राम सों, नीति पथ चलिय, राग रिस जीति ।
तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति ।।'

—दोहावली

तुलसीदास सस्ते बाह्याडम्बरी यज्ञ में विश्वास नही रखते, उनका यज्ञ महंगा है क्योंकि उनके भजन-यज्ञ में सदाचार के सभी गुणों की पूर्ण प्रतिष्ठा है, यथा—

प्रेम-वारि तरपन भलो, घृत सहज सनेह ।
संसय समिधि, अगिनी छमा, ममता बलि देह ।।
अघ उचाटि मन बस करै, मारै मद मार ।
आकरषै सुख संपदा संतोष विचार ।।
जे यहि भाँति भजन किए मिले रघुपति ताहि ।
तुलसीदास प्रभु पथ चढ्यो, जो लेहु निबाहि ।।

इस कठिन यज्ञ के कारण ही तुलसीदास कहते है—

रघुपति भगति करत कठिनाई

वह अपने पर राम-कृपा केवल उस स्थिति में समझ सकते हैं जब उनका मन फिर जाए—विषय-विकारों से दूर हो जाए। एक सच्चे साधक का जैसा चरित्र या संत स्वभाव होना चाहिए वह विनयपत्रिका के निम्न पद से स्पष्ट हो रहा है—

कबहुंक हौं यहि रहनि रहौंगो ।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते संत-सुभाव गहौंगो ।।
जथा लाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो ।
परहित-निरत निरंतर मन क्रम वचन नेमु निबहौंगो ।।

परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान, सम सीतल मन, पर गुन नहिं दोष कहौंगो॥
परिहरि देह जनित चिंता, दुख सुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसीदास प्रभु यहि पथ रहि अविरल हरि भगति लहौंगो॥

तुलसीदास ने भक्ति और शील को अन्योन्याश्रित कर के दिखाया है। अतैव यदि शील के बिना भक्ति पाखंड है तो भक्ति के बिना शील स्थिर नहीं रह सकता। तुलसीदास की विनयपत्रिका की निम्न पंक्तियां उक्त तथ्य की परिचायक हैं—

सूर सुजान सपूत सुलच्छन गनियत गुन गुरुआई।
बिनु हरि भजन इनारुन के फल तजत नही करुआई॥
अथवा
कीरति, कुल करतूति भूति भली सील सुरूप सलोने।
... ... जस सालन साग अलोने॥

६. दार्शनिक समन्वय

विभिन्न विद्वान अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार तुलसीदास को अद्वैतवादी, द्वैतवादी तथा विशिष्टाद्वैतवादी समझते है। इसका कारण यह है कि इन सभी दर्शनो के सार-विचार तुलसी-साहित्य में उपलब्ध हो जाते है। विनयपत्रिका के निम्न प्रसिद्ध दार्शनिक पद में तुलसीदास ने उक्त तीनों दृष्टिकोणों का उल्लेख करते हुए स्वमत को व्यक्त किया है—

कोऊ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोऊ मानै।
तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै॥

अर्थात् अद्वैतवादी इस संसार को मिथ्या, विशिष्टाद्वैत तथा द्वैतवादी सत्य, तथा द्वैताद्वैतवादी सत्य-असत्य दोनों मानते है। परन्तु तुलसीदास इन सिद्धांतों को भ्रम समझते हुए कहते हैं कि जो राम की शरण में जाएगा वही आत्मज्ञानी होगा।

७. वैराग्य+गार्हस्थ्य

तुलसीदास ने अपने काल में उन अनेक व्यक्तियों को देखा था जो आलस्य के कारण साधु-सन्यासी बने हुए थे या नारी के मरने या घर-सम्पति के नष्ट होने पर मूँड़ मुंड़ा कर सन्यासी हो गए थे। उनका यह साधुवेश पलायन-प्रवृत्ति का परिचायक और तामसिक वैराग्य था, किसी आंतरिक सत्व की उद्‌बुद्धि का स्वरूप नहीं। तुलसीदास ऐसे वैराग्य के विरोधी थे। उनके एक साथ अनुरागी-विरागी पात्र है राजा जनक। यही उनके आदर्श हैं। तुलसीदास वेश से नहीं मन से वैराग्य के समर्थक है। वैसे रामचरितमानस के भक्त पात्रों के आदर्शों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने न गृहत्याग और न गृहासक्ति को आवश्यक बताया है। तुलसीदास स्पष्ट लिखते हैं कि साधक घर या कानन में कहीं रहें, कोई अंतर नहीं, किंतु विषय-विमुखता आवश्यक है—

> जो जन रूखे विषय रस चिकने राम सनेह।
> तुलसी ते प्रिय राम के कानन बसहिं कि गेह ॥ —दोहावली

८. उच्चवर्ग+निम्नवर्ग

कबीर का काव्य निम्नवर्ग का सशक्त सम्बल था और उच्चवर्ग की, ब्राह्मणों आदि की, उसने अच्छी खबर ली थी। कबीर के विपरीत तुलसीदास ने वर्णाश्रम धर्म की स्थापना की, ब्राह्मणों को पूज्य ठहराया। तुलसी ने समाज में चल रहे निम्न-वर्गीय ब्राह्मण-विरोधी आन्दोलन पर आघात किया। इसका कारण यह था कि उन को भारतीय संगठन को दृढ़ कर के इस्लाम के विरोध में खड़ा करना था। इसलिए समाज की व्यवस्था तथा संगठन को स्थिर रखने के लिए उन्होंने वर्णाश्रम धर्म का तो समर्थन किया किंतु समाज को खोखला करने वाले विकासमान भीतरी शत्रु बहुपंथवाद का खूब विरोध किया। यहां यह प्रश्न उठता है कि निम्नवर्गीय जनता का असंतोष कैसे दूर हुआ और उसने तुलसी को इतना क्यों अपनाया ? तुलसीदास ने इस निम्नवर्गीय समाज पर भी

दृष्टि रखी है। पहला राम कथा में आए निम्नवर्गीय पात्रों केवट, शबरी आदि के रूप में निम्न जातियों को महत्व दिया। दूसरे तुलसीदास ने जिस रामराज्य की कल्पना की वह तत्कालीन हिंदू-मुसलमान सभी राज्यों से बहुत श्रेष्ठ है। तीसरे वहां ब्राह्मण को महत्व देकर भी समता की कामना है। यथा—

बयरू न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई।
वरनाश्रम निज निज धरम, निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुख, नहिं भय शोक न रोग।
सब नर करहिं परस्पर प्रीति। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति रीति।
सब उदार सब पर उपकारी। विप्र चरन सेवक नर नारी।
—मानस

जब रामराज्य में कोई दुखी-दरिद्री न रहेगा और चारों 'पदारथ' सुलभ रहेंगे तो ऐसी व्यवस्था का आदर्श दिखाने वाले तुलसीदास कैसे न लोकप्रिय होंगे—

रामराज राजत सकल, धरम निरत नर-नारि।
रोग न रोष न दोष दुख, सुलभ पदारथ चारि।

चौथे रामभक्त होकर निम्न जातिवाला, जन्म से उच्च जाति वाले ब्राह्मण से निम्न नहीं रह जाता। यही नहीं तुलसी तो यह भी लिखते हैं कि यदि उच्चकुलीय भक्त नहीं है तो डोम भी भक्ति के कारण उस से उच्च है—

तुलसी भगत सुपच भलो, भजै रैन दिन राम।
ऊँच कुल केहि काम को, जहां न हरि को नाम॥
—वैराग्य संदीपिनी

९. धर्म के अन्तर्बाह्य पक्षों में समन्वय

तुलसीदास ने धर्म के बाह्यपक्ष नियम, व्रत, पूजा-पाठ, यज्ञ, स्वाध्याय, तिलक-मुद्रा आदि की—अनाचार की दृष्टि से कुछ अपवादों को छोड़कर—निंदा नहीं की है। पर साथ ही धर्म के आंतरिक-वास्तविक

पक्ष पर इससे भी अधिक बल दिया है। धर्म का आंतरिक पक्ष सब धर्मों में समान है। शील-सदाचार, दया-दान, परहित, पवित्रता आदि पर उन्होंने विशेष बल दिया है। धर्म की इस अन्तरात्मा के अभाव में धर्म मात्र आडम्बर या दिखावा होकर रह जाए। केवल आडम्बर-प्रिय धार्मिकों को तुलसीदास ने सावधान भी किया है—

बचन वेष तैं जो बनै, सो बिगरै परिनाम।
तुलसी मन ते जो बनै, बनी बनायी राम॥ —दोहावली

फिर भी आत्मा को साथ लेकर जैसे शरीर का महत्व है, धर्म के बाह्य-रूप का भी उसी प्रकार है। धर्म के बाह्यरूप का आदर करने के कारण वह अन्य श्रद्धेय देवी-देवताओं को साथ लेकर भी अपने एकदेववाद में श्रद्धा प्रकट कर सके हैं। वस्तुतः तुलसी का सुधार कबीर-दादू आदि संतों के सुधार से भिन्न हैं। उन्होंने धर्म के बाह्यरूपों पर बड़ा आघात किया हैं किन्तु तुलसी ने इनका भीतर से सुधार करने का प्रयास किया हैं। यहां भी तुलसी का ध्यान हिन्दू संगठन पर रहा है।

१०. व्यक्तिगत+सामाजिक साधना

तुलसीदास के भक्ति-साहित्य में जो भक्ति पद्धति मिलती है, वह जितनी व्यक्ति से सम्बंधित है उतनी ही समाज से। तुलसीदास जहां भक्त शिरोमणि थे, वहां महान लोक-नायक भी। एक महाकाव्य युग का सांस्कृतिक मानदण्ड होता है। उसके आदर्शों का प्रभाव समाज के ओर-छोर को छूता है। वैसे भी राम-कथा अपने आप में ही ऐसी है कि इस में व्यक्ति-समष्टि की साधना अभिन्न रूप से सम्बद्ध है। राम-कथा के माध्यम से तुलसीदास अपनी भक्ति को व्यक्ति के साथ सुदृढ़ सामाजिक भूमि पर प्रतिष्ठित कर सके हैं। उनके भक्तों के व्यक्तिगत आदर्शों में परोपकार को विशेष महत्व दिया गया है। यथा तुलसीदास की अपनी मनसा-वाचा कर्मणा धारणा है—

परहित निरत निरंतर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो।

—विनयपत्रिका

वेद शास्त्र से इसका उन्होंने अनुमोदन भी किया है—

स्रुति कह परम धरम उपकारा।
परहित लागि तजइ जो देही।
संतत संत प्रसंसत तेही।

—मानस

उनके अनुसार परहित परम धर्म है और परपीड़न परमपाप—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
परपीड़ा सम नहिं अधमाई।
निरनय सकल पुरान वेद कर।
कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर। —मानस

विनय पत्रिका में भी परोपकार को स्रुति-सार बताते हुए मानव-जीवन का परम उद्देश्य परोपकार बताया हैं जिसके बिना मानव-जन्म व्यर्थ है—

काज कहा नर तनु धरि सार्यो
पर उपकार सार स्रुति को जो सो धोखेहु न विचार्यो।

पर-पीड़ा की अनुभूति को विशेष महत्व देने के कारण तुलसीदास ने अहिंसावाद का समर्थन किया है। तुलसीदास की रामराज्य की कल्पनाओं में परस्पर प्रीति तथा समता ('विषमता खोइ') की बात आई हैं। व्यक्ति-समष्टि साधना के समन्वित आदर्श की परिचायक निम्न पंक्ति उल्लेखनीय है—

तुलसी घर-वन बीच ही राम-प्रेम पुर छाई। —दोहावली

तुलसीदास ने राजा की राजनीति के लिए व्यक्तिगत (साधुमत) तथा सामाजिक (लोकमत) दोनों प्रकार के आदर्शों पर बल दिया है। यथा—

करिय साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि —मानस

११. आदर्शों का समन्वय

तुलसीदास की समन्वय साधना के उपर्युक्त विवेचन से यह भली भांति स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा साहित्यिक सभी आदर्शों का समन्वय किया हैं। यहां हम उन आदर्शों को स्पष्ट करेंगे, जिनका विवेचन हमने पहले नहीं किया।

तुलसी के समय में सामंतवाद ह्रासोन्मुख था। ह्रासोन्मुखता से तात्पर्य है सामंतों की उच्छृंखलता तथा कर्त्तव्य-विमुखता से। हिंदू तथा मुसलमान दोनों सामंतों की यही अवस्था थी। अतएव तुलसीदास को राम के रूप में एक आदर्श सामंतीय राज्य का आदर्श प्रस्तुत करना था। यह ध्यान रहे कि कबीर, सूर आदि का उद्देश्य राजनैतिक नहीं था किंतु तुलसीदास राम कथा के माध्यम से जातीय संगठन करते हुए परोक्षरूप में हिंदू समाज को मुगल साम्राज्य के विरुद्ध खड़ा करना चाहते थे। तुलसीदास ने ऐसे राजनैतिक आदर्श उपस्थित किए कि जिन की प्रत्यक्षता से अभीप्सित परोक्ष आदर्शों—मुगलों की अन्याय-नीति के विरोध—की ओर ध्यान चला जाना स्वाभाविक हो उठता हैं।

तत्कालीन यवनों के अन्यायपूर्ण शासन का प्रतीक है रावण राज्य। रावण राज्य के वर्णन में यवन-राज्य का सांकेतिक चित्रण हो जाता है। यथा–

भुज बल बिस्व बस्य करि, राखेसि कोउ न स्वतन्त्र।
मंडलीक मनि रावन, राज करै निज यंत्र॥
... ...
जीति वही निज बाहुबल, बहु सुन्दर वर नारि॥
... ...

जेहि विधि होइ धरम निर्मूला, सो सब करहिं वेद प्रतिकूला।
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं, नगर गांऊ पुर आग लगावहिं ॥

... ...

बरनि न जाय अनीति, घोर निचासर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति, तिनके पापहिं कवन मिति ॥

कवितावली में भी तत्कालीन दुरावस्था का चित्रण हुआ है—

वेद धर्म दूरि गए, भूमि चोर भूप भए।
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप पीन की ॥

'भूमि चोर भूप भए' में कैसा व्यंग्य है।

तुलसीदास ने राजाओं के लिए जो आदर्श दिए, वह भी तत्कालीन राजाओं में नहीं मिलते, अतएव जनता स्वयं ही उद्बोधित हो सकती है। यथा–

मुखिया मुख सो चाहिए खान-पान को एक।
पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित विवेक ॥ –मानस

समदर्शी राजा समाज के विभिन्न अंगों के पालन-पोषण के लिए विवेक पूर्वक, योग्यतानुसार वितरण करे, यही उक्त दोहे का तात्पर्य है। यहां समाजवाद की समता का नियंत्रण नही, पारिवारिक प्रेम की आत्मीयता है।

तुलसीदास ने उस राजा को आदर्श माना जो सूर्य के समान जलशोषण करे–अज्ञातरूप से, कोई कठिनाई न देते हुए कर प्राप्त करे–परन्तु बादल के समान बरस कर, उससे अधिक लाभ पहुंचाए—

बरखत हरषत लोग सब करषत लखै न कोय।
तुलसी प्रजा सुभाग तें भूप भानु-सो होय ॥
—दोहावली

राजा को ईश्वर का अंश मानकर तुलसी राजतंत्र की पुरानी बात ही कहते है किंतु प्रजा के महत्व को वह भूले नहीं हैं। नहीं तो राम प्रजा से अपने दोष-वर्जन के लिए ये न कह पाते—

नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई।
सुनहु करहु जो तुम्हहिं सुहाई ।।
... ...
जौ अनीति कछु भाखऊँ भाई।
तौ मोहि बरजेऊ भय बिसराई ।। —मानस

राम को राज्य मिल रहा है किंतु फिर भी अंहकार-शून्य रहकर, वंश परम्परा से बडे भाई के राजा होने की खटकने वाली बात के प्रति उनका विचार है—

जनमे एक संग सब भाई।
भोजन सयन, केलि लरिकाई ।।
करत बेध, उपवीत बियाहा।
संग संग सब भयउ उछाहा ।।
बिमल बंस यह अनुचित एकू ।
बन्धु बिहाइ बड़ेहिं अभिषेकू ।।

प्रजा-वर्जन की बात ही नहीं, स्वयं तुलसी ने निडर होकर प्रजा पीड़क राजा को तीन फतवे दिए हैं—

१. इस लोक में अपयश होगा—

सोचिय नृपति नीति नहिं जाना।
जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ।। —मानस

२. परलोक भी बिगड़ेगा—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी ।। —मानस

३. समग्र विनाश होगा—

राजकरम बिन काज ही करैं कुचालि कुसाज ।
तुलसी ते दसकंध ज्यों जइहैं सहित समाज ।।

अंतिम बात पर्याप्त प्रगति-सूचक है।

इस प्रकार तुलसीदास की राजनैतिक धारणाओं में भी पुरातन नूतन का समन्वय मिलता है।

राजनैतिक आदर्शों की स्थापना में तुलसीदास ने जैसे तत्कालीन राजनैतिक दुरावस्था को दिखाकर अनुकरणीय आदर्शों की स्थापना की वैसे ही विनयपत्रिका के पदों तथा कलियुग-प्रसंग में पारिवारिक विकृति की चर्चा भी हुई है तथा 'मानस' में पारिवारिक आदर्शों का यथास्थान संस्थान भी। मानस में पिता, माता, पुत्र, पति, पत्नी, भाई, सखा, सेवक आदि के पारिवारिक कर्तव्यकर्मों का विस्तृत निरूपण हुआ है।

राम कथा में पारिवारिक के साथ सामाजिक आदर्शों का विशेष विस्तार मिलता है। जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं वह 'साधुमत' तथा 'लोकमत' दोनों की चर्चा करके वैयक्तिक-सामाजिक दोनों आदर्शों की स्थापना करते हैं। रामराज्य के वर्णन में जिस आदर्श समाज की कल्पना की गई है, उन पंक्तियों को हम पहले उद्धृत कर चुके हैं।

उनके ग्रंथों में साहित्यिक आदर्श भी मिलते हैं। उनके अनुसार जनसाधारण के गुण-गान से काव्य-देवी असन्तुष्ट होती है—

कीन्हे प्राकृत जन गुण गाना। सिर धुनि गिरा लाग पछताना॥

तुलसीदास ने अपने आदर्शात्मक काव्य-मत को व्यक्त करते हुए लिखा है कि हृदय के भीतर बुद्धि और विचार, वाणी की कृपा से कविता रूप धारण करता है। पर इस कविता रूपी मोती की शोभा राम चरित्र में ग्रथित होने में है, नहीं तो वह हृदय-हार नहीं बन सकती—

हृदय सिंधु मति सीप समाना, स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।
जो बरसइ बर बारि बिचारू। होइ कवित मुकतामनि चारू॥
जुगुति बेधि पुनि पोहहिं, राम चरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन विमल उर, सोभा अति अनुराग॥

तुलसीदास सहृदय आलोचक को महत्व देते हुए कहते हैं कि कविता की शोभा रचयिता क पास उतनी नहीं होती जितनी बुद्धिमान

विद्वान व्यक्तियों के पास जाकर। मणि, रत्न आदि भी अपने उद्गम स्थल पर वह शोभा नहीं पाते, जितने राजमुकुट में या रमणी के शरीर पर शोभित होकर पाते हैं—

मनि मानिक मुक्ता छवि जैसी। अहि गिरी, गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुणी तन पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत, अनत छवि लहहीं॥

१२. मनुष्य+मनुष्येतर प्राणी+प्रकृति

तुलसीदास ने मानव के साथ प्राकृतिक सुषमाओं का आस्वादन भी कराया है। यही नही पशु-पक्षियों से रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित किया है। जब तुलसी के आराध्य राम की आत्मीयता का प्रसार यहां तक है कि—

प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आपु समान

तो तुलसीदास मनुष्येतरों तक अपनी संवेदना का विस्तार कैसे न करते। सीता के जनकपुर छोड़ने के अवसर पर, उसके द्वारा पालित शुक सारिकाओं की अवस्था देखिए—

सुक सारिका जानकी ज्याये, कनक पिञ्जरहिं राखि पढ़ाये।
ब्याकुल कहहिं कहां वैदेही, सुनि धीरजु परिहरइन केही।

राम के वियोग में व्यथित घोड़ों के निम्न हृदय-द्रावक चित्र में तुलसी की व्यापक संवेदना-सहृदयता की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जा सकता—

सोक सिथिल रथु सकइ न हांकी, रघुवर विरह पीर उर बांकी।
तरफराहि मग चलहिं न घोरे, बन मृग मनहु आनि रथ जोरे।
अदुकि परहिं फिर हेरहिं पीछें, राम-वियोग बिकल दुख तीछें।
जो कह रामु लखनु बैदेही, हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेहीं॥
बाजि बिरह गति किमि कहि जाती, बिनु मनि फनिक बिकल जेहि भांती॥

१३. विषयगत समन्वय

तुलसीदास के काव्य के विषयगत समन्वय से यह स्पष्ट है कि उन्होंने सामयिक-शाश्वत, यथार्थ-आदर्श, पुराण-नूतन सभी दृष्टियों से काम लिया है।

१४. भक्त+कवि

तुलसीदास का काव्य, मंदिर तथा शिक्षालय का ही काम नहीं देता वह कला-भवन भी है—तुलसीदास भक्त, समाजसुधारक, धर्म-संस्थापक, लोक नायक के साथ महान कवि भी हैं। तुलसीदास कबीर के समान प्रचारक-उपदेशक नहीं, सूर के समान भक्त-कवि नहीं, और न केशवदास के समान मात्र पण्डित हैं। वह इन सब का समन्वित रूप हैं। कवि व्यक्तित्व के साथ उनके भक्त व्यक्तित्व के अपूर्व समन्वय से यह काम हुआ है कि उनके कवित्व की उड़ान संयत रही। भक्त की दीनता तथा कवि-विवेक के समन्वय के धरातल पर इन पंक्तियों की परख कीजिए—

कवि न होउँ नहिं बचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबन्ध अनेक विधाना।
भाव भेद रस भेद अपारा, कवित दोष गुन विविध प्रकारा।
कवित बिबेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।

तुलसीदास को सारा काव्य विवेक है, यह मध्य की दोनों पंक्तियों से स्पष्ट है किंतु भक्त की मर्यादा के कारण वह इसे स्वीकार नहीं करते। यही केशव और तुलसी में अन्तर है। केशव कभी ऐसी बात न लिख सकते। केशव सगर्व कहते हैं कि वह रामचन्द्र की चंद्रिका का बहुत छंदों में वर्णन कर रहे हैं। भक्त और कवि की इस समन्वित मनोवृत्ति ने, संतुलित काव्यादर्श ने, तुलसी को केशव होने से बचाया है। इसलिए तुलसी में कला है और केशव में कलाबाजी। तुलसी की कविता अलंकारों से सजी है, केशव की लदी और दबी है। पाण्डित्य तुलसी में

भी है, किंतु उसका प्रदर्शन नहीं, विषयानुरूप छंद वैविध्य भी है, किंतु कृतियों को छंदों का अजायब घर बनाने की लालसा नही।

१५. स्वांतः सुखाय+सर्वान्तः सुखाय

उनके संयत-समन्वित काव्यादर्श का परिचय इन दो धारणाओं में भी मिलता है—

'स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा'

तुलसी अपने सुख-संतोष के लिए, आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा से कविता लिखते थे, किसी राजा-रईस की प्रशंसा में, या लोक-लालच के लिए नहीं। किंतु वह यह भी लिखते हैं कि उत्तम काव्य वही है जो गंगा के समान सब का हितकारी हो—

'कीरति भनति, भति भूलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

—मानस

इससे उनकी आत्माभिव्यक्ति समाजाभिव्यक्ति हो जाती है और समाजाभिव्यक्ति आत्माभिव्यक्ति—अन्तस्फूर्ति के कारण समाज-हित की बात प्रचार का रूप नहीं धारण करती।

१६. भाषा+भाव

उनके समन्वित काव्यादर्श का परिचय भाषा-भाव की एकता से भी मिलता है—

गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।

उनके समन्वित काव्यादर्श की चर्चा कर लेने के बाद अब हम उनके कवित्व में समन्वय की व्याख्या करेंगे।

१७. रस समन्वय

तुलसी ने राम के सर्वांगीण जीवन को लिया है और ऐसा करते हुए उन्होंने जीवन के कोमल-परुष सभी क्षेत्रों को लिया। अतैव तदानुरूप उन में सभी रस आए हैं। रामचरितमानस में ही सब रस मिल जाते हैं। यही नहीं प्रत्येक कांड में विभिन्न रस हैं। सीता-राम

के प्रेम में संयोग-वियोग श्रृंगार मिलता है। हास्यरस शिव की बरात तथा नारद-मोह के प्रकरणों में प्रवाहित हुआ है। राजा दशरथ की मृत्यु तथा राम-वन-गमन के अवसरों पर करुण रस की धारा बही है। परशुराम तथा लक्ष्मण रौद्ररस के उदाहरण प्रस्तुत करते है। भयानक, अद्भुत और वीभत्स रसों की निष्पत्ति लंका दहन के प्रसंग में हुई है। राम-रावण के युद्ध में वीर रस का आस्वादन किया जा सकता है। समग्र मानस में शांतरस प्रवाहित हो रहा है। यह उसका प्रधान रस है। कवितावली में परुष रसात्मक वर्णन वीरगाथाकाल का स्मरण दिलाते हैं।

तुलसीदास की रसात्मकता रस के सम्पूर्ण अवयवों सहित मग्न करती है। रस के सभी अवयवों के सहयोग से रसोद्रेक और भी तीव्र हो गया है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने तुलसी-काव्य से ३३ संचारी भावों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।*

१८. कविता के विभिन्न रूपों में समन्वय

तुलसीदास को कविता के विविध रूपों पर असामान्य अधिकार था। आत्मगत, वस्तुगत अथवा अन्तर्वृत्ति निरूपक तथा बाह्यार्थ निरूपक दोनों प्रकार के काव्य-भेद तुलसी में मिलते हैं। पहले प्रकार में प्रायः मुक्तक तथा दूसरे में प्रबन्ध काव्य—महाकाव्य तथा खण्डकाव्य—आते है। कवितावली का उत्तरकाण्ड तथा विनयपत्रिका आत्माभिव्यंजक मुक्तक रचनाएं हैं। शेष सभी रचनाएं वस्तुगत हैं। रामचरित-मानस मुकुट-मणि महाकाव्य है तथा जानकी मंगल, पार्वती मंगल आदि खण्ड काव्य हैं। दोहावली समग्रतः नीति-मुक्तक की कोटि में आती है जिसमें प्रसाद गुण पूर्ण शैली में सामाजिक, नैतिक, धार्मिक तथ्यों की अभिव्यक्ति हुई है। यह दोहे सुविधा से जनता का कण्ठहार हो गए। यह उल्लेखनीय है कि मानस महाकाव्य के लक्षणों की कसौटी पर खरा ही नही उतरता, यह महाकाव्यों का आदर्श भी है।

---

*देखिए 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृ० ६१६

१९. काव्य-पद्धतियों में समन्वय

तत्कालीन प्रचलित सभी काव्य-पद्धतियों को तुलसीदास ने सफलता-पूर्वक सम्मानित किया। वीरगाथाकालीन छप्पय, कबीर के दोहे और विनय के पद, विद्यापति की कोमल कात पदावली, सूरदास के लीला-गान-विषयक राग-रागिनियों में निबद्ध गीति-पद्धति, जायसी की दोहा चौपाई-प्रबन्ध पद्धति, गंग आदि भाटों की कवित्त-सवैया शैली तथा रहीम की बरवै पद्धति सभी उनकी प्रतिभा के स्पर्श से खिल उठीं। "उन दिनों पूर्व भारत में अनेक प्रकार के मंगल काव्य प्रचलित थे। बंगला में ये मंगल काव्य मिलते हैं, पर हिंदी में सिर्फ कबीरदास के नाम पर चलने वाले और बाद के बने हुए आदि मंगल, अनादि मंगल, अगाध मंगल आदि रचनाएं मिलती है, जो सिर्फ इस बात के सबूत के रूप में बची रह गई हैं कि किसी समय मंगल काव्यों की बड़ी भारी परम्परा मध्यदेश में भी व्याप्त थी। मंगल काव्य, विवाह काव्य और सृष्टि प्रक्रिया व्यापक ग्रंथ है। नंददास का एक रूक्मिणी-मंगल मिलता है। और चंद बरदाई के रासो में संयोगिता को पत्नी धर्म की शिक्षा देने के लिए विनय-मंगल नाम का एक अध्याय है, जो स्पष्ट रूप से स्वतंत्र ग्रंथ है। तुलसीदास ने इस शैली को भी अपनाया। उन्होंने पार्वती-मंगल और जानकी-मंगल नाम के दो काव्य लिखे थे।"*

२०. भाषा में समन्वय

तुलसीदास की भाषा भी उनके समन्वय-शक्ति के कौशल को प्रकट करती है। यह जितनी लौकिक है उतनी ही शास्त्रीय। सरल होते हुए भी पाण्डित्यपूर्ण है। इसमें मुहावरे-लोकोक्तियों की व्यावहारिकता -सजीवता के साथ लक्षणा-व्यंजना का साहित्यिक सौष्ठव भी है। इसका सामान्य आनंद सर्वसुलभ है किन्तु इसकी ध्वन्यात्मक सूक्ष्मता विद्वानों की अपेक्षा रखती है जहां यह 'अनत अनत छवि' ग्रहण करती है।

*'हिंदी साहित्य'—डॉ० हजारीप्रसाद पृ० २३५

पात्र-प्रसंगानुसार परिवर्तनशीलता से तुलसी की भाषा स्वाभाविक-सार्थक बन गई है। तुलसीदास का सुव्यवस्थित वाक्य-रचना कौशल भी प्रशंसनीय है। उक्ति-वैचित्र्य तथा वाग्वैदग्ध्य इसे रोचक बना देते हैं। इसकी भाषा भावानुरूप तीनों गुणों से समन्वित है। वर्णमैत्री तथा अनुकूल ध्वनियों के संगठन से गुणों की प्रतीति भी होती है। भाषा प्रवाह तथा अर्थ-चमत्कार भी उपत्न्न होता है। शब्द तथा अर्थालंकारों के उचित आनुपातिक प्रयोग से यह सुन्दर-समृद्ध हो गई है। अनेक क्षेत्रों से उपमाओं के चयन में भी इनकी समन्वय तथा सार ग्राही शक्ति का परिचय मिलता है।

उस काल में प्रचलित दोनों मान्य काव्य भाषाओं—ब्रज तथा अवधी—मे उन्होने रचना की। कृष्ण भक्त कवियों की ब्रज भाषा में उतने ही अधिकार के साथ, गीतावली, कृष्णगीतावली, कवितावली तथा विनयपत्रिका की रचना कर उन्होंने अपनी अद्‌भुत प्रतिभा का परिचय दिया। प्रायः ब्रज भाषा कोमल विषयों के अनुकूल मानी जाती है किंतु तुलसीदास ने कवितावली में ब्रजभाषा में परुष भावों का सफल चित्रण कर अपनी अपूर्व काव्य-शक्ति का परिचय दिया। विनय पत्रिका की ब्रजभाषा में पाण्डित्यपूर्ण सौष्ठव दर्शनीय है। वियोगी हरि ने ठीक ही विनय पत्रिका को 'पाण्डित्य-निकष' लिखा है। तुलसीदास की ब्रज भाषा भी अवधी के समान परिष्कृत-परिमार्जित है।

तुलसीदास ने अवधी तथा ब्रजभाषा पर ही समान अधिकार से नहीं लिखा अपितु अवधी के भीतर भी पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों प्रकार की अवधी में रचना की।

इसके अतिरिक्त तुलसीदास ने विभाषाओं और बोलियों बुंदेलखण्डी, भोजपुरी, राजस्थानी आदि तथा अरबी फारसी आदि विदेशी शब्दों को कहीं तत्सम रूप में तथा कहीं हिंदी की प्रकृति के अनुरूप संस्कार कर—अपना कर अपनी उदार वृत्ति का परिचय दिया। साथ ही भाषा की पाचन शक्ति का आदर्श प्रस्तुत किया।

उस काल में उच्चवर्ग में संस्कृत का विशेष आदर-सम्मान था। संस्कृत पूज्य भाषा थी। जिन ब्राह्मणों के मान को तुलसीदास ने पुन: प्रतिष्ठित किया उनके विरोध के बावजूद जन भाषा में लिखना तुलसी का विशेष प्रगतिशील पग था, किंतु यदि वह संस्कृत को भी समादृत न करते, तो वह अपनी समन्वय-भावना का परिचय न देकर संत कबीर का कार्य करते जिसने कहा था—

'संसकिरत कूप जल कबीरा, भासा बहता नीर।

तुलसीदास को यह पता था कि भाषा बहता नीर है, जन भाषा है और रामनाम का संदेश देशव्यापी इसी के माध्यम से हो सकता है। किंतु देववाणी संस्कृत का तिरस्कार भी वह न कर सकते थे। उन्हें ब्राह्मणों को रुष्ट भी नहीं करना था तथा संस्कृत की वृहद् विभूति से भाषा को समृद्ध कर, अवधी तथा ब्रजभाषा जैसी प्रांतीय भाषाओं को सार्वदेशिक स्वरूप भी देना था। अतैव उनकी भाषा में, भाषा तथा संस्कृत में अपूर्व समन्वय मिलता है। रामचरितमानस के श्लोक, स्तुतियों के छंद तत्सम-शोभित हैं। जायसी की भाषा ग्रामीण अवधी है किंतु तुलसीदास ने संस्कृत शब्दों द्वारा उसे शिष्ट रूप प्रदान करते हुए उसको गम्भीर दार्शनिक भावों की प्रेषणीयता के योग्य बना दिया। तुलसीदास ने यह समन्वय इतनी कुशलता से किया कि किसी प्रकार की कृत्रिमता-पृथकता का आभास नहीं होता। भाव-विचारों के समान भाषा के क्षेत्र में इस अपूर्व समन्वय से तुलसी की भाषा निम्न-उच्च सभी जातियों में समान रूप से समादृत हो सकी।

भिन्न विद्वानों ने तुलसीदास को जो बहुमुखी महत्व प्रदान किया है उससे भी तुलसीदास की महत्वपूर्ण समन्वय-साधना का परिचय मिलता है। रामचरितमानस को गांधी जी भक्ति मार्ग का सर्वोत्तम ग्रंथ, एक फ्रेंच लेखक 'मानव मात्र की बाइबल' तथा ला० हरदयाल 'भारत का राष्ट्रीय महाकाव्य' कहते हैं। कहां भक्ति, कहां राष्ट्रीयता तथा कहां सार्वभौमिकता। डा० ग्रियर्सन तुलसीदास को बुद्ध के बाद सब

से बड़ा लोकनायक तथा एशिया के तीन-चार महान लेखकों में से एक मानते हैं। स्मिथ इन्हें मुगल काल का सबसे बड़ा व्यक्ति बताते हैं। निराला की दृष्टि में तुलसीदास 'सांस्कृतिक सूर्य' हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने, लोक-हित तथा कवित्व दोनों दृष्टियों से तुलसी को विशेष महत्ता प्रदान की है—

बन राम रसायन की रसिका, रसना रसिकों की हुई सफला।
अवगाहन मानस में कर के जन-मानस का मल सारा टला॥
... ...
कविता करके तुलसी न लसे,कविता लसी पा तुलसी की कला॥

तुलसीदास की अपूर्व समन्वय साधना आगामी कवियों के लिए माप-मान बन गई है।

'प्रसाद' का 'चन्द्रगुप्त'

क. उद्देश्य

ख. नायकत्व

ग. कुछ दोष

(पृष्ठ संदर्भ आदि नाटक के दसवें संस्करण पर आधारित हैं)

क. चन्द्रगुप्त नाटक का उद्देश्य

विदेशियों के निष्कासन द्वारा सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्न एकच्छत्र भारतीय राज्य की स्थापना चंद्रगुप्त नाटक का मूल उद्देश्य है। यह नाटक भारत की पराधीन अवस्था में लिखा गया और इस में प्रसाद जी भारतवर्ष की समसामयिक वस्तुस्थिति से इतना प्रभावित दिखाई देते हैं कि चंद्रगुप्त नाटक का उद्देश्य मानों किसी ऐतिहासिक नाटक का ही उद्देश्य न होकर सामयिक नाटक का भी उद्देश्य हो गया है। चंद्रगुप्त नाटक का उद्देश्य समसामयिक भारतवर्ष की सबसे बड़ी समस्या थी और जिस की अधिकांश बातें आज भी उतनी ही मूल्यवान हैं। राष्ट्रीय भावना के उद्‌बोधन द्वारा सुदृढ़ भारतीय राष्ट्र की स्थापना चंद्रगुप्त कालीन भारत की मांग की अपेक्षा आधुनिक भारत की मांग अधिक है। वस्तुतः चंद्रगुप्त नाटक का समस्त शिल्प-विधान—चरित्र चित्रण, कथोपकथन, कथा-संगठन तथा वातावरण प्रसाद के इसी राष्ट्रीय दृष्टिकोण का परिणाम हैं। इस दृष्टि से यह उद्देश्य प्रधान नाटक है, कलाप्रधान नहीं।

जयशंकर प्रसाद ने 'विशाख' नाटक की भूमिका में अपने ऐतिहासिक नाटकों के उद्देश्य के सम्बन्ध में लिखा था—"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यंत लाभदायक होता है।.........मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।" उनका यह कथन अन्य नाटकों की अपेक्षा चंद्रगुप्त पर सर्वाधिक लागू होता है। निस्संदेह प्रसाद की गतानुगामिनी दृष्टि, स्वर्णिम भारत से तेज प्राप्त कर के आगत के स्वागत में और भी

तत्पर हो जाती है। चंद्रगुप्त नाटक में भी प्रसाद जी ने भारतीय इतिहास की ऐसी घटनाओं को विन्यस्त किया हैं जिनसे आधुनिक भारत के कल्याण-निर्माण में विशेष योग मिल सकता है। प्रमाण स्वरूप मात्र राष्ट्रीय आदर्श संगठित करने के लिए ही उन्हें कथानक का इतना विस्तार करना पड़ा है, नहीं तो तीसरे अंक में नंद की समाप्ति तथा चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक के साथ ही नाटक समाप्त हो सकता था। चौथे अंक के सृजन की आवश्यकता नहीं थी। इससे नाट्यकला की दृष्टि से चाहे काल दोष या वस्तु संगठनात्मक दोष आ गया हो, प्रसाद को इसकी चिंता नहीं थी। उन्हें तो चौथे अंक में चन्द्रगुप्त के दाक्षिण-विजय की सूचना देनी थी। मालवगणों, उत्तरापथ के छोटे-छोटे गणतन्त्रों (जिनके चन्द्रगुप्त के आधीन होने का उल्लेख दूसरे अंक में हो चुका है) तथा तक्षशिलाधीश के चन्द्रगुप्त के आधीन हो जाने, और सिल्यूकस पर विजय प्राप्त करके भारत की सीमाओं के सुरक्षित हो जाने का चित्रण करना था। केवल ऐसा दिखाकर ही भारतवर्ष में एक अखंड राज्य को स्वरूप देने की प्रसाद की कामना-पूर्ति हो सकती थी।

भूमि, समाज तथा संस्कृति के समुच्चय को राष्ट्र कहते हैं। भूमि राष्ट्र-पुरुष का शरीर है, समाज उसका प्राण, तथा संस्कृति उसका मानस। प्रसाद के राष्ट्रीय दृष्टिकोण ने भारत-भूमि के कण-कण से प्यार किया, उसकी समस्याओं को लेकर हमें स्पंदित किया तथा भारतीय संस्कृति की गौरव-गरिमा के आख्यान द्वारा जीवन के ऊर्ध्व विकास के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। अब हम इनका पृथक-पृथक विवेचन करेंगे।

भूमिः—हम बता चुके हैं कि प्रसाद जी को भारत के ओर-छोर की भूमि को—मगध, मालव तथा दक्षिणी भारत को—अखंड करने के लिए नाटक के चतुर्थ अंक की सृष्टि करनी पड़ी। भारत-भूमि की सुरक्षा के स्थायित्व के लिए सीमाओं की रक्षा आवश्यक थी इसलिए चाणक्य को 'दो बालुकापूर्ण कगारों के बीच एक निर्मल स्रोतस्विनी

बहानी पड़ी'— कार्नेलिया का चन्द्रगुप्त के साथ विवाह हो जाने से भारत की उत्तरपश्चिमी सीमा सुरक्षित हो गई। चन्द्रगुप्त तो इससे भी आगे बढ़ा और भारत की सीमा पार सिल्यूकस के साम्राज्य की सहायता के लिए यह भी कहता है—"आँटिगोनस से युद्ध होगा। सम्राट् सिल्यूकस, गजसेना आपकी सहायता के लिए जायगी। हिरात में आपके जो प्रतिनिधि रहेंगे, उनसे मिलने पर और भी सहायता के लिए आर्य्यावर्त्त प्रस्तुत हैं।"

देश-भूमि की वास्तविक सुरक्षा का आधार है समाज का भूमि के प्रति अपने घर का सा नाता—अपनत्व की भावना। जैसे हम किसी को अपना घर नहीं दे सकते, उसकी एक-एक वस्तु के प्रति हमारी ममत्व भावना होगी, उसी प्रकार देश के कण-कण के प्रति प्यार, एक प्रकार के अहम् भाव की आवश्यकता है। अलका इसी भाव-स्थिति पर पहुंच कर कहती है—"मेरा देश है, मेरा पहाड़ है, मेरी नदियां हैं और मेरे जंगल हैं। इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे हैं और मेरे शरीर के एक-एक क्षुद्र अंश उन्हीं परमाणुओं के बने हैं।" (पृ०९२) कार्नेलिया के निम्न गीत में, उसका भारतीय संगीत का पाठ-स्मरण है या प्रकृति के पालने भारतवर्ष के प्रति प्रसाद की आत्मीयता का द्रवित उद्गार, यह सहृदय पाठक स्वयं समझ लेंगे—

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहां पहुंच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर, नाच रही तरु शिखा मनोहर।
छिटका जीवन-हरियाली पर, मंगल कुंकुम सारा।

भारत भूमि के प्रति प्रेम के उपरांत राष्ट्रीयता का दूसरा अंग है समाज की समस्याओं का चित्रण। प्रसाद ने अधिकांशतः उन्हीं समस्याओं को लिया है जिन का भारत के राष्ट्रीय स्वरूप को बनाने-बिगाड़ने में सीधा हाथ है।

प्रांतीय भावना की भर्त्सना—नाटक के प्रथम दृश्य में ही यह समस्या उग्र रूप से हमारे सामने आती है। भारतवर्ष जैसे विशाल देश की राष्ट्रीय अखंडता के लिए प्रांतीय भावना घोर घातक है। आधुनिक भारत में पंजाबी, बंगाली, मद्रासी, मराठी, गुजराती आदि के भेद-भाव कितने विनाशक सिद्ध हो रहे हैं, यह किसी से छिपा नहीं। प्रसाद जी इस ओर पूरे सजग थे। चन्द्रगुप्त पूरा वीर है, वह अपने आत्मसम्मान के लिए मर मिटने को खेल समझता है किन्तु उसकी यह व्यक्तिगत वीरता देश के किसी काम नहीं आ सकती, जब तक उसे राष्ट्रीय स्वरूप का ज्ञान न हो। यही नहीं यह वीरता अपनों के ही विनाश में प्रयुक्त हो सकती है। भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि किस प्रकार यवन तथा अंग्रेज भारत के वीरों को, उनके राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अभाव में, परस्पर लड़वा कर अपना उल्लू सीधा करते रहे हैं। राष्ट्रीय स्वरूप से अनभिज्ञ चन्द्रगुप्त का प्रांतीयता प्रेरित किंतु वीरत्वपूर्ण निम्न कथन ऐसा ही है—"आर्य, हम मागध हैं और यह मालव। अच्छा होता कि यहीं गुरुकुल में हम लोग शस्त्र की परीक्षा भी देते।" (पृ० ५८) चाणक्य ने इसीलिए समझाया हैं "मालव और मागध को भूल कर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे, तभी वह (आत्मसम्मान) मिलेगा।" (पृ० ५९) सिंहरण के शब्दों में प्रसाद जी चाहते हैं कि सभी यही समझें—"मेरा देश मालव ही नहीं, गांधार भी है। यही क्या समग्र आर्यावर्त हैं।" (पृ० ६०)

साम्प्रदायिक मत-भेद की भर्त्सना—हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक मत-भेदों का दुष्परिणाम भारत के विभाजन के रूप में प्रकट हुआ। प्रसाद जी ने बौद्ध-ब्राह्मण के संघर्ष में इसकी सूचना दी है। जिस प्रकार अंग्रेज फूट डालकर राज्य करते रहे उसी प्रकार नंद की भी यह नीति है। एक नागरिक कहता है—"मूर्ख प्रजा धर्म की आड़ में नचाई ज रही है।" चाणक्य नंद को सचेत करता है—"तुम्हारी धर्मान्धता से प्रेरित राजनीति आंधी की तरह चलेगी, उसमें नंद वंश समूल उखड़ेगा।"(पृ०७६)

(पृ० ७६) राक्षस को भी वह समझाता है—"यवन आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मण का भेद न रखेंगे"। (पृ० ७५)

आपसी फूट—साम्प्रदायिक तथा प्रांतीय भिन्नता के होते हुए भी व्यक्तिगत वैर-विरोधों के कारण राष्ट्र पराधीन हो जाता है। वस्तुतः अंग्रेजों ने अपनी शक्ति से नहीं, बहुत कुछ हमारी दुर्बलताओं के कारण, हमारी ही सहायता से भारत पर अधिकार किया था। यूनानी आक्रमण कारियों के रूप में 'चन्द्रगुप्त' में अंग्रेजों की छाया है। यूनानियों के आक्रमण के समय यहां एक से एक बड़े वीर थे किन्तु पारस्परिक 'द्वेष से जर्जर।' (पृ० ५५)

अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं तथा मानापमान की क्षुद्र भावनाओं में पड़कर आम्भीक सिकन्दर का स्वागत करता है और प्रसाद की देश भक्त आत्मा अलका के शब्दों में ऐसे व्यक्तियों को सचेत करते हुए अभिशाप देती है —"आर्यावर्त के सब बच्चे आम्भीक जैसे नहीं होंगे। वे इसकी मान-प्रतिष्ठा और रक्षा के लिए तिल-तिल कट जायेंगे। स्मरण रहे, यवनों की विजयवाहिनी के आक्रमण को प्रत्यावर्त्तन बनाने वाले यही भारत-संतान होंगे। तब बचे हुए क्षतांग वीर, गांधार को—भारत के द्वार रक्षक को—विश्वासघाती के नाम से पुकारेंगे......।" (पृ० ८८)

प्रसाद जी ने राष्ट्र को स्वतन्त्र करने के लिए साहस, निर्भीकता के आदर्श प्रस्तुत किए हैं तथा विदेशियों के कुत्सित कार्यों को दिखा कर पराधीनता का अभिशाप भी दिखाया है।

यूनानी यहां आकर अलका जैसी नारियों का अपमान करने पर भी उतारू हो जाते हैं। उसी बात को देखकर पतित गांधार-नरेश का आत्मसम्मान जागृत हो जाता है और वह अपने पुत्र का साथ छोड़ देता है।

स्वाधीनता के युद्ध के लिए तैयार करने के लिए प्रसाद जी अलका के रूप में यह अनुकरणात्मक आदर्श प्रस्तुत करते हैं कि यदि राष्ट्र के

लिए पिता-भ्राता को भी त्यागना पड़े तो त्याग दो। अनेक स्वार्थियों की सुप्त स्वाधीन चेतना के उद्बोधन तथा वीरों के साहस वर्धन के लिए प्रसाद जी ऐसे नर-नारियों की भूरि-भूरि प्रशंसा करवाते हैं जो स्वतंत्रता के युद्ध में संलग्न हैं। अलका सिंहरण की वीरता का और सिंहरण अलका की वीरता का सामान्यीकरण करते हुए कहते हैं—

अलका—"जिस देश में ऐसे वीर युवक हों उसका पतन असम्भव है। मालव वीर, तुम्हारे मनोबल में स्वतंत्रा है और तुम्हारी दृढ़ भुजाओं में आर्यावर्त्त के रक्षण की शक्ति है।" (पृ० ६०)

सिंहरण—"जन्मभूमि के लिए ही यह जीवन है, फिर जब आप सी सुकुमारियाँ इस की सेवा में कटिवद्ध है, तब मैं पीछे कब रहूंगा।" (पृ० ८०)

प्रसाद जी ने अलका, सुवासिनी, मालविका सभी नारियों को स्वतन्त्रता संग्राम में रत दिखाया है। यह आधुनिक स्वतन्त्रता आन्दोलन में नारी-चेतना के योग-दान की ही छाया है। चन्द्रगुप्त का सारा वातावरण देशभक्ति की पूत भावना से भरा हुआ है। अलका जैसी नारियां जब ध्वजा उठाकर गांव-गांव, नगर-नगर स्वतन्त्रता के गीत गाती है—

हिमाद्रि तुङ्ग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती—   (पृ० १६४)

और देश-रक्षा के लिए व्यक्तियों तथा अन्न-धन का दान मांगती है, तो आम्भीक जैसे अनेक कायरों का सुधार हो जाता है।

जब स्वतन्त्रता का युद्ध छिड़ा हो तो प्रत्येक योग्य व्यक्ति का अपनी योग्यता को व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं के लिए लगाना स्वार्थी मनोवृत्ति का परिचय देता है। चाणक्य इसीलिए वररुचि से कह सका है—"मेरे

पास पाणिनी में सिर खपाने का समय नहीं। भाषा ठीक करने से पहले मैं मनुष्यों को ठीक करना चाहता हूं" (पृ० ८४)

देश भक्ति एक भावमूलक भावना है। अंग्रेज अथवा यूनानी के प्रति शत्रुता देश भक्ति का अभावमूलक रूप है जो स्थाई नही हो सकता। प्रसादजी ने देशभक्ति के भावमूलक स्वरूप की ओर विशेष ध्यान रखा है। चाणक्य आर्य साम्राज्य का निर्माण-कर्ता है किन्तु देश को प्रत्येक प्रकार से निरापद-स्वतन्त्र बनाने के पश्चात वह रंगमंच से हट जाता है। वह किन्हीं व्यक्तिगत स्वार्थों से प्रेरित होकर या पद-लालसा की भावना से किसी प्रकार का पुरस्कार नहीं चाहता।* मालविका का मूक बलिदान भी आदर्श है। वस्तुतः प्रसाद ने सर्वत्र यह प्रदर्शित किया है कि राष्ट्र व्यक्ति से उच्च है।

प्रसाद जी ने राजतन्त्र मे भी आधुनिक प्रजातन्त्र का आभास दिया है। स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् भी स्वेछाचारी शासन कोई. नहीं चाहता। स्वराज्य का अर्थ केवल यही नहीं कि अपना राज्य हो जाए। यदि समाज में शांति-व्यवस्था न हुई तो स्वराज्य भी अभिशाप हो जाता है। दूसरी ओर प्रजा भी 'अपना राज्य है' समझकर उच्छृंखल न हो जाए, यह भी आवश्यक है। अतैव नन्द की समाप्ति के बाद जब चन्द्रगुप्त सम्राट् बनता है तो चाणक्य राजा-प्रजा दोनों को चेतावनी देता है: "स्मरण रखना होगा कि ईश्वर ने सब मनुष्यों को स्वतन्त्र उत्पन्न किया है; परन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता वही तक दी जा सकती है, जहां दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधा न पड़े। यही राष्ट्रीय नियमों का मूल है। वत्स चन्द्रगुप्त! स्वेच्छाचारी शासन का परिणाम तुमने स्वयं देख लिया है,

*भारत को स्वाधीनता मिलने के पश्चात् देश भक्ति का पुरस्कार चाहने वाले जो बन्दर-बाँट कर रहे हैं, वे इससे कुछ शिक्षा ले सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी देश भक्ति का आधार अंग्रेज थे, जो उनके जाते ही समाप्त हो गई।

अब मन्त्रि परिषद् की सम्मति से मगध और आर्यवर्त के कल्याण में लगो।" (पृ० १७३)

प्रसाद जी नारी दुर्दशा की ओर विशेष सजग रहे हैं। चन्द्रगुप्त नाटक में भी केवल एक ही स्थल पर, आप्रसंगिक रूप में, उन्होंने इसकी चर्चा की है। विवाहित नारी के पुरुष की उपभोग-वृत्ति का उपकरण मात्र होने के परवश तथा व्यक्तित्व हीन जीवन की स्थिति बताते हुए सुवासिनी कहती है—"धनियों के प्रमोद का कटा-छँटा हुआ शोभावृक्ष। कोई डाली उल्लास से आगे बढ़ी, कुतर दी गई। माली के मन के संवरे हुए गोल-मटोल खड़े रहो"

अब हम राष्ट्र के तीसरे अंग 'संस्कृति' की व्याख्या करेंगे। प्रसादजी इतिहास को दर्शन का बहिर्विकास मानते हैं। अतैव वह चन्द्रगुप्त-सिकन्दर के युद्ध को दो संस्कृतियों के संघर्ष का नाम देते हैं। कार्नेलिया के शब्दों में—"यह युद्ध ग्रीक और भारतीयों के अस्त्र का ही नहीं, इसमें दो बुद्धिया भी लड़ रही हैं। यह अरस्तु और चाणक्य की चोट है। सिकन्दर और चन्द्रगुप्त उनके अस्त्र हैं।" (पृ० १४६) प्रसाद जी ने अरस्तु की नीति को विशेष स्पष्ट नहीं किया है। अवश्य ही उसके अंधकारमय मलिन पक्ष के कुछ संकेत मिलते हैं।" किन्तु भारतीय बुद्धि को, संस्कृति को अवश्य स्पष्ट किया है। अतैव यह 'चोट' पूरी बन नहीं पायी। यदि अरस्तु और चाणक्य की चोट को राजनीति की चालों की चोट माना जाए तब भी बात बनती नहीं।

सिकन्दर-सिल्यूकस तथा उसकी सेना के आचरण से, उनके द्वारा तथा उनके सम्बन्ध में कहे गए कुछ कथनों से यूनानी सभ्यता-संस्कृति का कुछ आभास मिलता है।

यूनानियों की संस्कृति भौतिकवादी है जो संतुष्ट होना नहीं सिखा सकती। सिकन्दर—सिल्यूकस विश्व-विजय की महत्वाकांक्षा से प्रेरित हो कर भारत पर आक्रमण करते हैं। कार्नेलिया क्योंकि भारतीय संस्कृति से प्रभावित है अतैव वह अपने पिता सिल्यूकस से कहती है—"विजय

की प्रवचंना में अपने को न हारिए, महत्वाकांक्षा के दाव पर मनुष्यता सदैव हारी है।" सिल्यूकस इसका उत्तर देता है—"मुझे दार्शनिकों से विरक्ति हो गई है। क्या ही अच्छा होता कि ग्रीस में दार्शनिक न उत्पन्न होकर, केवल योद्धा ही होते।" (पृ० २००) सिकन्दर भी दाण्ड्यायन से अपनी विजय का आशीर्वाद चाहता है। दाण्ड्यायन भी उसे सचेत करता है : "विजय-तृष्णा का अन्त पराभव में होता है" (पृ० ९८) प्रसाद जी ने सिकन्दर को भारत की दार्शनिक तथा शांतिप्रिय मनोवृत्ति से प्रभावित किया है। सिकन्दर के शब्दों में—"विजय करने की इच्छा क्लान्ति से मिलती जा रही है। हम लोग इतने बड़े आक्रमण के समारम्भ में लगे हैं और यह देश सोया हुआ है, लड़ना जैसे इनके जीवन का उद्वेगजनक अंश नहीं। अपने ध्यान में दार्शनिक के सदृश वे निमग्न हैं।" (पृ० १०२-३) उक्त रेखांकित पंक्ति महत्वपूर्ण है। प्रसादजी ने सिकन्दर तथा एनीसाक्रीटीज के वार्तालाप से स्पष्ट किया है कि ऐसा नहीं कि आलस्य के कारण या वीरता की कमी के कारण भारतीय युद्ध पसंद नहीं करते। सिकन्दर पर्वतेश्वर की वीरता पर ही मुग्ध होता है। सिल्यूकस के आक्रमण पर चन्द्रगुप्त की वीरता तनिक भी शिथिल नहीं होती किन्तु उसकी कामना यही थी कि वह सिल्यूकस का स्वागत युद्ध भूमि में न करके अतिथि के रूप में करता। (पृ० २१०) तात्पर्य यही है कि लड़ना भारतीयों के जीवन का उद्वेगजनक अंश नहीं है।

विजय-लालसा की पैशाची छलना से प्रेरित होकर यवन आक्रमणकारी एक खिलाड़ी की भावना से युद्ध नहीं करते। हत्या, रक्तपात, अग्निकाण्ड के वीभत्स-भयंकर उपकरण जुटाने में उन्हें आनन्द आता है। (पृ० १९९) जीवन-मरण से खेलते हुए, युद्ध के दायित्व का निर्वाह भारतीय कर सकते हैं और जिनकी रण-नीति भी सभ्य-शिष्ट है। प्रसाद ने चन्द्रगुप्त के शब्दों में दोनों देशों की रणनीति का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए कहा है—"यवन लोग आर्यों

की रण-नीति से नहीं लड़ते। वे हमीं लोगों के युद्ध हैं, जिनमें रणभूमि के पास ही कृषक स्वच्छन्दता से हल चलाता है। यवन आतंक फैलाना जानते है और उसे अपनी रण-नीति का प्रधान अंग मानते हैं। निरीह साधारण प्रजा को लूटना, गांवों को जलाना, उनके भीषण परन्तु साधारण कार्य है" (पृ० १३१-१३२) तात्पर्य यह है कि भारतीय सच्चे वीर हैं जो योद्धा से लड़ सकते हैं किन्तु निरीह शांतिप्रिय जनता को आतंकित करना घृणित एवं कायरतापूर्ण समझते हैं। यहां भी यही स्पष्ट होता है कि युद्ध यूनानियों के लिए जीवन का उद्वेगजनक अंश है। कार्नेलिया के अनुसार: "ग्रीक लोग केवल देशों को विजय कर के समझ लेते हैं कि लोगों के हृदय पर भी अधिकार कर लिया।" (पृ १०१) इस कथन से भी यूनानियों की लूट-खसोट करने वाली मनोवृत्ति ही स्पष्ट होती है।

प्रसाद जी ने व्यक्त किया है कि सिल्यूकस तक अकेली नारी को पा कर अपनी कुत्सित मनोवृत्ति का प्रदर्शन किए बिना नहीं रहता। (पृ०६२) अतैव अन्यत्र एक यवन के दुर्व्यवहार के अवसर पर सिंहरण कहता है "यवन, क्या तुम्हारे देश की सभ्यता तुम्हें स्त्रियों का सम्मान करना नहीं सिखाती? क्या सचमुच तुम बर्बर हो?" (पृ० ७६)

प्रसाद जी ने भारत के सांस्कृतिक गौरव को दिखाने के लिए ही भारतीय वीरों को विशेष संस्कृत दिखाया है। ये वीर, वीर का सम्मान करना जानते हैं, और किसी के उपकार का पुरस्कार देने में सदैव तत्पर रहते हैं। प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त तथा सिंहरण से बार-बार यह कहलवाया है कि: "आर्य कृतघ्न नहीं होते।" (पृ ६४, २१०, २१३) इसीलिए सिंहरण सिकन्दर को और चन्द्रगुप्त सिल्यूकस को मृत्यु-मुख से बचा लेते हैं। क्योंकि सिकन्दर के द्वारा भारतीय वीर पर्वतेश्वर तथा सिल्यूकस के हाथों चन्द्रगुप्त उपकृत हुए थे।

भारत की सांस्कृतिक उदारता का परिचय देने के लिए ही प्रसाद जी ने चाणक्य द्वारा सिकन्दर को वीर कहलवाया है। चाणक्य ने

वापस लौटते हुए सिकन्दर की जलयात्रा की मंगलकामना की है क्योंकि भारतीय युद्ध करना जानते है, किन्तु 'द्वेष नही'। (पृ० १५०) चन्द्रगुप्त भी घायल सिल्यूकस को मुक्त ही नही करता, पुनः मित्रों के समान मिल सकने की कामना भी करता है। (पृ० २१३) सिल्यूक्स और सिकन्दर ऐसे संस्कृत सुव्यवहार से अभिभूत होकर भारत की महत्ता को स्वीकार करते हैं। यदि सिल्यूकस अभिभूत होकर कहता है—'इतनी महत्ता!' (पृ० २१३) तो सिकन्दर विस्मय-विमुग्ध होकर कहता है—"मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया, हृदय देकर जाता हूं।......जिनसे खड्ग परीक्षा हुई थी, युद्ध में जिनसे तलवारें मिली थी, उनसे हाथ मिला कर—मैत्री के हाथ मिलाकर, जाना चाहता हूं।" (पृ० १४९-५०) इस से पहले भी सिकन्दर ने भारत की दार्शनिक सांस्कृतिक महत्ता को स्वीकार करते हुए भारत का अभिनन्दन किया है। उसी के शब्दों में—"मैं ने भारत में हरक्यूलिस, एचिलिस की आत्माओं को भी देखा और देखा डिमास्थनीज को। संभवतः प्लेटो और अरस्तू भी होंगे। मैं भारत का अभिनन्दन करता हूं।" (पृ०१४९)

यवन पात्रों में कार्नेलिया को भारत की महिमा-मंडित संस्कृति पर सर्वाधिक मुग्ध दिखाया गया है। उसे तो इस देश से 'जन्म भूमि के समान स्नेह' हो गया है। यहां की प्राकृतिक सुषमा में वह अपने को भूल गई है। उसका द्रवित भावावेश भारत की अपरिग्रह प्रधान संस्कृति की महिमा का बखान करते हुए कहता है—"यह स्वप्नों का देश, यह त्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि—भारतभूमि क्या भुलाई जा सकती है? कदापि नहीं। अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि हैं। यह भारत मानवता की जन्मभूमि है।" (पृ० १४५) अन्यत्र भी वह भारत को "पवित्र भूमि तथा मिर्मल ज्योति का देश" कहती है। (पृ० १९९) प्रसाद जी का, कार्नेलिया के द्वारा गाया हुआ, 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' गीत अभिधात्मक अर्थ में भारत के प्राकृतिक वैभव को व्यक्त करता हैं किन्तु सांकेतिक अर्थ में सांस्कृतिक गौरव को।

प्रसाद जी ने बताया है कि भारत की ज्ञान ज्योति से ही दूसरे देश प्रकाशित हो रहे हैं।

दाण्ड्यायन तथा चाणक्य के द्वारा भारतवर्ष की आत्मवादी—अन्तर्मुखी संस्कृति का परिचय मिलता है। समष्टि-सौख्य की भावना अथवा विश्व-मंगल की कामना सर्वत्र दिखाई देती है। जीवन पर्यन्त प्रकृति को अपने ज्ञान का दान देकर स्वेच्छा से माया स्तूपों का ठुकराकर अन्तर्निहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि करता हुआ चाणक्य यही कहता है: "भगवान सविता, तुम्हारा आलोक, जगत का मंगल करे!" (पृ० २१७)

सिकन्दर को दाण्ड्यायन ने यश-विजय आदि किसी प्रकार का आशीर्वाद न देकर गायत्री मन्त्र का सार-विचार दिया है—'तुम्हें सुबुद्धि मिले'। निस्सन्देह यही सबसे बड़ा आशीर्वाद हो सकता है।

भारतवासी वीर हैं, वीरता का अभिनन्दन करते हैं क्योंकि उनकी आत्मवादी-पुनर्जन्मवादी संस्कृति ने उन्हें निर्भय बना दिया है। अलका के गीत में भारतीय वीरों के उद्‌बोधन के लिए इसी अमरता का स्वर है—

"अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो॥"

(पृ० १९४)

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसाद जी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना से भारतवासियों की हीनता ग्रन्थि को दूर करने का प्रयत्न कर रहे थे।

अंग्रेजों ने भारत के इतिहास को भी विकृत करने का प्रयास किया है। प्रसाद जी ने जहां वर्तमान के लिए आदर्श संगठित करने के लिए स्वर्णिम अतीत का चित्रण किया वहां उनकी इतिहास के प्रति स्वतन्त्र रुचि भी थी। उनमें ऐतिहासिक अनुसंधान वृत्ति थी। इसका प्रमाण इस नाटक के प्रारम्भ में लिखी हुई प्रसाद जी की विस्तृत भूमिका है।

इसी के अनुसार चन्द्रगुप्त नाटक का एक उद्देश्य चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व का निर्माण करना भी है। प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में फैली हुई भ्रांति का उल्लेख चाणक्य द्वारा पर्वतेश्वर की शंका के समाधान के रूप में किया है। जब चाणक्य चन्द्रगुप्त का परिचय 'मौर्य सेनानी का पुत्र' कह कर देता है तो पर्वतेश्वर नन्द के सिंहासन को चन्द्रगुप्त को देने पर इसलिए आपत्ति करता है कि वह भी नन्द के समान वृषल है। चाणक्य ने इसका खंडन करते हुए चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय बताया है। (पृ० ६०)

चन्द्रगुप्त नाटक में कला की दृष्टि के अनेक त्रुटियां हैं।*किन्तु राष्ट्र के स्वरूप-बोधन तथा राष्ट्रीय भावना के उद्बोधन में यह प्रसाद के नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है।

---

* इस की व्याख्या अन्यत्र की गई है।

'चन्द्रगुप्त' का नायक

यद्यपि नाटक का नामकरण 'चन्द्रगुप्त' कर के नाटक के नायकत्व के सम्बन्ध में प्रसादजी ने स्वमत दे ही दिया है किन्तु चाणक्य के विराट व्यक्तित्व ने इस प्रश्न को विवादास्पद बना दिया है। अजात शत्रु नाटक में भी नायकत्व का प्रश्न उलझा हुआ है।

अब हम नायक की विभिन्न कसौटियों पर चाणक्य-चन्द्रगुप्त को परखेंगे।

१. नायक शब्द संस्कृत की 'नी' धातु से निकला है जिसका अर्थ है 'ले जाना'। चाणक्य और चन्द्रगुप्त प्रारम्भ से अन्त तक कथा को आगे ले जाने वाले हैं। दोनों आद्यांत नाटकीय कथा श्रृंखला को जोड़ते रहे हैं।

२. भारतीय परम्परा के अनुसार नायक सर्वगुण सम्पन्न होता है। उसे विनयशील, सुन्दर, त्यागी, कार्य-दक्ष, प्रियवादी, लोक प्रिय, पवित्र विचारों वाला, सुवक्ता, कुलीन, स्थिरचित्त, युवक, बुद्धिमान, उत्साही स्मृतियुक्त, प्रज्ञावान, कलावान, स्वाभिमानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रज्ञ तथा धार्मिक होना चाहिए। ऐसे सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति के चरित्र के उद्घाटन से सामाजिकों के सन्मुख एक महान आदर्श की स्थापना करना भारत की आदर्शवादी परम्परा का प्रयत्न रहा है।

चन्द्रगुप्त नाटक का ख्यातवृत्त होने से, चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति कुल-शील में श्रेष्ठ हैं। विदेशियों ने चन्द्रगुप्त की कुलीनता के सम्बन्ध में जो प्रश्न चिन्ह लगा दिया था उसका उत्तर प्रसाद ने चाणक्य द्वारा पर्वतेश्वर की सभा में दिया है। भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण योग देने वाले इन दोनों व्यक्तियों में सामान्यतः सभी गुण हैं। फिर भी चाणक्य में त्याग-तेजस्विता तथा

बुद्धिवैभव चन्द्रगुप्त से अधिक है। किन्तु चाणक्य विनीत-मधुर नही। फिर भी चाणक्य की अविनीतता व्यक्तिगत नहीं, वह समाज-कल्याण की उपकरण मात्र है क्योंकि 'महत्त्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है'। और चाणक्य की यह महत्वाकांक्षा चन्द्रगुप्त की दृष्टि से है। राजनीति की कुटिल-क्रूर क्रीड़ा में राजनीतिज्ञ चाणक्य को क्रूर रूप धारण करने पड़ते है अन्यथा कहीं भी व्यक्तिगत लाभालाभ की दृष्टि से उस ने ऐसा कोई कार्य नहीं किया जो उसके चरित्र पर अनौचित्य की मुहर लगा,दे।

दृढ़ता दोनों में है किन्तु चन्द्रगुप्त की दृढ़ता राष्ट्रीय क्षेत्र में ही प्रशंसनीय है उसके व्यक्तिगत-शृंगारिक पक्ष में नही, जिसमें चाणक्य इससे ऊंचा उठ जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'चितामणि' में एक ही व्यक्ति में विरोधी गुणों के सामञ्जस्य-सौंदर्य की जो चर्चा की है वह विशिष्टता चाणक्य में है किन्तु चन्द्रगुप्त में नहीं। अन्य नाटककारों ने चाणक्य का एकांगी 'कौटिल्य' रूप ही प्रस्तुत किया है किन्तु प्रसाद के कवि ने अपनी कल्पना से इस बालुका-राशि-वत् शुष्क हृदय में भी सुधा-सी लहर दौड़ा दी है, उसमें भी बाल्यकाल की स्निग्ध-मधुर स्मृतियां भाँवरियाँ लेने लगती हैं। सुवासिनी के प्रति उसकी स्निग्ध मानवीय दुर्बलता ने उसके व्यक्तित्व को और भी सबल बना दिया है —उसका व्यक्तित्व इस आंतरिक संघर्ष से तेजवान हो गया है। कामना-नदियों को पचाते हुए सीमा से बाहर न जाने वाला उसका व्यक्तित्व और भी खिल उठता है जब वह सुवासिनी को कहता है कि वह अभ्यास करके उससे उदासीन हो सकता है और वह अभ्यास कर के यौवन-काल के प्रेमी राक्षस की ओर उन्मुख हो सकती है। चाणक्य में कामनाओं के नूपुर की झंकार के श्रवण की सामर्थ्य है किन्तु अपने महत् विचारों को संकलित कर आगे बढ़ जाने की क्षमता भी; अन्तर्निहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि की शक्ति भी। चाणक्य राजनीति के विषम प्रपंचों में बुरी तरह फंसता है, आर्यसाम्राज्य का

निर्माणकर्त्ता होने का गौरव प्राप्त करता है, किन्तु अंत में उसका कर्मकुलाल चक्र निर्मित भाण्ड उतार कर धर सकता है। उसका व्यक्तित्व स्वेच्छा से माया स्तूपों को ठुकरा कर अपने चेतना-सागर को निस्तरगं तथा 'ज्ञान ज्योति को निर्मल' बना सका है। अपने ही प्रतिद्वन्द्वी राक्षस को वह क्षमा ही नहीं करता, मन्त्रित्व के साथ हृदय-हार भी पहना देता है। वह राष्ट्र के लिए कुसुमबालिकाओं को मसलवा सकने की क्रूरता कर सकता है किन्तु अपने हत्यारों को क्षमा करने की कोमलता भी उसमें है। नाटक की समाप्ति के साथ चाणक्य के विरोधी गुण भी चरमोत्कर्ष पर पहुंच जाते है। स्लियूकस को हरवा कर, राक्षस को मंत्रित्व देकर, वह विरक्त हो चुका है। यह भी कह चुका है कि उसका कर्म कुलाल चक्र निर्मित भांड उतार कर धर चुका है किन्तु चंद्रगुप्त को सदा के लिए 'मेघमुक्त चद्र' देखने की प्रतिज्ञा से, दो बालुकापूर्ण कगारों के बीच निर्मल स्रोतस्विनी बहाने के लिए—सिल्यूकस को उसकी पुत्री चंद्रगुप्त को ब्याह देने की मंत्रणा देने के लिए—एक बार पुन: रंगमंच पर आ जाता है। पर चंद्रगुप्त-कार्नेलिया की विवाह-सिद्धि के साथ ही वह मौर्य का हाथ पकड़कर वैराग्य-साधन के लिए चलने की तत्परता प्रकट कर सका है। चाणक्य के गुणों की उक्त विशेषताओं से उसकी महासत्व गम्भीर प्रकृति का पूर्ण परिचय मिलता है। चंद्रगुप्त में चाणक्य की गम्भीर प्रकृति के स्थान पर चंचल स्वभाव का परिचय मिलता है। दाण्ड्यायन के आश्रम में चंद्रगुप्त के भारतवर्ष के भावी सम्राट बनने की गौरवमयी भविष्यवाणी पर सब चन्द्रगुप्त की ओर देखने लगते है किन्तु चन्द्रगुप्त कार्नेलिया की ओर देखने लगता है। मालविका उसकी ताम्बूल वाहिनी नही, दासी नही, 'मित्रता तथा विश्वास की प्रतिकृति है', किन्तु उसकी मृत्यु पर उसमें कितना अंतर्द्वन्द्व चलता है ? बहुत थोड़ा। कल्याणी के अनेक बार प्रेम-प्रकटीकरण करने पर भी अतिम समय जब वह उससे कहती है कि 'उसने वरण किया था केवल एक ही पुरुष

को, वह था चन्द्रगुप्त' तो वह आश्चर्य चकित अनभिज्ञता का आभास देता है। (पृ० १७६) कल्याणी की मृत्यु के बाद भी उसमें अपेक्षित अन्तर्द्वन्द्व दिखाई नहीं देता। मालविका ने चंद्रगुप्त की चंचल मनोवृत्ति के अनुकूल ही निम्न गीत गाया है —

मधुप कब एक कली का है।

...　　...　　...

हो मल्लिका, सरोजिनी या यूथी का पुंज।
अलि को केवल चाहिए सुखमय क्रीड़ा कुंज॥

यहाँ मल्लिका, सरोजिनी या यूथी मानों मालविका, कल्याणी तथा कार्नेलिया हैं; मधुप चंद्रगुप्त है। गीत की समाप्ति के बाद चंद्रगुप्त मानो अपनी चंचल मनोवृत्ति को स्वीकार करता हुआ कहता है—'मन मधुप से भी चंचल और पवन से भी प्रगतिशील है, वेगवान है।" (पृ० १८५) इसलिए अन्यत्र चाणक्य चन्द्रगुप्त से इतना भी कह सका है—"छोकरियों से बाते करने का समय नही है मौर्य।" (पृ० ११८) वस्तुतः चाणक्य को चन्द्रगुप्त की दुर्बल प्रकृति पर विश्वास नही। चन्द्रगुप्त के माता-पिता के चले जाने पर चाणक्य प्रसन्न होता है क्योंकि उनके 'स्नेहातिरेक से वह (चन्द्रगुप्त) कुछ-का-कुछ कर बैठता।' (पृ० १८२)

३. नायक को जानने की एक यह भी विधि हो सकती है कि नाटक के पात्र किस के साथ बंधे हुए हैं। नाटक के अन्य पात्रों पर वह कितना प्रभाव-विस्तार कर सका है। इस कसौटी पर चाणक्य की महत्ता बहुत बढ़ जाती है। चाणक्य समग्र नाटक पर छाया हुआ है। सभी उससे अभिभूत हैं या आतंकित हैं। इसका प्रमाण यही है कि जो सिंहरण चन्द्रगुप्त के ही शब्दों में उसका 'चिर सहचर' है, कंधे से कंधा भिड़ा कर सदैव उसके साथ रहा है, कठिन अवसर पर चन्द्रगुप्त को छोड़कर चाणक्य का साथ देता है। चाणक्य की ही प्रेरणा से मालवगणों के अधिपति के रूप में सिंहरण

अपने सीमित राज्य को चन्द्रगुप्त के आधीन कर देता है। अलका, सुवासिनी, मालविका चाणक्य की प्रेरणा से बड़े से बडा खतरा मोल लेती है। अलका पर्वतेश्वर के पास जाकर प्रेमका स्वाँग भरती है और उसे सिकन्दर की सहायता करने से रोक देती है। सुवासिनी ग्रीक शिविर मे बन्दिनी होती है और मालविका का तो बलिदान ही हो जाता है। कल्याणी उससे पूर्णतया आतंकित है, अतैव कहती है—"विचित्र ब्राह्मण है आमात्य! मुझे तो इस को देखकर डर लगता है।" (पृ० १३५) पर्वतेश्वर की राजनीति की गति-विधि भी बहुत कुछ चाणक्य द्वारा निर्धारित होती है। चाणक्य की चाल से ही वह चन्द्रगुप्त को नंद के विरुद्ध सहायता देता है। राक्षस शृंगारिक तथा राजनीति की दृष्टि से भी चाणक्य का प्रतिद्वन्द्वी है। वह चाणक्य की महत्ता को स्वीकार करता है और कहता है कि मुझे उससे ईर्ष्या हो रही है। युद्ध-समाप्ति के पश्चात सिल्यूकस भी उस बुद्धिसागर को देखने की 'बडी अभिलाषा' करता है (पृ० २२१) जो आर्य-साम्राज्य का निर्माण-कर्त्ता' है। (चन्द्रगुप्त के शब्द पृ० २१६) कात्यायन भी वार्तिक लिखने की सहायता की दृष्टि से चाणक्य की महत्ता को स्वीकार करता है। स्वयं चन्द्रगुप्त भी बहुत-कुछ चाणक्य से बंधा हुआ है। नाटक के प्रथम दृश्य मे हम उस चन्द्रगुप्त के सम्पर्क में आते है जिस को राष्ट्रीय स्वरूप का ज्ञान नही और जो मालव और मागध के प्रांतीय भेदों की मनोवृत्ति रखता है। इस दृष्टि से सिंहरण मे राष्ट्रीय दृष्टिकोण अधिक है क्योंकि वह मालव और मागध किसी का न होकर समग्र भारतवर्ष का है। चाणक्य को इसलिए चन्द्रगुप्त को समझाना पडता है कि उसे आत्मसम्मान तभी मिलेगा जब वह मालव-मागध के भेद को भूल कर आर्यवर्त का नाम लेगा। चन्द्रगुप्त युद्ध करता-करता जैसे थक-सा जाता है। मानों स्वयंस्फूर्ति से इन जंजालो मे न उलझा हो। क्योंकि वह यही कहता है "गुरु देव क्या चाहते हैं। समझ मे नही आता।" (पृ० १८४) यही नही चन्द्रगुप्त के विवाह के

सम्पादन में चन्द्रगुप्त के प्रेम के साथ चाणक्य की नीति प्रमुख है। उसकी एक प्रेयसी का वह बलिदान कर सकता हे, दूसरी के लिए 'चन्द्रगुप्त तुम निष्कंटक हुए' कह सकता है और तीसरी के साथ अपनी योजनानुसार विवाह करवा सकता है।

४. नायक को जानने की एक शास्त्रीय विधि यह है कि फल का भोक्ता कौन है? चन्द्रगुप्त का उद्देश्य है विदेशियों के निष्कासन द्वारा सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न आर्य साम्राज्य की स्थापना। इस दृष्टि से विचार करने पर, उक्त लक्ष्य सिद्धि के लिए नंद, सिकंदर तथा सिल्यूकस के विरुद्ध संघर्ष में प्रत्यक्ष रूप से चन्द्रगुप्त ही सक्रिय रहता है। राज्य की प्राप्ति भी उसे होती है, वही फल का उपभोग करता है। वह संयुक्त आर्य साम्राज्य का सम्राट बनता है। फिर भी परोक्ष दृष्टि से उक्त तीनों ही संघर्षो मे चाणक्य का पूरा हाथ है। मानों चंद्रगुप्त और चाणक्य एक दूसरे के पूरक है। अंत मे स्वय चद्रगुप्त चाणक्य की महत्ता मे 'आर्य साम्राज्य का निर्माणकर्त्ता ब्राह्मण' कह कर चाणक्य को गौरव देता है। चाणक्य ब्राह्मण था। उसका लक्ष्य स्वयं राजा बनना नही, राजाओं को बनाना था। चद्रगुप्त को मेघ मुक्त चंद्र देखकर उसे रंगमंच से हट जाना था। स्वेच्छा से माया स्तूपों को ठुकरा देना था। इस दृष्टि से दोनों अपने कर्तव्यकर्म में पूरे सफल हुए हैं। यहां शास्त्रीय दृष्टि से चाहे चंद्रगुप्त के नायक होने का पक्ष प्रबल है किंतु महाभारत के समान यह प्रश्न उठे बिना नहीं रहता कि कृष्ण बड़े या अर्जुन? आधुनिक दृष्टिकोण से यदि विचार किया जाए तो युद्ध-विजय मे जो गौरव चर्चिल को मिला उस के सेनानायकों को नहीं। यह महत्त्वपूर्ण है कि आंशिक रूप से चाणक्य ने सेनापति का कार्य भी किया है। सेना का संचालन तो चन्द्रगुप्त ही करता है किन्तु रण-नीति का निर्धारण-निर्देशन चाणक्य द्वारा भी हुआ है। (पृ० २०९)

५. नाटककार ने अपने दर्शन को किस के द्वारा अभिव्यक्त किया है, नायक को जानने की एक यह भी विधि हो सकती है। साहित्य आत्माभिव्यक्ति है और नाटक वस्तुगत होता हुआ भी नाटककार को अभिव्यक्त करता है। अवश्य ही नाटककार की यह अभिव्यक्ति परोक्ष रूप से होती है, उपन्यासादि की भांति प्रत्यक्ष रूप से नही। नाटककार प्रायः नायक से तादात्म्य करता है, उसीसे वह बहुत कुछ अभिव्यक्त करता है। प्रसाद जी इतिहास को दर्शन का बर्हविकास मानते है। अतैव वह भौतिक घटनाओं के मूल में सन्निविष्ट सूक्ष्म आध्यात्मिक-सास्कृतिक विचारधारा का स्पष्टीकरण अवश्य करते है। यह सब चाणक्य के द्वारा हुआ है। प्रसाद जी के सांस्कृतिक सार-सूत्र चाणक्य के माध्यम से व्यक्त हुए है। प्रसाद जी इस ओर सजग थे अतैव कार्नेलिया द्वारा इसका स्पष्टीकरण भी हुआ है—"यह युद्ध ग्रीक और भारतीयो के अस्त्र का ही नही, इसमे दो बुद्धियाँ भी लड़ रही है। यह अरस्तू और चाणक्य की चोट है, सिकन्दर और चन्द्रगुप्त उनके अस्त्र है।" (पृ० १४६) चन्द्रगुप्त की प्रेमिका—जिसने 'भारत का अध्ययन किया है'—के द्वारा उक्त कथन साभिप्राय है।

६. नाटक के मुख्य रस का आधार कौन है—यह भी नायक को परखने की एक महत्वपूर्ण कसौटी हो सकती है, क्योंकि वस्तु, नेता और रस नाटक के मूल तत्त्व माने गए है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक का मुख्य रस वीर रस है। नाटक के तीन प्रमुख संघर्षो का प्रत्यक्ष आश्रय चन्द्रगुप्त ही रहा है और आलम्बन रहे हैं नंद, सिकन्दर और सिल्यूकस। अतैव रस की दृष्टि से चन्द्रगुप्त ही नायक ठहरता है। किंतु चाणक्य क्या वीर नही? चन्द्रगुप्त के कथनो से कहीं अधिक स्थान-स्थान पर मिलने वाले उसके उत्साह पूर्ण कथनों की उपेक्षा नही हो सकती। आ० रामचन्द्र शुक्ल ने 'उत्साह' पर लिखते हुए बुद्धिवीर के सम्बन्ध में सोचा-विचारा है। मुद्राराक्षस नाटक में चाणक्य और राक्षस में बुद्धि की—शस्त्र की नही—जो चोटें चलती है, वे उन्हे वीर कहने की प्रेरणा देत।

शुक्ल जी लिखते हैं कि ऐसे उत्साह वाले को कर्मवीर कहना चाहिए या बुद्धिवीर ? (पृ० १०, चिंतामणि) चाणक्य को चाहे बुद्धिवीर कहा जाए चाहे कर्मवीर, वह वीर अवश्य है। उसकी तेजस्विता चन्द्रगुप्त से भी कहीं अधिक प्रभावित करती है। नाटक के वीरत्वपूर्ण वातावरण में उसने चन्द्रगुप्त से अधिक योग दिया है। अवश्य ही शास्त्रीय दृष्टि से रस के सम्पूर्ण अवयवों के साथ—रस का विवेचन करने पर चन्द्रगुप्त ही वीर रस का मुख्य आधार है।

प्रसाद के नाटकों में शांत रस, वीर और शृंगार रसों को अतिरंजित होने से बचाता है और एक प्रकार का नियंत्रण-सा करता है। उस शांत रस का आश्रय चाणक्य है।

७. अंत में हमें लेखक के स्वमत से भी परिचित होना आवश्यक है। प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त के उत्कर्ष के लिए, मानों मुद्राराक्षस के चन्द्रगुप्त की कठपुतली चाल को ध्यान में रखा है। प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त के महत्व को बढ़ाने के लिए निम्नलिखित प्रसंगों की विशेष योजना की है—

(क) कल्याणी को शेर से बचाना।
(ख) फ़िलिप्स को द्वन्द्व युद्ध में हराना।
(ग) चाणक्य को बन्दीगृह से मुक्त कराना।
(घ) सफलता से दक्षिण भारत की विजय करना।
(ङ) ग्रीक शिविर में सिकन्दर के सामने दूसरों को घायल करते हुए निकल भागना।
(च) दाण्ड्यायन के द्वारा उसके भारत के सम्राट होने की भविष्य-वाणी करवाना।
(छ) चन्द्रगुप्त का एक न्याय प्रिय राजा के समान चाणक्य की हत्या करने के आरोप में अपने पिता तक को क्षमा न करने की तत्परता दिखाना।

(ज) एक स्थल पर चाणक्य-सिंहरण की उपेक्षा दिखाकर उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का परिचय देना। मानों प्रसाद जी ने सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वह 'किसी के प्रयत्न के फल का भोक्ता कठपुतली मात्र नहीं, अपना क्षत्रिय भाग भी सुचारुरूप से जुटाने वाला है।'

(झ) प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त नाटक की भूमिका लिखकर तथा उसी के अनुसार नाटक में चाणक्य के द्वारा पर्वतेश्वर की राज्यसभा में चंद्रगुप्त के उच्च वंशीय होने की घोषणा की है।

(ञ) नाटक का नाम चंद्रगुप्त है।

उल्लिखित सभी तर्कों से यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि नाटक का नायक कौन है? अवश्य ही शास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार करने पर चंद्रगुप्त का पक्ष प्रबल ठहरता हैं, किंतु प्रसाद जी के अंतर्मन में चाणक्य की महत्ता इतनी स्वीकृत थी, ब्राह्मणत्व का तेज इतना प्रदीप्त था, कि वह चाणक्य के महाकाव्योचित विराट व्यक्तित्व के सामने चन्द्रगुप्त के नायकत्व का अनुभव कराने में असमर्थ रहे हैं।

ग. 'चन्द्रगुप्त' नाटक के कुछ दोष

चन्द्रगुप्त नाटक के कुछ दोष उतने ही मुखर हैं जितने गुण। सभी दोषों में नाट्यकला को कुण्ठित करने वाले चरित्र सम्बन्धी दोष अत्यन्त व्यक्त हैं। अतैव पहले हम उन्हीं को लेंगे।

पश्चिमी नाट्यकला में संघर्ष को नाटक का प्राण माना गया है। भारतीय नाट्य शास्त्र में भी नायक की फल-सिद्धि में बाधक प्रतिनायक के विशेष उल्लेख से संघर्ष अन्तर्भूत है। फिर भी यहाँ आदर्शवादी वातावरण तथा रस निषपत्ति पर अधिक बल देने से पश्चिम के समतुल्य संघर्ष पर बल नहीं दिया गया। पूर्व-पश्चिम के मत को एक ओर रख कर, यदि मनोवैज्ञानिक धरातल पर भी सोचा जाए तो नाटक में संघर्ष की योजना अनिवार्य ठहरती है। संघर्ष-विघर्ष से ही नायक के चरित्र में उत्कर्ष तथा तेजस्विता आ सकती है। नायक के कर्म का सौन्दर्य उतना ही अधिक खिलता है, जितनी प्रबल अवरोधक शक्तियों पर वह विजय प्राप्त करता है। इस दृष्टि से विचार करने पर चन्द्रगुप्त नाटक में प्रसाद जी चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य के विरुद्ध किसी शक्तिशाली प्रतिनायक का स्वरूप-निर्माण नहीं कर सके और नाटक में संघर्ष कम हो गया है। 'नायक कौन ?' से भी अधिक, चन्द्रगुप्त में यह प्रश्न उठता है कि इसका प्रतिनायक कौन है ? नन्द, सिकन्दर, सिल्यूकस तथा राक्षस मिलकर प्रतिनायक का स्वरूप खड़ा करते हैं किन्तु एक तो प्रसाद ने इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तियों का चरित्र कुछ विकृत कर दिया है दूसरे चाणक्य -चन्द्रगुप्त की शक्तियों का अतिरंजित चित्रण हुआ है। ये दोनों जिस विचार को निश्चित कर लेते हैं वह हो कर ही रहता है।

इन दोनों की गति अप्रतिहत तथा स्वच्छन्द है। विरोधी शक्तियों की दुर्बलता से बराबर की चोट का आकर्षण 'चन्द्रगुप्त' में नही मिलता।

'चन्द्रगुप्त' का राक्षस 'मुद्राराक्षस' का राक्षस नहीं—न इसकी स्वामि-भक्ति स्पष्ट होती है न नीति-निपुणता। 'मुद्राराक्षस' में चाणक्य और राक्षस की खरी चोट है किन्तु यहां इसका हतप्रभ आभास मात्र है। ऐसा इसलिए हुआ है कि प्रसाद ने राक्षस को अनेक प्रकार से अपमानित किया है। प्रसाद के राक्षस में गुणों का अभाव है—निर्गुणत्व है यही बात नहीं, अपितु यहाँ अनेक दोष है। 'राक्षस सचमुच राक्षस होगा'—ऐसा कहलवाकर राक्षस को रंगमंच पर सामने लाया जाता है। (पृ०६३) उसे 'कला-कुशल विद्वान' के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है, एक नीति-कुशल राजनीतिज्ञ तथा स्वामिभक्त के रूप में नही। नंद भी उसके गान और मूक अभिनय पर मुग्ध होकर, उसे कुसुमपुर के रत्न के रूप में अपने आमात्यवर्ग में स्थान देता है। (पृ० ६५) दूसरे दृश्य के बाद उसकी कला-कुशलता का भी कहीं परिचय नही मिलता। उसे एक रूप-लुब्ध, इर्ष्यालु प्रतिनायक के रूप में चित्रित किया गया है। इस दृष्टि से भी अपने प्रतियोगी चाणक्य का कोई गुण उसमें नहीं—वह दुर्बल है और उसी के द्वारा या नेपथ्य से उसके लिए गाए गीतों की प्रथम पंक्ति उसके चरित्र को व्यक्त करती है—

निकल मत बाहर दुर्बल आह !
लगेगा तुझे हँसी का शीत, (पृ० ६५)

तथा

कैसी कड़ी रूप की ज्वाला ! (पृ० १७९)

वह नारी के इशारों पर नाचता है, उसमें अपना व्यक्तित्व नही। सुवासिनी के कहने पर वह राजचक्र में बौद्धमत का समर्थन करने पर प्रस्तुत हो जाता है। (पृ० ६९) सुवासिनी उसके लिए एक लालसा है, एक प्यास है। वह अमृत है जिसके पाने के लिए वह सौ बार

मर सकने की कामना करता है। (पृ० ७०) वह उसके अंक में सिर रखकर, विश्राम करते हुए ही मगध की भलाई के लिए सोच सकता है। अन्यथा वह विवश है। (पृ० १७८) राक्षस, चाणक्य का राजनीतिक प्रतियोगी नहीं, शृंगारिक प्रतिस्पर्धी है। पर 'प्रतिस्पर्धी' भी उसे पूरा नहीं कहा जा सकता। वह ईर्ष्यालु है जिसे वह स्वयं स्वीकार करता है। (पृ० १४१) शुक्ल जी ने 'चिंतामणि' में लिखा है "ईर्ष्या वह लज्जावती वृत्ति है जो अपने धारण कर्त्ता स्वामी के सामने भी मुंह खोलकर नहीं आती"—ईर्ष्या कोई स्वीकार नहीं करता, किन्तु प्रसाद का राक्षस इसे भी स्वीकार करता है। राक्षस की स्वामी-भक्ति भी बहुत कुछ सुवासिनी-प्रेम का उपकरण मात्र है। जब वह यह समझ लेता है कि चाणक्य सुवासिनी को नहीं छोड़ सकता तब वह चाणक्य से 'टक्कर' लेने का ध्येय निश्चित करता है और इसीलिए आगे सोचता है कि चंद्रगुप्त सम्राट् हो सकता है तो दूसरे भी कल्याणी आदि, इसके अधिकारी हो सकते हैं। (पृ०१७५) अतैव स्पष्ट है कि उसकी स्वामि भक्ति भी सुवासिनी भक्ति है। अन्यत्र इसे वह स्वयं स्वीकार भी करता है: "मै सुवासिनी के लिए मगध को बचाना चाहता था।" (पृ० १४०) राक्षस की जिस मुद्रा को लेने के लिए 'मुद्राराक्षस' में चाणक्य को अनेक चालें चलनी पड़ती हैं उसे यहां चाणक्य राक्षस को सुवासिनी-प्राप्ति का लालच देकर बड़ी आसानी से प्राप्त कर लेता है। (पृ० १४७) आगे चलकर सुवासिनी के कारण चाणक्य से व्यक्तिगत प्रतिशोध लेने के लिए विदेशियों से मिल जाता है और देश द्रोही बनता है। कार्नेलिया उसे समझाती है कि: "जिस देश ने तुम्हारा पालन पोषण करके पूर्व उपकारों का बोझ तुम्हारे ऊपर डाला है, उसे विस्मृत करके क्या तुम कृतघ्न नहीं हो रहे हो ?" किन्तु वह अपने प्रतिशोध को देश से भी ऊपर समझता है। (पृ० १९९) कार्नेलिया उसे 'देशद्रोही' ही नहीं कहती यह भी कहती है कि "उसके देश ने उसका नाम कुछ समझकर ही रक्खा है—राक्षस !" (पृ० २००)

राक्षस की निर्जीवता तथा व्यक्तित्व हीनता वहां और भी स्पष्ट होती है जहाँ वह चाणक्य की चाल देखकर कहता है—"क्या तुमने सबको मूर्ख समझ लिया है ?" चाणक्य का उत्तर है—"जो होंगे वह अवश्य समझे जाएंगे।" (पृ० १३३) चाणक्य ने राक्षस को मूर्ख कह दिया किन्तु राक्षस मानों इसे स्वीकार कर लेता है और चाणक्य को ऐसा ही उत्तर नहीं दे पाता। अन्यत्र राक्षस 'मेरी मूर्खता' कह कर इसे स्वीकार भी करता है। (पृ० १५१) ऐसे दुर्बल व्यक्ति में केवल एक ही गुण हो सकता है कि वह शत्रु की प्रशंसा करता रहे और वह चाणक्य की करता भी रहता है। सारतः 'मुद्राराक्षस' के या इतिहास प्रसिद्ध राक्षस के चरित्र को गिरा कर इतिहास सम्बन्धी त्रुटि ही नहीं की गई, नाटकीय संघर्ष भी कम हो गया है। इसलिए चाणक्य का 'कौटिल्य' रूप भी उत्कर्ष को प्राप्त नही हो सका। अंत में चाणक्य राक्षस को चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनाकर रंगमंच से हट जाता है। इसमें किसी प्रकार की बौद्धिक संगति नही। राक्षस में ऐसा कोई गुण नही कि उसे मन्त्री बनाया जाए। इस से तो चाणक्य की समझदारी पर शंका होने लगती है। वस्तुतः मुद्राराक्षस के राक्षस को मन्त्री बनाया जा सकता है किन्तु चन्द्रगुप्त के राक्षस को कदापि नही। यही दो प्रश्न सामने आते हैं। पहला, ऐतिहासिक नाटककार इतिहास के साथ कल्पना का उपयोग किस सीमा तक करे ? ऐसा दिखाई देता है कि प्रसाद ने सीमा से अधिक कल्पना से काम लिया है। राक्षस के चरित्र की अन्तिम परिणति इतिहास के आधार पर है और शेष में कल्पना के अतिक्रमण से असंगति का आ जाना स्वाभाविक था। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि नाटककार किसी चरित्र की अवतारणा निरुद्देश्य नहीं करता। किन्तु यहां राक्षस के इस भाँति दूषित चरित्र-चित्रण से चरित्र-सार्थकता पर भी प्रश्नचिन्ह लग जात है।

विश्व-प्रसिद्ध सिकन्दर को भी प्रसाद जी ने अपमानित किया है। ग्रीक शिविर में सभी ग्रीक योद्धाओं तथा सिकन्दर के मध्य से जैसे

अकेला चन्द्रगुप्त तलवार घुमाता हुए निकल जाता है, वंह उपहासास्पद भी है और सिकन्दर का अपमान भी। क्या चन्द्रगुप्त के वीरत्व को इतनी सस्ती रीति से दिखाना आवश्यक था ? चन्द्रगुप्त के तलवार चलाकर भागने पर उसे पकड़ने के लिए किसी को प्रयत्न करते नहीं दिखाया गया क्योंकि प्रसाद जी ऐसा चाहते नहीं थे। सिकन्दर केवल सिल्यूकस से आश्चर्य प्रकट कर रह जाता है—"यह क्या ?" इस प्रश्न पर सिल्यूकस के निम्न उत्तर में प्रसाद जी का पक्षपात स्पष्ट दिखाई देता है—"आप का अविवेक। चन्द्रगुप्त एक वीर युवक है, यह आचरण उसकी भावी श्री और पूर्ण मनुष्यता का द्योतक है सम्राट् ! हम लोग जिस काम से आए है, उसे करना चाहिए ...।" (पृ०१०६) यहाँ चन्द्रगुप्त के कार्य को 'पूर्ण मनुष्यता का द्योतक' बताया गया है और सिकन्दर को अविवेकी। यहां एक नाटककार की निरपेक्षता का वांछनीय गुण कुण्ठित हुआ है। चन्द्रगुप्त के इस प्रकार निकल जाने से क्या उसके वीरत्व की व्यंजना नही हो सकती थी ? पर प्रसाद जी को स्यात् पाठको पर विश्वास नहीं था। अतैव चन्द्रगुप्त के वीरत्व के सम्बन्ध में कहलवाकर ही वह तृप्त हो सके जो अनुचित हस्तक्षेप जान पड़ता है।

प्रतिपक्षियों को दुर्बल दिखाने से नाटक में चन्द्रगुप्त-चाणक्य की सफलता सर्वत्र निश्चित दिखाई देती है और कथा के पूर्वनिर्दिष्ट मार्ग पर चलने से कौतूहल की कमी हो जाती है। सामाजिक साँस रोक कर कभी इस स्थिति में नहीं पहुँचता कि आगे क्या होगा ? संघर्ष की प्रवलता तथा उत्थान-पतन जन्य औत्सुक्य के कारण ही स्कन्दगुप्त नाटक चन्द्रगुप्त से श्रेष्ठ है। नंद दुलारे वाजपेयी के मतानुसार—..."सकन्दगुप्त मे घटनाओं के बीच मे संघर्ष की भावना अधिक प्रबल है और ऐसी स्थितियो की योजना की गई है जो अधिक नाटकीय है;...घटनाओं का भी उसमे पर्याप्त उत्थान-पतन दिखाया गया है। विरोध का तत्त्व स्कन्दगुप्त में अधिक प्रमुख रूप से चित्रित हुआ है।

"इसके विपरीत चन्द्रगुप्त नाटक में, चाणक्य के महाकाव्योचित व्यक्तित्व के कारण विरोध पक्ष बहुत दुर्बल हो गया है। नाटक तथा महाकाव्य में स्वाभाविक अन्तर होता है। नाटक में उत्थान-पतन को अधिक स्थान मिलता है। तभी उसकी नाटकीयता प्रस्फुटित होती है। इस दृष्टि से चन्द्रगुप्त में महाकाव्य का औदात्य अधिक है, नाटक का संघर्ष कम। उसके नायक चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त परिस्थितियों से ऊपर उठे हुए हैं जिससे संघर्ष का पूरा विकास नहीं हो पाया है। अलक्षेन्द्र की रणनीति और वीरता भी इस नाटक में पूर्ण रूप से प्रस्फुटित नहीं हो पाई है।" ('आधुनिक साहित्य' पृ० २४६-४७)

नायक, प्रतिनायक के साथ चन्द्रगुप्त में नायिका का प्रश्न भी उलझा हुआ है। वाजपेयी जी ने इस सम्बन्ध में लिखा है: "कार्नेलिया नाटक के आरम्भ में आकर अन्त में बस एक बार अपने दर्शन देती है। नायिका को नाटक में जो प्रमुखता मिलनी चाहिए वह उसे नहीं मिल पाई। चन्द्रगुप्त में प्रमुखता अलका की है। नायिका की जो क्रमानुगत परिभाषा है, उसके अनुसार कार्नेलिया को नायिका मानना पड़ेगा। कल्याणी समस्त नाटक में पर्याप्त दूरी तक नाटक की सम्भावित नायिका बनने का उपक्रम करती हुई दिखाई देती है, किन्तु न जाने क्यों वह सहसा आत्महत्या कर लेती है। कल्याणी के चरित्र के आधार पर उसकी आत्म-हत्या अस्वाभाविक सी प्रतीत होती है। ऐसा ज्ञात होता है कि यह केवल कार्नेलिया के नायिका पद को स्थापित करने का प्रयास है।" (पृ० २४७-४८ 'आधुनिक साहित्य')

नायिका तथा कल्याणी के सम्बन्ध में उक्त मत की परीक्षा अपेक्षित है। कार्नेलिया प्रथम अंक के बिल्कुल अन्त में मात्र चन्द्रगुप्त को दर्शन देती है। (पृ० ६६) और द्वितीय अंक के आरम्भ में ही उसका वास्तविक आगमन होता है। तीसरे अंक के तीसरे दृश्य तक ही वह रह पाती है तदुपरांत उसका आगमन सिल्यूकस की चढ़ाई के साथ चतुर्थ अंक के सातवें दृश्य में होता है। चतुर्थ अंक के चौदह दृश्यों में भी वह आधे दृश्यों में ही स्थान-

स्थान पर सामने आती है। ऐसी अवस्था में उसे नायिकोचित महत्व मिलना कठिन था। फिर भी प्रसाद जी ने अपनी कल्पना से सिकन्दर के समय ही कार्नेलिया का चन्द्रगुप्त से परिचय-प्रेम तथा भारत-प्रेम दिखाकर अन्त में चन्द्रगुप्त से उसके विवाह को संगति प्रदान करने का प्रयास किया है। क्या इस प्रयास को प्रसाद का कार्नेलिया को नायिका बनाने का प्रयास कहा जा सकता है? उत्तर कुछ भी हो यह प्रश्न अवश्य उठता है कि कल्याणी को नायिका न बनाने, उसकी आत्महत्या करवा देने का क्या उद्देश्य है? यह प्रश्न और भी जिज्ञासोन्मुख करता है क्योंकि—

१. कल्याणी की आत्महत्या इतिहास-विरुद्ध है तथा उसका चन्द्रगुप्त से विवाह इतिहास-सिद्ध है।

२. प्रसाद जी 'चन्द्रगुप्त' से पहले 'कल्याणी-परिणय' नाटक लिख चुके थे जिसमें कल्याणी का चन्द्रगुप्त से परिणय होता है।

३. प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य में ही कल्याणी-चन्द्रगुप्त का परस्पर किशोर-प्रेम का परिचय मिल जाता है।

४. अन्यत्र भी वह चन्द्रगुप्त की सहायता के लिए प्रयत्नशील दिखाई गई है।

५. चन्द्रगुप्त द्वारा शेर से रक्षित होने से वह उसकी उपकृत भी है।

६. मगध से चन्द्रगुप्त के निर्वासन के भीतरी कारणों में से वह भी एक है। (पृ० ११३)

७. वह अपने और चन्द्रगुप्त के मार्ग में बाधक पर्वतेश्वर को भी समाप्त कर चुकी है।

८. अपने पिता की अन्याय पूर्ण नीति से वह असंतुष्ट रही है। इन सब बातों के कारण उसे उपयुक्त अवसर पर चंद्रगुप्त से विवाह करना चाहिए था, आत्महत्या नहीं। स्यात् इसी से आलोचक कहते है कि उसके चरित्र के आधार पर उसकी मृत्यु असंगत है। किन्तु प्रसाद

जी ने किन कारणों से आत्महत्या करवाई, वे भी सोचे जा सकते हैं; वे हैं—

१. प्रसाद जी इस युग की नारी-भावना से विशेष प्रभावित रहे हैं, । वह एक ही व्यक्ति का दो नारियों से विवाह नहीं करवा सकते थे । और वह भी चन्द्रगुप्त जैसे महत्वपूर्ण व्यक्ति से । डी० एल० राय ने दो नदियों के सागर में समा जाने का तर्क देकर परोक्ष रूप से बहुपत्नीत्व का समर्थन कर दिया । किंतु प्रसाद जी इतिहास से वर्तमान के लिए आदर्श संगठित करने का दृष्टिकोण लेकर चले थे, अतैव ऐसा समाधान वह न दे सके ।

२. अब उन्हें कल्याणी या कार्नेलिया में से नायिका के लिए चुनाव करना था । उन्होंने अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अनुकूल, भारतीय गौरव की दृष्टि से कार्नेलिया से चन्द्रगुप्त का विवाह करवाया। चंद्रगुप्त नाटक उद्देश्य-प्रधान है, कला-प्रधान नही ।

३. कल्याणी की मृत्यु की व्याख्या प्रसाद जी के अन्य नाटको तथा कहानियों में चित्रित पात्रों के आधार पर भी की जा सकती है । आदर्श नारी भावना के चित्रण में प्रसाद के ये दो दृष्टिकोण सर्वत्र मिलेगें—(क) नारी में मर्यादा पूर्ण आत्म-सम्मान की भावना ।* (ख) प्रेम तथा कर्तव्य का समतुल्य निर्वाह—न प्रसाद जी प्रेम को झुकने देते है, न कर्तव्य को। 'आकाशदीप' तथा 'पुरस्कार' कहानियां इस मत के प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं। 'आकाशदीप' में नारी अपने पिता हैं के हत्यारे से प्रतिशोध इसलिए नहीं ले सकती क्योंकि वह उसका प्रेमी भी है। किंतु पिता का हत्यारा होने से वह उस से विवाह भी नहीं करती । 'पुरस्कार' में सिंहमित्र की कन्या अपने देश तथा अपने प्रेमी के प्रति समान निष्ठा का अद्भुत निर्वाह करती है, और मृत्युदण्ड का पुरस्कार चाहती है । स्कन्दगुप्त नाटक में देवसेना स्कन्दगुप्त को इस

* इसका उल्लेख डा० जगन्नाथ शर्मा ने 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' में किया है ।

जीवन के देवता तथा उस जीवन का प्राप्य' कहती हुई भी इसलिए विवाह नहीं करती क्योंकि इससे उसके भाई की देशभक्ति का गौरव नही रहता। चन्द्रगुप्त नाटक की कार्नेलिया चन्द्रगुप्त से प्यार करती है किन्तु प्रेम और कर्तव्य के समतुल्य धरातल पर वह अन्त में चन्द्रगुप्त का नाम लेने में कोई अपराध नहीं समझती और 'ग्रीस का आत्मसम्मान जिए' कह कर आत्महत्या के लिए तत्पर हो जाती है। प्रसाद की नारी विषयक इस सामान्य भावना के अनुरूप कल्याणी की आत्महत्या को भी समझा जा सकता है। उसके अडिग आत्मसम्मानी स्वभाव से, तथा अपनी स्थिति के इस विश्लेषण से आत्महत्या के औचित्य को समझा जा सकता है—"मेरे जीवन के दो स्वप्न थे—दुर्दिन के वाद आकाश के नक्षत्र-विलास-सी चन्द्रगुप्त की छवि, और पर्वतेश्वर से प्रतिशोध; किंतु मगध की राजकुमारी आज अपने ही उपवन में बन्दिनी है। मैं वही तो हूँ जिसके संकेत पर मगध का साम्राज्य चल सकता था। वही शरीर है, वही रूप है, वही हृदय पर छिन गया अधिकार और मनुष्य का मानदण्ड ऐश्वर्य। अब तुलना में सब से छोटी हूँ। जीवन, लज्जा की रंगभूमि बन रहा है। (सिर झुका लेती है) तो जब नंदवंश का कोई न रहा, तब एक राजकुमारी बच कर क्या करेगी ?" (पृ० १७४) इस स्वकथन से स्पष्ट है कि वह मनुष्य का मान-दण्ड अधिकार-ऐश्वर्य को समझती है। इसलिए वह 'नगर अवरोध' करते समय ही बन्दिनी हो सकी। उसका जो जीवन हमारे सामने आया है, उसमें वह अपने आत्मसम्मान की रक्षार्थ पर्वतेश्वर से प्रतिशोध लेने में ही तत्पर दीखती है। पर्वतेश्वर की हत्या करने के उपरांत उस का आत्मसम्मान यह इजाज़त नहीं देता कि वह अपने पिता के हत्यारे चन्द्रगुप्त से विवाह करे। एक मात्र उसी को वरण करने के कारण, वह अपने भावी जीवन में किसी और से प्यार नहीं कर सकती थी। अधिकार-ऐश्वर्य लुट गया, पर्वतेश्वर से प्रतिशोध भी ले लिया गया और अपने अभीष्ट पात्र से वह विवाह नहीं कर सकती—ऐसी अवस्था में उसका यह

कहते हुए 'अब मेरे लिए कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहा' (पृ० १७६) आत्महत्या करना खटकता नही। प्रसाद जी ने उसकी आत्महत्या के लिए विशेष मनोवैज्ञानिक स्थिति की सृष्टि की है। यह उल्लेखनीय है कि अपनी आत्महत्या के बिल्कुल पहले उसने आवेश में पर्वतेश्वर की हत्या की थी। वह आवेशमयी मनः स्थिति मे थी··कि चन्द्रगुप्त सामने आ गया। ऐसे हताश आवेश मे अचानक छुरी मारना असंगत नहीं। प्रसाद जी ने यह भी स्पष्ट किया है कि वह समरस स्थिति को कभी प्राप्त नही कर सकी—उसका जीवन सुख-दुःख मे असंतुलित रहा। कल्याणी इसे स्वीकार करती है—"मै अब सुख नहीं चाहती। सुख अच्छा है या दुःख—मै स्थिर न कर सकी।" (पृ० १७६) प्रसाद जी ने राक्षस के द्वारा, कल्याणी की दृष्टि से, नंदराज्य को पुनः प्रस्थापित करने के प्रयत्न तथा चाणक्य के द्वारा कल्याणी की मृत्यु पर यह कहलवाने कि 'चन्द्रगुप्त आज तुम निष्कन्टक हुए,' से कल्याणी की मृत्यु को राजनैतिक संगति भी प्रदान करने का प्रयास है। फिर भी कल्याणी की मृत्यु की संगति, नाटक की नायिका के प्रश्न को नही सुलझा सकती है। वस्तुतः चन्द्रगुप्त नाटक में परुष ने कोमल को बाँध रखा है—यह पुरुष प्रधान नाटक है। राज्यश्री, मल्लिका, अनन्तदेवी ध्रुवस्वामिनी की नारी प्रबलता इसमें नहीं। पुरुष प्रधान में भी यह चाणक्य प्रधान है जिसने किसी नर-नारी पात्र को उभरने का अवसर नही दिया। अतैव ऐसा दिखाई देता है कि प्रसाद ने नायिका-निर्माण का कोई प्रयत्न नहीं किया। चन्द्रगुप्त नाटक की प्रकृति को देखते हुए, नायिका–शून्यता से हमें प्रसाद की नाट्यकला में किसी प्रकार का दोष नही दिखाई देता है। यह आवश्यक नही है कि सदैव शास्त्रीय दृष्टिकोण से ही काम लिया जाय।

चन्द्रगुप्त नाटक में बाह्य विरोध की ही कमी नहीं, पात्रों के भीतर भी विरोधी वृत्तियों के अपेक्षित द्वन्द्व का अभाव है। अवश्य ही चाणंक्य की बाह्य क्रियाशीलता, सुवासिनी के प्रति उसका प्रेम तथा

भीतर की अनासक्ति, वैराग्य तथा राष्ट्र-चिंतन के द्वन्द्व में आकर्षण है किंतु चन्द्रगुप्तकी परिस्थिति निरपेक्ष वीरता में, आंतरिक द्वन्द्व के अभाव से आकर्षण-शून्यता है। स्कन्दगुप्त भी वीर है, किंतु "अधिकार सुख मादक और हीन है" की अन्तर्विरक्ति उसे सजीव बना देती है। इस दृष्टि से स्कन्दगुप्त की तुलना चाणक्य से ही हो सकती है चन्दगुप्त से नही। चन्द्रगुप्त के लिए सर्वस्व लुटाने वाली कल्याणी और मालविका की मृत्यु के बाद भी वह मात्र क्रमशः इतना ही कह पाता है 'गुरुदेव ! इतनी क्रूरता ?' तथा 'आह, वह स्वर्गीय कुसुम'। कल्याणी की आत्महत्या के बाद तनिक भी द्वन्द्व नहीं चलता और मालविका के बलिदान का समाचार सुनकर स्थूल द्वन्द्व का परिचय मात्र मिलता है। सिंहरण दुखद समाचार की सूचना 'गद्गद् कंठ' से देता है किंतु चन्द्रगुप्त स्थिति का विश्लेषण करते हुए, कोरे कंठ से 'आह ! मालविका !' कहता है। 'आह ! मालविका' कहने के बाद वह अन्य चर्चा करता रहता है। अवश्य ही अन्त में वह सिंहरण तथा चाणक्य के चले जाने के दुख से भी मालविका को अधिक गौरव देता है किंतु वह भी कोरे कंठ से। प्रसाद जी अनेक स्थलों पर सात्विक अनुभावों, दीर्घ निश्वास, गद्गद् कंठ आदि का उल्लेख करते हैं किन्तु अपनी प्रेयसी की मृत्यु पर चन्द्रगुप्त एक दीर्घ निश्वास नहीं लेता, एक आँसू नही गिराता। यही नहीं 'गद्-गद् कंठ' से बोलता भी नहीं। मात्र कोरे कथन से मालविका के लिए दुख की अभिव्यक्ति, निर्जीव अभिव्यक्ति है। पता नहीं वाजपेयी जी इससे कैसे प्रभावित हो गए। * शेक्सपीयर के नाटकों में यदि किसी पात्र के सम्बन्ध में ऐसी परिस्थिति आती तो उसके अन्तर्द्वन्द्वमय उद्गार हृदय निकालकर रख देते। किन्तु यहाँ चन्द्रगुप्त संतुलित अवस्था में मालविका से इतर चर्चा करता रहता है और अंत में उसका स्मरण करके मात्र चिंतित भाव से प्रस्थान करता है। मालविका के गौरवमय बलिदान का यह कितना फीका पुरस्कार है।

* देखिए 'नया साहित्यः नए प्रश्न' में मालविका पर लेख।

सारे नाटक में उसने मालविका की पुनः चर्चा कभी नही की। बस एक बार कुछ कह देने से उसका घाव सदैव के लिए भर जाता है। नहीं 'घाव' शब्द लिखना भी गलती है—उसने तो मानों भार उतार दिया। इस प्रसंग में स्कन्दगुप्त के प्रेम का स्मरण हो आता है। वाजपेयी जी ने 'आधुनिक साहित्य' में चन्द्रगुप्त को 'कोरा वीर' कहा था, किंतु ऐसा दिखाई देता है नई पुस्तक में मालविका के प्रसंग मे उन्होंने अपनी धारणा परिवर्तित कर ली है। हमें यह उचित प्रतीत नहीं होता। 'चन्द्रगुप्त' नाटक का सर्वोत्कृष्ट पात्र चाणक्य है जो दूसरे लेखकों के 'चाणक्य' से भी बहुत आकर्षक है।

चंद्रगुप्त नाटक में शृंगार के दो मे से एक पक्ष में संवेदनात्मक भावों से शृंगाररस का परिपाक भी पूरा नहीं हो सका। कल्याणी और मालविका की मृत्यु के बाद करुण रसात्मक वातावरण के निर्माण में भी नाटककार असफल रहा है।

कार्नेलिया के भारत-प्रेम के प्रदर्शन में भी अतिरंजना से काम लिया गया है।

प्रसाद जी के नाटकों का व्यक्तित्व उनकी कवित्व प्रधानता में है। उनके नाटक उनके कवित्व के कारण जीवित रहेगे। चाणक्य, सुवासिनी, कार्नेलिया, मालविका तथा दाण्ड्यायन के प्रसादपूर्ण, सारगर्भित तथा कवित्व-कलित कथन चिर स्मरणीय रहेंगे। कितु कही-कहीं प्रसाद जी कवित्व-मोह में पड़कर अत्यन्त दोषपूर्ण कथन कह गए है। यदि चन्द्रगुप्त के निम्न वार्तालाप को प्रसाद जी का कवित्व-मोह कहकर टाल न दिया जाए तो मालविका के चरित्र की सारी गम्भीर मार्मिकता समाप्त हो जाती है और चन्द्रगुप्त के चरित्र की चांचल्य वृत्ति उभर कर सामने आ जाती है। देखिए—

माल०—आप महापुरुष हैं; साधारण जन-सुलभ दुर्बलता न होनी चाहिए आप में। देव बहुत दिनों पर मैं ने एक माला बनाई है—

(माला पहनाती है)

श्रद्धा से प्रियतम को जो माला पहनाई गई उसे चन्द्रगुप्त यह कहकर स्वीकार करता है—"मालविका, इन फूलों का रस तो भौंरे ले चुके हैं।"

जो मालविका गम्भीर है, चन्द्रगुप्त को संयम का उपदेश देती है, उसका उत्तर और भी कमाल है—नितांत गिरा हुआ—"निरीह कुसुमों पर दोषारोपण क्यों ? उनका काम है सौरभ बिखेरना, यह उनका मुक्त दान है। उसे चाहे भ्रमर ले या पवन।" यदि मधुप और पुष्प का प्रतीकात्मक अर्थ न लिया जाए तो आगे का, मालविका का यह गाना निरुद्देश्य हो जाता है—

मधुप कब एक कली का है !

... ...

हो मल्लिका, सरोजिनी या यूथी का पुञ्ज।
अलि को केवल चाहिए सुखमय क्रीड़ा-कुञ्ज॥

इस पर चन्द्रगुप्त का कहना है—"मालविका, मन मधुप से भी चंचल और पवन से भी प्रगतिशील है, वेगवान है।" जब गीत में मधुप की अनेकमुखी वृत्ति का संकेत है, तब चन्द्रगुप्त का उक्त कथन कि 'मन मधुप से भी चंचल है' कितना सस्ता और भोंडा लगता है।

प्रसाद जी के नाटकों में दोषों की चर्चा करते हुए डा० नगेन्द्र लिखते हैं—"वस्तु विधान में कहीं-कहीं बड़े भद्दे जोड़ लगे हुए हैं। अनेक स्थानों पर नाटककार को घटनाओं की गतिविधि संभालना कठिन हो गया है और ऐसा करने के लिए या तो वांछित व्यक्ति को उसी समय भूमि फाड़कर उपस्थित कर देना पड़ा है अथवा किसी का जबर्दस्ती गला घोंटना पड़ा है। यह बड़े नाटकों में सर्वत्र हुआ है।" चन्द्रगुप्त नाटक उनमें से एक है। पहले हम उक्त कथन के भूमि फाड़कर उपस्थित होने वाले व्यक्तियों को लेंगे। ऐसा दिखाई देता है कि प्रसाद जी के कुछ पात्र ऐसे दिव्य व दैवीशक्ति सम्पन्न हैं कि जब-जहाँ उन की आवश्यकता होती है वह सहसा सामने आ जाते हैं।

कथानक में जहाँ-कहीं कोई विरोध-अवरोध खड़ा हो जाता है या किसी रक्षणीय पात्र के सामने असंभाव्य तथा विकट संकट उपस्थित हो जाता है ये पात्र स्थान-समय की सीमाओं का अतिक्रमण कर सहसा प्रस्तुत हो जाते हैं। इस नाटक में चन्द्रगुप्त यदि अधिक नही तो केवल ग्यारह बार, चाणक्य पाँच बार और सिंहरण दो बार उपस्थित हो जाते हैं। कथानक की स्वाभाविकता पर यह घोर आघात है। नाटक में यदि कुछ ही स्थलों पर कार्य की सहसा सम्पन्नता प्रस्तुत की जाए तो एक चमत्कार उपस्थित हो सकता है किन्तु सीमोल्लंघन से सहसा प्रवेश अस्वाभाविक एवं हास्यास्पद हो जाता है। सामाजिक वांछित व्यक्ति के आगमन का पूर्व-अनुमान कर लेते हैं।

अब हम उक्ति के दूसरे पक्ष पर विचार करते है जिसमें कहा गया है कि प्रसाद जी ज़बरदस्ती पात्रों का गला घोंट देते हैं। कल्याणी की आत्महत्या हमें असंगत नहीं दिखाई देती किन्तु मालविका का मूक बलिदान अवश्य ही खटकता है। कहा जा सकता है, और जैसा कि नन्ददुलारे वाजपेयी का मत भी है, कि प्रसाद ने "मालविका के चरित्र को नारी सुलभ त्याग का आदर्श बनाने की चेष्टा की है।"*

परन्तु वाजपेयी जी ने मालविका तथा प्रसाद की योजना की प्रशंसा करते हुये इस बात पर विचार नहीं किया कि क्या इस बलिदान के बिना चन्द्रगुप्त की रक्षा नहीं हो सकती थी? क्या प्रसाद जी का उस को मरवाना आवश्यक था? नर-नारी की समता विषयक धारणाओं को एक ओर रख कर, चन्द्रगुप्त की मालविका के गीत-शब्दों में, मधुप वृत्ति की उपेक्षा कर के हमें मालविका का बलिदान संगत नहीं जान पड़ता। पता नहीं वाजपेयी जी को इसमें चाणक्य का कौशल कैसे प्रतीत होता है। यह ठीक है कि चन्द्रगुप्त की शैया पर सोने के लिए किसी विश्वास पात्र की आवश्यकता थी और वह मालविका ही हो सकती थी। यह भी ठीक है कि चन्द्रगुप्त

*'नया साहित्य: नये प्रश्न' (पृ० १६१)

की हत्या का षड्यन्त्र जिस गुप्त रूप से किया गया, उसका प्रतिकार भी उतने ही गुप्त रूप से किया जाना था। किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है, क्या मालविका के स्थान पर कोई वैसी ही वस्तु रख कर आवृत नहीं की जा सकती थी। जब हत्या करने वालों ने सूरत देखनी ही नही थी, चन्द्रगुप्त की शैया पर ही वार करना था, तो चाणक्य-नीति की कुशलता ऐसी ही योजना में होती। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि यह योजना गुप्त न रहती। शत्रु के गुप्तचर इसे जान लेते। उत्तर दिया जा सकता है कि गुप्तचर यह भी तो जान सकते थे कि चन्द्रगुप्त रात्रि को प्राचीन राज मन्दिर से सोने के लिए कही और ले जाया जा रहा है। क्या विद्रोहियों और षड्यंत्र कारियों को शयनगृह तक पहुचने के मार्ग पर ही नही पकड़ा जा सकता था? जो चन्द्रगुप्त अकेले ही, सिकन्दर और उसके सैनिकों के होते हुए लडकर भाग सकता है, शत्रुओं को गिराकर चाणक्य को बन्दीगृह से मुक्त करा सकता है, वह सम्पूर्ण शक्ति हाथ में होते हुए विद्रोहियों का प्रतिरोध भी कर सकता था। पर प्रसाद जी को मालविका को मरवाना इसलिए अभीष्ट था क्योंकि कार्नेलिया के लिए स्थान बनाना था। मालविका का बलिदान आदर्श है, मार्मिक है किन्तु उसे वैसा बुद्धि संगत आधार नहीं दिया जा सका जैसा कल्याणी की आत्महत्या को दिया गया।

हमें मालविका के संस्कारों के आधार पर, उस को सौपे गए अननुकूल कार्यों का सम्पादन भी खटकता है। वह उस सिन्ध देश की रहने वाली हैं जहाँ युद्ध-विग्रह नहीं, न्यायालयों की आवश्यकता नहीं, और प्रचुर स्वर्ण के रहते भी वहाँ अर्थ मूलक विवाद नही उठते। वह देश मनुष्य के प्राकृतिक जीवन का सुन्दर पालना है। (पृ० १२०) तात्पर्य यह कि मालविका सरल-निश्छल तथा शांतिप्रिय प्राणी है। हिंसा को वह कितना बुरा समझती है यह उसके स्वकथन से स्पष्ट है—"मैं डरती हूँ, घृणा करती हूँ। रक्त की प्यासी छुरी अलग करो अलका।" (पृ० १३६) श्री सुमित्रानन्दन पंत से एक पंक्ति उधार लेकर मालविका

के चरित्र को व्यक्त किया जा सकता है—"सरलपन ही था उसका मन"। चन्द्रगुप्त भी उसकी सरलता पर मुग्ध है। (पृ० १२०) ऐसी सरला बालिका से प्रसाद जी ने गुप्तचर का—वाजपेयी जी के शब्दों में 'अत्यन्त विश्वसनीय गुप्तचर का'—कार्य लिया है। क्या ऐसा कार्य उसकी प्रकृति के अनुकूल हो सकता है ?

चन्द्रगुप्त के वस्तु-विन्यास पर शास्त्रीय दृष्टिकोण से अनेक आलोचकों ने आक्षेप किए हैं। शास्त्रीय दृष्टि से नाटक के अंक उत्तरोत्तर छोटे होने चाहिएँ किन्तु चन्द्रगुप्त के चार अंकों में क्रमशः दृश्य संख्या बढ़ती गई है—ग्यारह, ग्यारह, नौ और सोलह। यहाँ नौ के बाद दृश्य संख्या कम होनी चाहिए थी जो कि बढ़ कर सोलह हो गई है। यह सुझाव भी दिया जाता है—कदाचित प्रसाद के मन मे भी पहले ऐसी योजना थी जो अपूर्ण रही—कि यह नाटक पाँच अंकों में समाप्त होता। सिल्यूकस अभियान की घटना से पाँचवाँ अंक प्रारम्भ होता तो अन्तिम अंक में दृश्य संख्या के बढ़ जाने का दोष दूर हो जाता है।

शास्त्रीय दृष्टि कोण से यह दोष भी लगाया गया है कि 'चन्द्रगुप्त' के प्रत्येक अंक में नया वस्तु-विन्यास है और घटनाएं उस समगति से अपने लक्ष्य की ओर नहीं बढ़तीं जैसे 'स्कन्दगुप्त' में। 'चन्द्रगुप्त' की अपेक्षा 'स्कन्दगुप्त' में वस्तु का समुचित विभाग और संधियों की योजना अधिक स्पष्ट रूप में हुई है।*

कुछ आलोचकों का मत है कि तीसरे अंक की समाप्ति के साथ नाटक भी पूर्ण हो जाना चाहिए था। चन्द्रगुप्त का सिंहासनारूढ होना इतना महत्वपूर्ण है कि कथा एक बार समाप्त होकर चतुर्थ अंक में पुनः प्रारम्भ की गई है। हम समझते हैं कि तीन अंक अपने आप में पूर्ण नहीं हैं। चन्द्रगुप्त नाटक के प्रथम दृश्य में जिन उद्देश्यों की ओर संकेत मिलता है वह चतुर्थ अंक में ही जा कर पूर्ण होते हैं, जैसे आम्भीक सदृश देश द्रोही का उद्धार, प्रांतीय भेदों का

* देखिए 'आधुनिक साहित्य' पृ० २४७।

निराकरण आदि। सारांश में प्रसाद जी के राष्ट्रीय दृष्टिकोण का प्रतिफलन चतुर्थ अंक की समाप्ति के साथ ही होता है। चन्द्रगुप्त नाटक के उद्देश्य को ध्यान में न रखने से ही उक्त आक्षेप हुआ है।

अवश्य ही प्रसाद जी द्वारा उनकी विभिन्न रुचियों के अनुकूल अनेक पात्रों का सृजन करने से, पात्रों का बाहुल्य हो गया है और उनके लिए अनेक दृश्यों की योजना होने से कथा-विस्तार भी खटकता है। अनेक दृश्य सूच्य हो सकते थे।

ऐतिहासिक दृष्टि से पच्चीस वर्षों की दीर्घ अवधि की घटनाओं के संकलन से चन्द्रगुप्त नाटक में काल-संकलन के अभाव का दोष बताया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आलोचकों की दृष्टि चन्द्रगुप्त नाटक पर न रह कर इतिहास पर रहती है। चन्द्रगुप्त नाटक के पढ़ने से यह कही आभास नहीं होता कि प्रसाद जी पच्चीस वर्षों की घटनाओं को संकलित कर रहे हैं। नीचे हम दो उद्धरण देते है जिनसे पता चलता है कि प्रसाद जी ने इस दोष के निराकरण का प्रयास किया है। सिकन्दर की पराजय के अवसर पर चन्द्रगुप्त सिल्यूकस से कहता है—"...जाओ सेनापति ! सिकन्दर का जीवन बच जाय, तो फिर आक्रमण करना।" (पृ० १३८) चाणक्य कात्यायन से कहता है—"अलक्षेन्द्र कितने विकट परिश्रम से भारतवर्ष से बाहर किया गया—यह तुम भूल गए ? अभी है कितने दिनों की बात। अब इस सिल्यूकस को क्या हुआ, जो चला आया !" (पृ० १९१) नाटककार का सत्य सदैव इतिहास का सत्य नहीं रहता। दूसरे चन्द्रगुप्त नाटक मे चाहे विरोध का स्वर कम है किंतु लक्ष्य-सिद्धि के लिए उद्योग की तत्परता पर्याप्त है—यहाँ आरोह-अवरोह, या उत्थान-पतन का सौन्दर्य चाहे न हो किंतु सतत्-सवेग आरोहण का औदात्य अवश्य है। साथ ही प्रसाद का कवित्व-कलन भी है। अतैव साधारणीकरण से चन्द्रगुप्त का काल संकलन या इतिहास-सत्य का संस्कार हमे उत्क्रांत नही करता, मात्र खटक के रह जाता है।

प्रसाद के नाटकों में रंगमंच विषयक अनेक दोष ढूंढे जाते हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. लम्बे कथानक
२. घटनाओं का घटाटोप
३. कथानकों का विस्तृत कार्य-क्षेत्र
४. युद्धों के विराट प्रदर्शन
५. प्राचीन परम्परा के अनुसार हत्या आदि के वर्जित दृश्य
६. दृश्य विधान की अननुकूल योजना।
७. लम्बे-लम्बे स्वगत कथन
८. गीतों का बाहुल्य
९. क्लिष्ट-कवित्वपूर्ण भाषा
१०. रंगमंचीय संकेतों का अभाव

प्रसाद जी के साहित्यिक नाटक जिन गम्भीर उद्देश्यों को लेकर लिखे गए है, उनके लिए एक विशेष प्रकार के रंगमंच की आवश्यकता है। प्रसाद जी जब नाटक-क्षेत्र में आए तब उन्हें उस पारसी रंगमंच का सामना करना था जहाँ जनता की रुचि को ध्यान में रखकर, सस्ते नाटक अभिनीत होते थे। नाटकों के लिए वे दिन अन्धकारपूर्ण थे जब सामाजिक नाटकीय नियमों का निर्माण करते थे। क्योंकि कलाकार युग भोक्ता ही नहीं, युग निर्माता भी होता है। वह जनता की रुचि का विनोदन ही नहीं परिमार्जन भी करता है। प्रसाद जी को यही अभीष्ट था, अतैव उन्होंने अपने गम्भीर उद्देश्य के अनुरूप सस्ते रंगमंच की परम्परा का त्याग किया। हिन्दी के नाटक साहित्य में इस त्याग का ऐतिहासिक महत्व है। यह किसी अयोग्य-असफल व्यक्ति का उद्घोष नहीं था कि "रंगमंच के सम्बंध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जायँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हों...।"* आलोचकों की सहानुभूति के अभाव में उन्हें रंगमंच

*(पृ० ११० 'काव्य कला तथा अन्य निबंध'; तृतीय संस्करण)

विषयक नूतन धारणाओं के निर्माण के लिए, स्वयं वकालत करनी पड़ी। उन्होंने अपने नाटकों के अभिनय के लिए उपयुक्त रंगमंच, पर्याप्त द्रव्य, कुशल अभिनेता वर्ग तथा शिक्षित-विकसित जनता की मांग की। पश्चिम के विकसित रंगमंच पर शेक्सपीयर के 'हैमलेट' तथा 'किंग लीयर' का सफल अभिनय हो सकता है तो प्रसाद के नाटकों का भी, अवश्य कुछ सुधार-परिष्कार के साथ, निश्चित ही, प्रभावपूर्ण अभिनय हो सकता है। रंगमंच के विशेष जानकार नाटककार श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रसाद जयन्ती के अवसर पर भाषण करते हुए उन आलोचनाओं का खंडन किया जो प्रसाद के नाटकों को रंगमंच के अननुकूल बताती है।

प्रसाद के स्वगत कथनों के विषय में एक बात कहनी आवश्यक है। प्रसाद के इन स्वगत कथनों का विशेष महत्व है। यदि शेक्सपीयर के नाटकों से उनके स्वगत कथनों को उड़ा दिया जाए तो उन का मूल्य बहुत कम हो जाएगा। प्रसाद के ऐसे कथनों में मनोविश्लेषणात्मक ग्रन्थियाँ तो नहीं किंतु ये पर्याप्त सारपूर्ण तथा प्रभावपूर्ण हैं। सफल अभिनेताओं के मुख से और भी अधिक खिल सकते हैं।

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास

क. आधारभूत सिद्धान्त

ख. 'सन्यासी' का उद्देश्य तथा 'मुक्तिपथ'

(पृष्ठ संदर्भ आदि 'सन्यासी' के दसवें और 'विवेचना' तथा 'साहित्य-चिंतन' के प्रथम संस्करणों पर आधारित हैं)

क. इलाचन्द्र जोशी के आधारभूत सिद्धान्त

जोशी जी के उपन्यासों के स्वरूप-स्पष्टीकरण तथा उद्देश्यों की व्याख्या-विश्लेषण के लिए उन दृष्टिकोणों से अवगति आवश्यक है जिनके आधार पर उन्होंने 'सन्यासी' तथा अपने अन्य उपन्यासों का निर्माण किया है। प्रारम्भ में, उन के उपन्यासों पर सहानुभूतिपूर्ण आलोचनाओं के अभाव में, * उन्हें अपने उपन्यासों के मूल आधारों का स्वयं स्पष्टीकरण करना पड़ा। दूसरे आलोचकों की आलोचनाओं का प्रत्युत्तर भी वह देते रहे हैं। कारयित्री के साथ वह भावयित्री प्रतिभा भी उनमें है—कलाकार के साथ वह आलोचक भी है। अन्य लेखकों पर भी उन्होंने आलोचनाएं की हैं। अतएव उनके दृष्टिकोण को उपन्यासेतर साहित्य—'विवेचना', 'साहित्य-चिंतन' आदि आलोचनात्मक पुस्तकों—से भी समझा जा सकता है। वे दृष्टिकोण इस प्रकार हैं—

---

*जोशी जी को तीन प्रकार के आलोचकों पर विशेष आपत्ति है—एक उन परम्परावादियों पर जो अपने सीमित-संकुचित दृष्टिकोण के कारण नए उपन्यासों के गम्भीर महत्व को समझने में 'निपट असमर्थ' है। लेखक के अनुसार इतिवृत्तात्मक उपन्यास की परम्परा में पले हुए अपने बचकाने ढङ्ग के आलोचनात्मक मानों द्वारा वे नयी प्रवृत्ति की गहराई की माप-जोख करने में असमर्थ रहे हैं। अधिक-से-अधिक वे उसे "पाश्चात्य धारा से प्रभावित गंदा और अश्लील साहित्य" कह कर आत्मसंतोष कर लेते हैं। (पृ० ४५ साहित्य-चिंतन) दूसरे, जोशी जी को उन 'नये आलोचकों' पर भी आपत्ति है जो पाश्चात्य उपन्यासों के नए-नए, छिटपुट (किंतु स्थायी महत्व से एक दम रहित) प्रयोगों की ओर आकर्षित होकर उनके, तथा उन

१. जोशी जी 'कला कला के लिए' वाले सिद्धांत पर विश्वास नहीं करते। वह कलात्मक सौष्ठव के कायल होते हुए भी उपन्यास में चित्रित जीवन को अधिक महत्ता देते है।** अतैव वह मनोविश्लेषण को साध्य नहीं साधन मानते हैं। विश्लेषण विश्लेषण के लिए नहीं, संश्लेषण के लिए है—विश्लेषण की परिणित संश्लेषण में होनी आवश्यक है। (पृ० ५८, साहित्य चिंतन) उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुकूल जोशी जी ने अपने उपन्यासों में जीवन गत मूल्यो को महत्ता दी है।

२. मनोविश्लेषण में विश्वास। इस विश्वास के स्वरूप तथा सीमाओं का विश्लेषण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

जैसे अन्य उपन्यासकारों को 'बाइ पास' या कतरा कर निकल गए हैं। (वही पृ० ४६) खतरे का पूरा अनुभव करते हुए भी जोशी जी का दृढ़ मत है कि "प्रेमचन्दोत्तर-कालीन हिन्दी-उपन्यास विश्व-उपन्यास-साहित्य के एक बहुत महत्वपूर्ण और युग-विवर्तक नए मोड़ की सूचना है।"

तीसरे, लेखक को उन 'कट्टरपंथी प्रगतिवादी' आलोचकों से भी गिला है जो कहते हैं "साहित्यक विचार-धाराओं के रूप में प्रतिक्रियावाद मनोविश्लेषणवाद और प्रयोगवाद का रूप रखकर आता है। इनको भी जन-विरोधी सिद्धान्तों के रूप में देखना चाहिए।" (वही पृ० ५६) इस सम्बन्ध में जोशी जी का उचित उत्तर है कि "मनोविश्लेषणवाद अंतर्जगत के क्षेत्र में उसी हद तक प्रगतिशील है जिस हद तक मार्क्सवाद बहिर्जगत में।" (वही पृ० ५८)

**"कोई उपन्यास चाहे घटनापूर्ण हो, चाहे शान्त और गम्भीर विवेचना से युक्त; चाहे उसमें मार्मिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया हो, चाहे उसे उपाख्यान का रूप दिया गया हो, इन सब बातों से कुछ आता-जाता नहीं। देखना यह होगा कि लेखक की रचना ठोस जीवन के केन्द्र पर स्थित है या नही, जीवन के मर्म को छूती है या नहीं और कठोर वास्तविक जीवन संघर्ष के माध्यम से ही रुग्ण जीवन का उपचार सुझाने में समर्थ है या नहीं।" (पृ० ९८, विवेचना)

[क] वैयक्तिक तथा सामूहिक मानव के आचरणों तथा बाह्य क्रिया-कलापों आदि को समझने के लिए अन्तरजीवन—बल्कि अन्तरतर और अंतरतम जीवन—के द्वन्द्व-चक्र का वैश्लेषिक चित्रण आवश्यक है।* इसी आधार पर उनके उपन्यासों मे पात्रों का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन मिलता है।

[ख] उदात्तीकरण में विश्वास—जोशी जी इन आदिम प्रवृत्तियों के वशवर्ती बनाकर मानव को भाग्य-भरोसे या निस्सहाय रूप में जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा नही देना चाहते। वरन इन को समझ कर—दबाकर नहीं—सुदिशोन्मुख करने की, मानवीय संस्कृति के विकास के सुन्दर से सुन्दरतर स्तरों की ओर प्रेरित-परिचालित करने की सत्प्रेरणा देते हैं।** इस स्वस्थ दृष्टिकोण के कारण लेखक मानवीय स्वभाव को मूलतया अपरिवर्तनीय नहीं मानता। इनके अनेक पात्रों की पशु प्रवृत्तियों का विध्वंसक विस्फोट हुआ है किंतु जोशी जी ने इन वृत्तियों के निर्माणात्मक नियमित प्रस्फुटन की सम्भावनाओं के संकेत भी दिये है।

---

*इस सम्बन्ध में उनका विचार है—"मानवता के लिए सबसे कल्याणकर उपाय यह है कि वह अपनी उस अज्ञात चेतना के गहरे स्तरों में प्रवेश कर के उसके भीतर जड़ जमाने वाली आदिकालीन पशु प्रवृत्तियों की छान-बीन और विश्लेषण करे, और उस पातालपुरी की नारकीय अंध-कारा में बद्ध उन संस्कारों की यथार्थता स्वीकार करके ऐसी तरकीब निकालने का प्रयत्न करे जिससे गलत रास्ते से होकर उन बद्ध प्रवृत्तियों का विध्वंसक विस्फोट न हो।" (पृ० १७१, विवेचना)

**"उन सामूहिक प्रवृत्तियों को दबाने से काम चलेगा, न उन्हें अस्वीकार करने से और न अज्ञात रूप से उनका आकस्मिक विस्फोट होने देने से।" "गलत रास्तों से होकर बद्ध प्रवृत्तियों का विध्वंसक विस्फोट न हो। बल्कि उचित मार्गों से उनका नियमित प्रस्फुटन हो।" (पृ० १७१, विवेचना, 'प्रेत और छाया' की भूमिका)

[ग] व्यक्ति को भूलकर समाज की समस्याओं पर विचार नहीं किया जा सकता। समाज की समस्याओं को सुलझाने के लिए उसके मूलाधार व्यक्ति की समस्याओं को समझना आवश्यक हो जाता है और यही यथार्थ प्रगति है। *

इनके उपन्यासों में व्यक्ति की समस्याओं में सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं के बीज देखे गए है। अनेक स्थलों पर इस रूप में विकास भी हुआ है।

[घ] अंतरजीवन की प्रगति के साथ बाह्य जीवन की प्रगति भी महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसी आधार पर मूल रूप से विषम होते हुए भी मनोविश्लेषणवाद तथा मार्क्सवाद परस्पर पूरक हैं। **स्पष्ट है कि जोशी जी मनोविश्लेषणवाद की सीमाओं को भी स्वीकार करते हैं।

उनके उपन्यासों में बाह्य आवेष्टन की, उन्मन समाज के दुख दारिद्र्य, रोग-शोक तथा पीड़न-शोषण की उपेक्षा नहीं हुई है। यही नहीं, यथार्थ-आदर्श, विवेचना-भावुकता, कर्म-विश्राम, व्यक्ति-समाज आदि का समन्वय भी है। ऐसा करने में जोशी जी दुर्बल समझौतावादी नहीं, समझदार समन्वयवादी हैं।

---

*"आप यह निश्चित रूप से समझ रखें कि 'व्यक्तिगत जीवन की समस्याएं' ही संसार के महान राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक चक्रों के बीज-रूप—बल्कि मूलगत प्रतीक और आधारभूत सिद्धांत—हैं। जब तक आप इन व्यक्तिगत समस्याओं के भीतर निहित रूपकों में विश्व के विराट बाह्य-जीवन-चक्र की समस्याओं को देखने की दृष्टि नहीं रखेंगे तब तक आप न तो यथार्थ प्रगति के रूप से परिचित हो सकते हैं, न साहित्य-कला के मूल प्राणों का विकास आपके आगे भासित हो सकता है।" (पृ० १७२, विवेचना, प्रेत और छाया की भूमिका)

**"बाहरी जीवन की प्रगति (जिसमें मार्क्सियन सिद्धांतों के अनुसार होने वाली प्रगति भी शामिल है) अपने आप में महत्वपूर्ण है,

[ङ] उनके उपन्यासों में यत्र-तत्र फ्रायड, एडलर, युंग का प्रभाव है। किंतु इस प्रभाव को प्रभाव के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। इन में से किसी एक को, उनकी सम्पूर्ण धारणाओं सहित अपना कर 'वादी' (फ्रायडवादी आदि) बनने का प्रयास जोशी जी ने नहीं किया। लेखक ने इन तीनों के अस्त्र, मनोविश्लेषण से काम लिया है, क्योंकि अन्तर्जगत के स्तर-स्तर को खोलने में यह यथार्थपरक उपाय विशेष सहायक है।***

यह मैं मानता हूँ, केवल मानता ही नहीं हूँ, बल्कि 'अंडरलाइन' करके यह बात कहना चाहता हूँ। पर अंतर्जीवन की प्रगति के साथ सामंजस्य स्थापित हुए बिना यह बाह्य प्रगति शून्य में स्थापित किए गए हवाई किलों की तरह ही निष्फल सिद्ध होगी—जैसा कि आज तक होती आई है।" (पृ० १७३,'विवेचना', 'प्रेत और छाया' की भूमिका)

"...मनोविश्लेषणवाद और मार्क्सवाद में मूल गत वैषम्य है।... पर इस बात को लोग क्यों भूल जाते हैं कि मूलगत वैषम्य के बावजूद दो धाराएं ऐसी हो सकती है जो एक दूसरे की विरोधी न हो कर परस्पर पूरक सिद्ध हो सकती है ? 'मनोविश्लेषणवाद' अन्तर्जगत के क्षेत्र में उसी हद तक प्रगतिशील है जिस हद तक मार्क्सवाद बहिर्जगत में।" (पृ० ५८, 'साहित्य-चिंतन', प्रगति की नयी दिशा)

***"मैं फ्रायडवाद का समर्थक नहीं हूँ............फ्रायड का मनोविश्लेषण अवचेतना के बहुत ऊपरी स्तर को छू कर रह जाता है और गहरे स्तरों के सम्बन्ध में बड़ा भ्रम उत्पन्न करता है। उसका लक्ष्य ध्वंस की ओर अधिक है। निर्माण की ओर नहीं।.........फ्रायडवादी होना एक बात है और फ्रायडवाद के अस्त्र से लाभ उठाना बिल्कुल दूसरी बात। प्रगतिवादी आलोचकों को चाहिए कि इस बहुत बड़े भेद को ठीक से समझें........." (पृ० ५८-५९, साहित्य-चिंतन)

[च] इनके उपन्यासों में मनोविश्लेषण का प्रयोग किसी 'वाद' या 'दृष्टिकोण' के रूप में नहीं, एक शैली के रूप में, एक ऐसे अस्त्र के रूप में हुआ है जो अन्तर्मन की बुर्जुवा मनोवृत्ति को चीर कर खंड-खंड करने का सफल साधन है।*

[छ] मनोविश्लेषण को साधन रूप मे अपना कर जोशी जी ने जिस दृष्टिकोण से काम लिया है अब हम उसका विश्लेषण करेंगे। उपन्यास साहित्य की आलोचना करते हुए जोशी जी ने उपन्यासकारों के चरित्र-विश्लेषण करने वाले तीन वर्गों का विशेष उल्लेख किया है।

(एक) जेम्स जायस और डी० एच० लारेंस का दृष्टिकोण जोशी जी को विशेष हानिप्रद जान पड़ा है। लेखक के अनुसार इन लेखकों ने मनोविश्लेषण द्वारा नर-नारी के मिथुन-संबन्ध के ऊपर से बूर्जुवा दृष्टिकोण के झूठे और ढोंग-भरे 'पवित्राचार' का सफेद आवरण अवश्य हटा दिया, किंतु मानवीय पशु पवृत्तियों के उदात्तीकरण का प्रयास न करके उन्हीं को लक्ष्य मान लिया—मानवता की अनावृत उच्छृंखल स्थिति को लक्ष्य बनाकर मिथुनाचार की प्रवृत्ति को आवश्यकता से इतना अधिक महत्व देना आरंभ किया कि उल्टे मनुष्य के दैनिक जीवन की छोटी से छोटी क्रिया में—थूकने, खाँसने छींकने, उठने......में मूल नियोजिका शक्ति केवल मिथुनाचार ही जान पड़ी। जैसे नैतिक आतंक हानिकारक है—जो मानव की मूल वृत्तियों का दमन करने की प्रेरणा देकर नाना प्रकार के विषैले फोड़ों को जन्म देता है—उसी प्रकार उपर्युक्त उपन्यासकारों की वह प्रतिक्रियात्मक स्थिति जो मानव को पशु बनाने पर तुली हुई है, भी उतनी ही बुरी है। (देखिए १४४-४६, विवेचना)

---

*'मनोविश्लेषण अपने आप में कोई विशेष वाद नही है, बल्कि एक शैली है। इस शैली का उपयोग विभिन्न लेखक विभिन्न दृष्टिकोणों और विभिन्न उद्देश्यों को लेकर करते हैं।" (पृ० ५६, साहित्य चिंतन)

(दो) जोशी जी ने शरत, डास्टोइवस्की आदि उपन्यासकारों के दृष्टिकोण को भी अस्वस्थ बताया है जो मानवीय दुर्बलताओं को महिमान्वित कर के चित्रित करते तथा उच्छृंखल, आलसी, विकारग्रस्त 'चरित्र हीन' नायकों के प्रति सहानुभूति उभारते हैं। लेखक ने शरत के प्रायः सभी प्रमुख उपन्यासों तथा डास्टोइबस्की के 'पाप और दण्ड' की आलोचना द्वारा इन लेखकों के सदोष दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। शरत के उपन्यासों की नायिकाएं भी परम्परागत थोथे आदर्शवाद की लकीर पीटने वाली हैं। वह पुरुष-समाज द्वारा पीड़ित-शोषित हो कर भी उनकी अनुगत हैं, आहत होकर भी आराधक हैं। जोशी के विचार में शरत की नारियां किसी भी रूप में प्रगतिशील नहीं—वह "इस हद तक भी अपने विद्रोह को आगे बढ़ाने के लिए तैयार नहीं है कि अत्यन्त औचित्यपूर्ण परिस्थिति में भी विधवा-विवाह को स्वीकार करें।" (पृ० १४४, विवेचना)

(तीन) उपन्यासकारों का तीसरा वर्ग वह है—जिस में जोशी जी भी हैं—जो मनोवैश्लेषिक एक्स-किरणों से मानव मन की दुर्बलताओं को अनावृत करते हैं किंतु न तो उनको महिमान्वित करते हैं, न (पहले वर्ग के उपन्यासकारों के समान) उसमें रस लेते हैं। नपुंसक रोमांटिक भावुकता या अश्रु-आविल भावुकता के फेर में पड़ कर ये 'पापी के प्रति करुणा' की दुहाई नहीं देते। अवश्य ही जोशी जी ने भी दुर्बल अहमन्य-आत्मलीन नायकों को लिया है किंतु इसलिए नहीं कि पापी के प्रति करुणा के नाम पर, उनकी रोमांटिक पाप-प्रवृत्तियों का झूठा काव्यात्मक रूप भड़कीले रंगों में चित्रित कर उनकी समाज-घाती मनोवृत्ति को छूत की बीमारी की तरह फैलाने में सहायता दें। इन का चित्रण 'यथार्थ आदर्शवादी कलाकार' ऐसे निरपेक्ष रूप में करता है कि पाठक इनके ढोंग भरे आदर्श की पोल से भली भाँति परिचित हो जाएं। (देखिए पृ० ११० विवेचना) जोशी जी ने अपने सभी उपन्यासों के सामान्य प्रधान उद्देश्य का स्पष्टीकरण करते हुए

अपनी नारी-भावना का भी स्पष्टीकरण किया है। उनके अनुसार—"मेरे सभी उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहंभाव की ऐकांतिकता पर निर्भय प्रहार करने का रहा है—'घृणामयी', 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित' इन पाँचों उपन्यासों में मैं ने इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। आधुनिक समाज में पुरुष की बौद्धिकता ज्यों-ज्यों बढ़ती चली जा रही है, त्यों-त्यों उसका अहंभाव तीव्र से तीव्रतर और व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता चला जाता है। अपने इस अहंभाव की अस्वाभाविक पूर्ति की चेष्टा में जब उसे पग-पग पर स्वाभाविक असफलता मिलती है, तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आत्मविनाश की योजना में जुट जाता है। उसकी इस विनाशात्मक क्रिया का सबसे पहला और सबसे घातक शिकार बनना पड़ता है नारी को। युगो से पीड़ित और शोषित वर्ग है यह नारी। उसे और भी अधिक प्रपीड़ित और अधिक शोषित करने की चेष्टा में आज का अहंवादी पुरुष बुद्धिवादी भी है, इसलिए अपनी मनोवृत्ति की यथार्थता से बहुत कुछ परिचित भी रहता है और इसी कारण उस के भीतर विस्फोटक संघर्ष मचते रहते हैं। साथ ही, यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि उसी विस्फोट के उपादान वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी की शोषित अंतरात्मा में भी प्रलयंकर रूप से जुटते चले जा रहे हैं—किंतु विपरीत दिशा में। अर्थात् भारतीय नारी के भीतर निकट भविष्य में जो विस्फोट होगा वह उसकी युग-युग से पीड़ित आत्मा के प्रचण्ड विद्रोह की सामूहिक घोषणा करेगा।" (पृ० १२४) जोशी जी के नायकों की अहंमन्यता तथा प्रमुख नारी पात्रों की पुरुष-विद्रोहिणी प्रवृत्तियों को उक्त दृष्टिकोण से समझा जा सकता है। इसलिए इन के उपन्यास दुखांत बने हैं। इनकी नारियाँ पुरुष के प्रति समर्पण में ही अपने जीवन का सार-सर्वस्व नहीं समझती और लेखक के अनुसार 'स्वस्थ विद्रोह' करती हैं।

प्रायः नारियों को अत्यन्त करुणाशील प्रदर्शित किया जाता है। जोशी जी की नारियाँ भी करुणाशील हैं परन्तु वह उतनी ही कठोर भी हैं। क्योंकि लेखक के अनुसार "जो करुणा हृदय को तत्काल गलाकर पीड़ित को केवल आँसुओं का उपहार देकर ही अपना कर्त्तव्य पूरा समझती हैं, वह कभी जीवनोपयोगी नही हो सकती। वह न रोगी का रोग हरण करने में समर्थ हो सकती है, न निर्जीव और पुरुषार्थ हीन व्यक्तियों को स्वास्थ्य और बल प्रदान कर सकती है" (पृ० ११२ विवेचना) वास्तविक करुणा वह है, जो एक सुयोग्य अस्त्र-चिकित्सक शरीर के भीतर स्थित घातक व्रण की चीर-फाड़ कर के रोगी के प्राण बचाकर प्रदर्शित करता है। यह क्रिया ऊपरी दृष्टिकोण से अत्यन्त निर्मम और निष्करुण जान पड़ती है.........पर सुयोग्य अस्त्र-चिकित्सक जानता है कि इस प्रकार की 'नृशंसता' चरम परिणति को प्राप्त हुई सच्ची और संजीवनी करुणा का ही कठोर रूपांतर हैं। (पृ० ११२-११३ विवेचना) जोशी जी ने नारियों को कठोर दिखाकर, पुरुषों को अपने काले कारनामों के कारण जो दुख उठाते दिखाया है, उसको उक्त आलोक में समझा जा सकता है।

हमने ऊपर जोशी जी के दृष्टिकोण की व्याख्या के लिए उन्हीं की उक्तियों का आश्रय लिया है, अपना मत कहीं-कहीं—और वह भी व्याख्या में, निर्णय में नहीं—प्रयोग किया है। शरत तथा डास्टोइवस्की की ओर से भी हम ने कोई तर्क उपस्थित नहीं किए, क्योंकि यहाँ हमारा उद्देश्य मात्र जोशी जी के आधारभूत सिद्धांतों का स्पष्टीकरण रहा है। इसी स्पष्टीकरण के हेतु शरत के 'चरित्र हीन' से हम दो उद्धरण देते हैं जो जोशी जी के दृष्टिकोण के साथ ही कुछ-कुछ शरत के दृष्टिकोण को भी स्पष्ट करेंगे। किरणमयी कहती है—यदि अंधा गड्ढे में गिरता है, तो लोग दौड़ कर उसे उठाते हैं। उस के लिए दुखी होते हैं, यथा-शक्ति मनुष्य उसकी भलाई की चेष्टा करता है, किंतु प्रेम से अंधा होकर जब मनुष्य गड्ढे में लुढ़क पड़ता है, तब उसे उठाने के लिए

कोई नहीं दौड़ता; बल्कि और भी हाथ-पाँव तोड़-तोड़ कर उसे गड्ढे में ही गाड़ देना चाहता है। मनुष्य स्वयं जिस सत्य का प्रचार करता है, जरूरत पड़ने पर उसकी मर्यादा नहीं रखता।" वस्तुतः शरत इस की मर्यादा अवश्य रखते हैं। किरणमयी के निम्न दूसरे कथन में इन दोनों उपन्यासकारों के दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण भली भाँति हो जाएगा। किरणमयी दिवाकर से कहती है—"खून के अपराध में जब जज साहब किसी अभागे को फाँसी की सजा देते है तब वे विचारक हैं, किंतु अपराधी के हृदय की दुर्बलता का अनुभव कर जिस समय वे हल्की सजा देते हैं, उस समय वे कवि बन जाते हैं। इसी प्रकार संसार के सामञ्जस्य की रक्षा होती है। इसी प्रकार संसार की भूलें-भ्रांतियाँ और अपराध असह्य नही होने पाते। कवि केवल सृष्टि ही करता हो, यह बात नहीं है, वह सृष्टि की रक्षा भी करता है। जो स्वभावतः सुन्दर है उसको और भी सुन्दर बनाकर प्रकट करना उसका काम है; जो सुन्दर नहीं, उसको असुन्दर के हाथों से बचाना उसका काम है।" मानो जोशी जी कवि होते हुए भी कवि कम हैं, विचारक अधिक। और शरत कवि न होते हुए भी कवि हैं। जोशी जी एक जज के समान न्याय करते हैं, अपराधी को दण्ड देते हैं—और हम समझते हैं कि संसार में इसकी भी उतनी ही आवश्यकता है, नहीं तो संसार में उच्छृंखलता फैल जाए—और शरत कवि की भावुकता से उसका उद्धार करते हैं। एक में अपेक्षाकृत मस्तिष्क प्रबल है दूसरे में हृदय।

अन्त में हम जोशी जी के एक ऐसे सामान्य साधन का उल्लेख करेंगे जिसे वह अपने उद्देश्य को प्रभावपूर्ण बनाने में काम में लाते हैं। वह अपने उपन्यासों में आतंक तथा मार्मिक करुणा का वातावरण उत्पन्न कर के अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त को अपना कर चलते हैं। 'विवेचना' में वह लिखते हैं—"उपन्यास कला में मनोवैज्ञानिकता का एक और उद्देश्य माना जा सकता है—जो प्राचीन ग्रीक पंडित अरस्तू का भी मत रहा है। वह उद्देश्य यह है कि कलाकार अपनी रचना में प्रचंड आतंक

और मार्मिक करुणा का वातावरण उत्पन्न करके अपने पात्रों के मनोविकारों के क्षालन (और स्वभावतः उदात्तीकरण) के साथ ही पाठकों के मन पर भी वही प्रभाव डालता है—अर्थात् उनके भी अपने मनोविकारों के क्षालन और उदात्तीकरण से सहायता पहुँचाता है।" (पृ० १२२) उन के उपन्यासों में मृत्यु तथा आत्महत्याओं के यथार्थ-विस्तृत तथा जुगुप्साव्यञ्जक वर्णन उक्त दृष्टिकोण का परिणाम हैं।

ख. 'संन्यासी' का उद्देश्य

पीछे हम ने जोशी जी के उपन्यासों के जिन आधारभूत सिद्धांतों की व्याख्या की है उन का सर्वप्रथम सफल प्रयोग 'सन्यासी' में हुआ। यद्यपि जोशी जी की यह दूसरी कृत्ति है तथापि उनकी विचारधारा का प्रतिनिधित्व जिस सफलता से इस कृत्ति में हुआ है वह 'मुक्तिपथ' तक और किसी कृत्ति में इतनी सफलता से नहीं हो सका। अतैव जोशी जी के सिद्धांतों के प्रमाण स्वरूप हमने सन्यासी को ही चुना है।

मनोविश्लेषण द्वारा व्यक्ति की अहम्मन्य आत्मघाती तथा समाज विनाशी मनोवृत्ति का अनावरण तथा उस पर निर्भय प्रहार, सन्यासी का मुख्य उद्देश्य है।

अवश्य ही जोशी जी ने मनोविश्लेषण, मनोविश्लेषण के लिए नही किया, व्यक्ति की अहंवादी एकांतिकता के उद्घाटन के साधन रूप में इसका मुख्य प्रयोजन है किंतु अपने आप में भी वह इस अर्थ में उद्देश्य अवश्य है कि वह अन्तर्जगत का अनुभव कराता है। लेखक को यह अभीष्ट है कि वह अन्तर्जगत के उस सत्य का अनुभव करा सके जिस का बाह्य जीवन की परिचालना तथा बाह्य जगत की व्यवस्था में बहुत कुछ हाथ है। जोशी जी इसी मनोवैश्लेषिक उपाय से मानव-मन के स्तर-प्रति-स्तर को दिखाकर, गाँठ-प्रति-गाँठ को खोल कर यह सिद्ध करते हैं कि व्यक्ति जैसे ऊपर है, भीतर वैसा नहीं है। व्यक्ति की वास्तविकता को बाह्य स्तर पर समझने का प्रयास भ्रांतिपूर्ण है। नन्दकिशोर देश-सेवक तथा सन्यासी दोनों बनता है किंतु वह इस आदर्शमय मायावरण के भीतर कुछ और ही है। इसलिए नंदकिशोर ठीक कहता है—

"मैं ने सन्यासी का वेश धारण किया है, सन्देह नहीं। पर सन्यासी मैं न कभी था और न हूँ।" (पृ० ७) इसी से भीतर की उपेक्षा कर के, मूल मानव-प्रकृति को समझे बिना, मानव के रोगों के जो उपचार सुझाए जाते हैं, नैतिकता के जो नियम बनाए जाते हैं वह निरर्थक सिद्ध होते हैं। सन्यासी और शांति दोनों ने मूल मानव प्रकृति की महत्ता को स्वीकार किया है। शांति सन्यासी से अपने भाई की प्रेम कहानी का विश्लेषण करते हुए कहती है—"भैया के सदाचार पर मेरा पूर्ण विश्वास है और मैं जानती हूँ कि उनका घोर शत्रु भी उन पर यह दोषारोपण करने का साहस नहीं कर सकता कि कीर्ति के साथ उनका किसी प्रकार का अनुचित सम्बन्ध कभी रहा। पर दो हृदयों के प्रकृतिगत आकर्षण का निवारण करने की शक्ति इस विश्व में कहीं भी है, इस बात पर मैं कदापि विश्वास नहीं कर सकती। यह आकर्षण सदाचार और दुराचार से परे है। इस का अनुभव मैं अपने मर्म के अणु-परमाणु से कर रही हूँ। इसलिए किस साहस से भैया को इस बात के लिए दोष दे सकती हूँ कि कीर्ति के आकर्षण के मोह से वे अपने को बचा न सके।" (पृ० १४७ सन्यासी) यहाँ सन्यासीकार ने व्यक्त किया है कि वही नैतिकता वैज्ञानिक हो सकती है जो मानव की मूल प्रकृति की उपेक्षा नहीं करती। इसी तथ्य की उपेक्षा से माँ-बाप ने दो मूल्यवान व्यक्तियों को मृत्यु-मुख में झोंक दिया। मानव प्रकृति की सापेक्षता में ही हमें किसी व्यक्ति को सदाचारी या कदाचारी कहने का हौसला करना चाहिए।

नन्दकिशोर ने भी शांति के प्रति अपने प्रेम का विश्लेषण करते हुए उन साहित्यकारों की खिल्ली उड़ाई है जो 'स्वर्गीय प्रेम' या 'संग-रहित निर्लिप्त प्रेम' की ऐसी मन-गढ़न्त आदर्श कल्पनाएं करते हैं जो "जीवन की वास्तविक जड़ों को स्पर्श न कर शून्यलोक के उद्भ्रांत स्वप्नमय संसार में अपने अवास्तविक आदर्शों का जाल बुन कर पाठकों को ऐसे भयंकर धोखे में डाल देती है, जिससे उनकी जीवन-

मरण की समस्या हल न होकर अन्त तक विभ्रांति के चक्कर में गोते खाती फिरती है।" (पृ० १३६ सन्यासी)

अन्तर्जगत के महत्व के साथ यह बात भी स्वतः स्पष्ट हो जाती है कि जोशी जी व्यक्ति की महत्ता व्यक्त कर रहे हैं। व्यक्ति को भूल कर, उस के राग-विराग की उपेक्षा कर समाज की समस्याओं पर विचार नही किया जा सकता। जोशी जी व्यक्ति से समाज तक बढ़ते हैं। बलदेव की कथा का प्रारम्भ-अन्त उपर्युक्त तथ्य की सिद्धि के लिए हुआ है।

बलदेव एक कठोर साम्यवादी है। विवेचना की यथार्थता तथा मस्तिष्क की बौद्धिकता की उसमें प्रधानता है। शांति गाँधीवादी है और उसमें भावुक करुणा तथा हार्दिकता का प्राचुर्य है। बलदेव शांति के सम्पर्क में आता है तो उसकी कठोरता पिघलने लगती है। उस के कम्यूनिस्ट संस्कारों में एक द्वन्द्व प्रारम्भ हो जाता है। यहीं से बलदेव की अन्तर्कथा प्रारम्भ होती है। शांति के प्रभावस्वरूप अपनी द्वन्द्वमयी स्थिति का विश्लेषण करते हुए बलदेव नन्दकिशोर से कहता है—"आपकी श्रीमती जी (शांति) ने......आज गाँधी जी के बारे में जो बातें सुनाईं वे ऐसी मार्मिक थीं कि आज अपने जीवन में प्रथम बार मैं गाँधी जी को एक दूसरे ही दृष्टिकोण से समझने के लिए उत्सुक हुआ हूँ। मैं जानता हूँ कि उनकी बातों में भावुकता की प्रधानता थी और विवेचना का लेश भी नहीं था। पर आज मैं सोचने लगा हूँ कि संसार में विवेचना ही क्या सब कुछ है? भावुकता क्या कोरी भावुकता है? उसमें क्या कोई सार नहीं? मेरी विवेचना मुझसे अभी तक कानों में कह रही है कि भावुकता में कोई सार नहीं होता······पर मेरा हृदय कह रहा है कि नहीं, भावुकता ही मनुष्य को जीवन के ऊंचे आदर्शों की ओर खींच सकती है, जीवन के सच्चे मर्म को समझाने में भावुकता ही सहायता पहुँचा सकती है, विवेक तो पग-पग पर मनुष्य के विचारों

की सच्ची प्रगति में अपने यथार्थवाद से विघ्न डाले रहने के सिवाय उसके और किसी काम में नहीं आ सकता। मुझ में जो दो विभिन्न व्यक्तित्व वर्तमान है..........." (पृ० १६१, सन्यासी) साम्यवादी अतिवादिता के कारण बलदेव का व्यक्तित्व एकांगी था और अब विभिन्न विरोधी व्यक्तित्वों में द्वन्द्व के कारण, समन्वय-संतुलन के अभाव में वह अशांत है। न अतिवाद अच्छा, न द्वन्द्वमय स्थिति। इसलिए जोशी जी ने बलदेव की कथा को वहाँ समाप्त किया है जहाँ उसमें अतिवादिता-एकांगिता समाप्त हो जाती है। यह बात उल्लेखनीय है कि जोशी जी बलदेव के अन्तर्मन का विश्लेषण कर के ही नहीं रह गए, उनका विश्लेषण भी मनोवृत्तियों के संश्लेषण या संयोजन के लिए है। जोशी जी ने उन मनोवैज्ञानिक साहित्यकारों से विरोध प्रकट किया है जो मात्र विश्लेषण करके ही रह जाते है। विश्लेषण संश्लेषण के लिए है—इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए तथा अन्य कुछ मनोवैज्ञानिक साहित्यकारों के सदोष दृष्टिकोण को प्रकट करने के लिए जोशी जी ने एक विशेष वार्तालाप की योजना की है। जब नंदकिशोर शांति से कहता है कि वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि के अभाव में बलदेव में उन्माद के लक्षणों को नहीं देख सकी तब शांति उत्तर देती है—"मनोवैज्ञानिक दृष्टि! ....मैं जानती हूँ तुम मनोविज्ञान के बड़े पंडित हो, तुम्हारा विभिन्न विषयों का अध्ययन भी खूब बढ़ा-चढ़ा है। इस अध्ययन के बल पर तुम जिस को चाहो पागल या मूर्ख सिद्ध कर सकते हो, यह तुम्हारे समान मनोवैज्ञानिकों के बाएं हाथ का खेल है। पर एक बात मैं कहे देती हूँ—तुम जैसे पण्डितों ने मनुष्य की मनोवृत्तियों को खण्ड-खण्ड करके विभाजित करना ही सीखा है, इस बात पर ध्यान देना नहीं सीखा कि विभाजन से नहीं, बल्कि विभिन्न विरोधी प्रवृत्तियों के संयोजन से ही मानव स्वभाव की महत्ता प्रतिष्ठित हुई है। अगर मनोवृत्तियों के विश्लेषण से ही मनुष्य का यथार्थ स्वभाव जाना जा सकता है, तो इस कसौटी पर तुम भी पागल सिद्ध किए जा सकते हो,..." (पृ० २२८)

अब हम बलदेव के मन की उस संश्लिष्ट स्थिति को लेंगे जहाँ संतुलन पाकर बलदेव उपन्यास के रंगमंच से हट जाता है। अन्तिम बार नन्दकिशोर शान्ति के बारे में पूछने के लिए बलदेव से मिलता है। तब बलदेव शांति को भूरि-भूरि प्रशस्ति देता हुआ अपनी उस द्वन्द्वमयी अन्तर्कथा की समाप्ति की घोषणा करता है जो पहले शांति के सम्पर्क में आने पर प्रारम्भ हुई थी। वह कहता है—"(शांति से प्रभावित होकर) मेरे भावुकता रहित हृदय में प्रथम बार एक ऐसी टीस उठी जिसने विश्वनारी के प्रति एक अवर्णनीय श्रद्धा की हिलोर से मुझे प्लावित कर दिया। मैं कृतार्थ हो गया, मेरे जीवन के सब अभावों की पूर्ति हो गई। मेरा अविश्वासी नास्तिक मन नारी की अनन्तव्यापी महिमा का जयगान गा उठा। मेरा कठोर पौरुष पिघलकर उस विश्वजयी महिमा के प्रति अविरल धारा से पुलक-अंजलि प्रदान करने लगा। यही कारण है, मित्र, कि आज पूर्ण रूप से 'प्रगतिशील' बनने में मुझे हिमालय पर्वत की तरह अटल और अविचल बाधा का सामना करना पड़ रहा है। मैं क्या था, क्या होना चाहता था और क्या हो गया। कठोर मार्क्सवादी होने पर भी मै आज प्रगति-पंथियों का साथ ठीक तरह से नहीं दे पाता हूँ। भावुकता का एक उद्वेल प्रवाह मेरे शुष्क हृदय में एक बाढ़ सी पाकर मुझे बहाए लिये जाता है। मैं इतना दुर्बल हो गया हूँ कि उस बाढ़ के बेग का प्रतिरोध नहीं कर पाता। पर इस दुर्बलता में कितनी अधिक सबलता, कैसी स्वास्थ्यप्रद अनुभूति छिपी है, यह मै संसार को कैसे समझाऊँ।" (पृ० ४२८, सन्यासी) बलदेव के इस कथन में जोशी जी का अपना दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। जोशी जी ने 'मार्क्सवाद' या 'प्रगतिशीलता' का तिरस्कार नहीं किया, परिष्कार किया है, उसके एकांगीपन को पूर्ण किया है। और इस समन्वित स्थिति का विश्लेषण निम्न प्रकार से हो सकता है—

बलदेव की समन्वित स्थिति =

बलदेव की पूर्व स्थिति + शांति के प्रभाव-तत्त्व

१.	बहिर्मुखता	+	अन्तर्मुखता
२.	कठोरता	+	कोमलता
३.	विवेचना	+	भावुकता
४.	यथार्थ	+	आदर्श
५.	मस्तिष्क	+	हृदय
६.	मार्क्सवाद	+	गाँधीवाद
७.	रैडिकलिज्म	+	'कल्चर'

बलदेव एक ऐसे मतवाद का प्रचार करना चाहता है जो आदर्श होकर भी वास्तविकता से सम्बन्धित हो, 'रैडिकलिज्म' का पोषक होने पर भी सदियों के अनुभव से विकास-प्राप्त 'कल्चर' को युगीन आवश्यकतानुसार संशोधित कर के, अपना कर चले। (देखिए पृ० ४२०)

ये परस्पर विरोधी मत संयुक्त रूप में नहीं चल सकते—जोशी जी इस शंका को समझते थे जो नन्दकिशोर द्वारा प्रकट भी हुई हैं—

"दुइ न होहिं इक संग भुआलू, हँसब ठठाइ फुलाउब गालू"

बलदेव पूँजीवादी सभ्यता द्वारा पुष्ट सदियों से प्राप्त आचार-विचार को जड़ से उखाड़ फैंकने से सहमत नहीं और नन्दकिशोर को अपने मत का स्पष्टीकरण करता है—"मैं 'रैडिकलिज्म' का अर्थ समझता हूँ 'ट्रेन्सवेल्यूएश्न आफ आल वेल्यूज'—सदियों के अनुशीलन से 'कल्चर' के जो तत्व संसार में प्रतिष्ठित हो पाए हैं, उन सब को परिवर्तित और परिसंस्कृत रूप में जन-साधारण के आगे रखना, ताकि वर्तमान युग की साधारण जनता की मनोवृत्तियों का जो नवीन विकास शीघ्र गति से भविष्य की ओर अग्रसर होता जाता है उसके साथ उन तत्वों का एक ऐसा रासायनिक सम्मिश्रण हो जाय जो युगों के प्राचीन संस्कृति-तत्वों के बीजों की रक्षा पूरी तरह से करता हुआ नवीनता के साथ उनका चिर-सम्बन्ध स्थापित कर दें।" जोशी जी पर अपने

पहले लेख में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि उन का विचार है कि "मूलगत वैषम्य के बावजूद दो धाराएं ऐसी हो सकती हैं जो एक दूसरे की विरोधी न हो कर परस्पर पूरक सिद्ध हो सकती हैं। मनोविश्लेषण अन्तर्जगत के क्षेत्र में उसी हद तक प्रगतिशील है जिस हद तक मार्क्सवाद बहिर्जगत में।" (पृ० ५८, साहित्य चिंतन) सारतः जोशी जी समन्वयवादी हैं तथा अन्तर्बाह्य विकास के समर्थक हैं। वह प्रगतिवाद या मार्क्सवाद को भी देश की संचित संस्कृति तथा मौलिकता के भीतर समाहित करके स्वागत कर सके हैं।

जोशी जी के 'मुक्तिपथ' में उक्त उद्देश्य को चरम परिणति मिली है। वह लिखा ही इसी उद्‌देश्य से गया है। 'मुक्तिपथ' से 'सन्यासी' उपन्यास की शांति की उस भावुकता का भी स्पष्टीकरण होता है जिससे बलदेव विशेष प्रभावित हुआ है। 'मुक्तिपथ' में 'सन्यासी' का बलदेव क्रांतिकारी साम्यवादी राजीव है और सुनन्दा मानो शांति का ही प्रतिरूप। अब हम 'मुक्तिपथ' के आधार पर 'सन्यासी' को समझाने का प्रयास करेंगे।

दोनों उपन्यासों में जोशी जी ने विश्व की विडम्बना पूर्ण खोखली स्थिति का उल्लेख किया है।* व्यक्ति और समाज दोनों में विरोधी वृत्तियों का संघर्ष है। सर्वत्र अशाँति का प्रसार है। क्रातिकारी राजीव ने संसार के लिए 'मुक्तिपथ' का संधान किया है। उस के अनुसार "श्रम! केवल श्रम! जीवन के रुद्ध स्रोतों को प्रवाह और गति दे सकता है।" (पृ० ४११, मुक्तिपथ) राजीव नितांत बाह्य जगत का प्राणी है और फावड़ों और हथौड़ों के संगठित श्रम से वह प्रगति करना चाहता है। वह भाव-जगत में मग्न होना निष्कर्मण्यता समझता है। राजीव ने जिस सुनंदा का उद्धार किया था, अब वही उसका विरोध करती है। सुनंदा के अनेक कथनों की कुछ सारपूर्ण पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

*"कैसे विचित्र युग में हम लोगों ने जन्म लिया है भाई साहब! ....दलितों की दीनता और निर्धनों की पराधीनता के विरुद्ध जैसी जबर्दस्त आवाज इस युग में उठाई जा रही है, वैसी शायद ही

१. "अन्तर्जगत के सुख-दुख, स्नेह-प्रेम, राग-विराग, हास और रुदन, संवेदन और अनुभावना की प्रवृत्तियों की नितांत उपेक्षा करके केवल बाहरी योजनाओं की सफलता और बाहरी व्यवस्था के ध्येय की पूर्ति के उद्देश्य से ही मानवीय जीवन का अस्तित्व मान कर चलना जाग्रत जीवन-चेतना से फड़कते हुए मनुष्यों का काम नहीं है। यह केवल यंत्र-परिचालित मनुष्यों का काम है..." (पृ० ४०७, मुक्तिपथ) बलदेव, शांति की जिस भावुकता से अभिभूत है उसका स्पष्टीकरण सुनंदा की उपर्युक्त पंक्तियों में है।

२. "क्या ऐसा रास्ता नहीं निकाला जा सकता कि मनुष्य, मनुष्य की तरह ही—बल्कि उससे भी उन्नत और सुसंस्कृत—अन्तर्जगत को अपनाने के साथ ही समानान्तर रूप से उस महान योजना की सफलता की ओर बढ़ता चला जाय? यदि ऐसा सम्भव नहीं तो उसकी सारी बाह्य प्रगति का मूल्य ही क्या रह जाएगा। यंत्रचालित कठ-पुतलों के प्रयत्नों से जो महाव्यवस्था कायम होगी उससे मानवीय संस्कृति

पहले किसी युग में उठाई गई हो। साथ ही धन के वैभव के प्रति मस्तक नत करने की दास-प्रवृत्ति जिस हद तक इस युग के बने हुए नेताओं के भीतर पाई जाती है वह अतुलनीय है.........इस युग में एक और साम्यवाद का आदर्श चरम सीमा तक पहुँचते जा रहा है, और दूसरी ओर उसके पास ही फासिज्म उग्रतम रूप धारण करके अपने कराल जबड़ों को दिखाता है। एक ओर संसार में सर्वत्र शांति की पुकार मची हुई सुनाई देती है, दूसरी ओर युद्ध की पैशाचिक प्रवृत्ति ....सभ्यता और संस्कृति का जैसा दर्प इस युग के विश्व नेताओं की बातों से प्रकट होता है वह किसी से छिपा नहीं, पर साथ ही नग्न बर्बरता को इस युग के लोगों ने जिस हद तक अपनाया है, वह भी अभूतपूर्व है। ...सारे वातावरण में परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का घोर संघर्ष जारी है।" (पृ० १९२-९३, 'सन्यासी बलदेव के शब्द'

के महान् विकास की आशा करने के बराबर मूर्खता दूसरी क्या हो सकती है यह मैं नहीं जानती।" (पृ० ४०८)

३. अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्थाओं के असंतुलन से जिस व्यापक विनाश की सम्भावना हो रही है उसका ध्यान दिलाते हुए सुनंदा राजीव से कहती है —"आप यदि कोई ऐसी विश्व योजना चाहते हैं जो सम-श्रम द्वारा सच्चे अर्थों में सम-कल्याण और स्थायी शांति की स्थापना करने में सफल हो तो बाहर के पार्थिव जीवन के विकास के साथ भीतर के भाव-जीवन के विकास की ओर भी उतना ही सचेष्ट रहें।" (पृ० ४१२)

४. आप श्रम—केवल श्रम, और उसके द्वारा मुक्ति—केवल मुक्ति चाहते है। मैं जीवन में श्रम भी चाहती हूँ और विश्राम भी, मुक्ति भी चाहती हूँ और बंधन भी। उस श्रम का क्या महत्व जिसके सुख का अनुभव विश्राम के एकांत क्षणों में न किया जा सके। उस मुक्ति का क्या मूल्य जो सहस्त्रों बंधनों के बीच में अपना आभास न दे सके।" (पृ० ४१४, मुक्तिपथ)

अतैव 'सन्यासी' और 'मुक्तिपथ' में क्रमश: बलदेव-शांति तथा राजीव-सुनंदा की कथा-परिणति से एक ही बात ध्वनित होती है कि अन्तर्बाह्य विकास के बिना संसार का कल्याण असम्भव है—जब तक राजनीति और संस्कृति, विज्ञान तथा कला, मस्तिष्क तथा हृदय, विवेचना तथा भावुकता का समान विकास नहीं होगा तब तक सच्ची प्रगति सम्भव नहीं।

हम यह पहले लिख चुके हैं कि सन्यासी उपन्यास का मूल उद्देश्य एक अहंवादी व्यक्ति को सामने लाकर उसके घातक परिणामों से समाज को सचेत करना है। प्रारम्भ से ही नंदकिशोर में ऐसे संस्कारों का उल्लेख किया गया है जो उसके अहं के पोषण में सहायक होते हैं। वह प्रारम्भ में ही 'अप्राकृतिक-अव्यावहारिक आनंदमय संसार में' विचरता रहा। (पृ० ९) उसने वह दुख तनिक भी न सहा जो सहानुभूति तथा

समता की भावनाओं का पोषण करता है। नंदकिशोर अपने स्वभाव का परिचय देता हुआ कहता है—"असल बात यह थी कि सारी यूनिवर्सिटी के किसी भी छात्र अथवा अध्यापक के साथ मेरी प्रकृति का आन्तरिक संयोग कभी नहीं रहा। मैं ने आज तक कैसा एकांकी जीवन बिताया था, यह सोचकर मैं स्वयं स्तम्भित रह गया और मेरी रीढ़ से होकर एक आंतक की ठंडी लहर दौड़ गई। अपने बाह्य रूप में बहुतों से मिला रहता था, पर मेरी अन्तःप्रकृति बिल्कुल संगीहीन विजनवासी और निपट अकेली थी" (पृ० ८३-८४) यही कारण है कि वह स्वीकार करता है वह किसी को भी मित्र न बना सका, उमापति को भी परम प्रिय संगी समझने का दिखावा था। (पृ० ८३) आगे नंदकिशोर की अहंवृत्ति का परिचय आगरा में जयंती के घर में मिलता है। नंदकिशोर आगरा से चलते समय अपनी बड़ाई दिखाने के लिए बच्चों को एक-दो नहीं, पच्चीस रुपए देता है। ये रुपए जब लौटा दिए जाते हैं तो 'अपमान की वेदना उसके सारे सिर में झनझना उठती है, और वह इन नोटों को फाड़कर ही अपने आहत सम्मान को तृप्त करता है। शांति के सम्पर्क में आने के बाद बलदेव प्रेम का त्रिकोण-सा उपस्थित कर देता है। वस्तुतः अपनी अहंवृत्ति के कारण नंदकिशोर को बलदेव-शांति के आचरणों से शंका होने लगती है। शांति के लघु-सरल व्यवहारों में भी वह कुटिलता का आभास पाने लगता है। उस समय अपनी मानसिक स्थिति का विश्लेषण करते हुए वह कहता है—"शांति ने यदि कुछ प्रसन्न चित्त से बलदेव की चर्चा चलाई, तो इस बात से मुझे बुरा लगने का कारण क्या था ? मैं बलदेव को पहुँचाकर वापस आया, और शांति ने यदि पूछा कि मैं उसे कहाँ तक पहुँचा आया, तो इस में कौन सी ऐसी बात थी कि मैं खिन्न हो गया ? हाँ, उसने यह भी कहा कि वह बुरा आदमी नहीं मालूम होता और मेरी बात से उसे बलदेव के सम्बन्ध में भ्रम हो गया था। तो इससे क्या हुआ ? इससे यह सिद्ध हुआ कि वह बलदेव के व्यक्तित्व से आकर्षित हुई है। तो

भी हर्ज क्या हुआ ? हर्ज यह हुआ कि मेरे प्रति अब उसका प्रेम..." उसकी अहंवृत्ति उसे सदा द्वन्द्वग्रस्त रखती है, अतैव उसे संतुलन के अभाव में कभी शांति नहीं मिल सकी।

शांति के बाद नंदकिशोर जयंती के सम्पर्क में आता है। उसकी रहस्यमयी स्वाभिमानी प्रकृति—जिसका परिचय उसने कुछ आगरा में और बाद में शिमला में पाया था—नंदकिशोर को अखर उठती है। अतैव वह जयंती से विवाह करता है इसलिए नहीं कि अपने 'एकांगीण जीवन की अपूर्णता को पूर्ण' करे बल्कि जयंती के दुर्दमनीय गर्व को अकारण ही चूर-चूर करने की प्रतिहिंसापूर्ण भावना से।" (पृ० ३५२) अहंवादी व्यक्ति कामायनी के मनु के समान सदैव चाहता है कि सभी उसी की चिंता का भार वहन करें। जिस पर वह अधिकार चाहता है, सम्पूर्ण रूप से अधिकार चाहता है। वह दूसरे के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को सहन नहीं कर सकता। वह सम्पूर्ण आत्म-समर्पण चाहता है। अपनी सत्ता के सामने वह किसी की वैयक्तिक सत्ता को स्वीकार नहीं कर सकता। दूसरे अहंवृत्ति उसे अविश्वासी बना देती है। संतोष-विश्वास का चैन उसे नही मिलता। यह आत्मरति ऐसा भंयकर रोग है जो स्वयं व्यक्ति को भी जलाता है और समाज का, जिस-जिस के सम्पर्क में आता है उसका, भी विनाश करता है। पुरुष की अहंवृत्ति का सर्वाधिक शिकार नारी को बनना पड़ा है। जयंती ने नंदकिशोर की दृष्टि से एक अहंवादी पुरुष की आत्मघाती तथा समाजघाती प्रवृत्ति का गम्भीर विश्लेषण किया है। वह नंदकिशोर से कहती है—"......आप में बहुत से अच्छे गुण हैं, कुछ गुण तो असाधारण हैं"...पर आपके स्वभाव में एक बड़ा भारी दोष है !......कि आप बड़े अहंवादी हैं। आपका अहंभाव हद दर्जे तक आगे बढ़ा हुआ है। यह एक दोष आप में ऐसा जबर्दस्त है, जो कभी-कभी आपके सब गुणों को ढक देता है। केवल यही नहीं; इसके कारण आपके जीवन में अकसर अशांति और बेचैनी छाई रहती होगी। ऐसा मेरा विश्वास है।" (पृ० ३७९-८०) ......

"इस अहंभाव की तृप्ति के लिए आप चाहते हैं कि जिस स्त्री से आप का सम्बन्ध हो वह पूर्ण रूप से आपकी हो कर रहे, उसका कुछ भी स्वतन्त्र रूप से अपना रहने को न रहे; उसका शरीर, उसका मन उसकी प्रत्येक वासना, प्रत्येक कामना, आपकी इच्छा की बलि हो जाए; उसके भीतर छिपी हुई कोई गुप्त से गुप्त प्रवृत्ति उसकी अपनी हो कर न रहे; वह सब कुछ विना किसी असमञ्जस के आपके पैरों तले सर्मपित कर दे। सीता के युग मे पौराणिक काल में, यह प्रकृति-विरुद्ध बात भले ही सम्भव रही हो, पर किसी भी वास्तविक युग में यह सम्भव नहीं हो सकती।" (पृ० ३८१)

नंदकिशोर की अहंवृत्ति जिस सामाजिक समस्या—नारी समस्या—को जन्म देती है, वह भी सन्यासी उपन्यास का एक प्रमुख उद्देश्य है। इसलिए युगीन नारी की विद्रोहिणी प्रकृति का परिचय जयंती के उक्त कथन से मिल जाता है। जोशी जी मानों कहना चाहते हैं कि वह युग और था जब नारी पुरुष के अहं को सहन कर सकती थी। नारी के उद्‌बुद्ध आत्मसम्मान तथा पुरुष के उद्धत अहं की परम्परा जयंती ने राम-सीता के युग तक खोजी है। और आज के युग में उस परम्परा का उग्रतम रूप दृष्टि मे आ रहा है। जयंती कहती है—"सीता का आदर्श चरित्र वास्तविक रहा हो चाहे न रहा हो, पर नारी जाति ने एक वास्तविक बात की शिक्षा उससे अवश्य पाई है। वह यह कि चाहे वह अपना मन और प्राण पूर्ण रूप से पुरुष को सर्मपित कर दे, तो भी पुरुष के अहं भाव को सन्तुष्ट करने में वह समर्थ नहीं हो सकती। पुरुष इसके बाद 'कुछ और' चाहता है, और अगर इस 'कुछ और' को भी वह किसी असम्भव और अलौकिक उपाय से प्राप्त कर ले, तो वह फिर 'कुछ और' चाहेगा। सीता को अपनी भूल बाद में मालूम हुई थी। और जब मालूम हुई, तो उसके नारीत्व का आत्मसम्मान जाग पड़ा, और तब उसने राम को आत्म-सर्मपित करने की अपेक्षा पृथ्वी के विवर में समा जाना अधिक उचित समझा। आप में भी

सनातन पुरुष के सभी उच्च कोटि के दोष वर्तमान हैं। और इन दोषों में सब से बढ़ कर वही है जो मैं पहले बतला चुकी हूँ—अहंभाव की ज्वाला बुझाने के लिए प्रकृति के सब तत्वों को (जिसमें स्त्री भी एक है) पूर्ण रूप से होम करने की प्रबल आकांक्षा। पर इस अप्राकृतिक आकांक्षा की तृप्ति कभी सम्भव नहीं है, इसलिए आपके मन में अशांति और असंतोष के भाव सदा बने रहेंगे, और जिस-जिस के संसर्ग में आप रहेंगे उसके जीवन में भी आप की बेचैनी के बीज चले जावेंगे।" (पृ० ३८१) सन्यासीकार ने नन्दकिशोर के अहं का सामान्यीकरण कर दिया है और पुरुष के अहंजन्य नारी-दुर्दशा का व्यापक परिचय दिया है। अन्त में जयंती को भी आत्महत्या करनी पड़ती है। इसका कारण भी जयंती-कैलाश में पारस्परिक प्रेम का, अनुचित व्यवहार का नंदकिशोर की ओर से सन्देह किया जाना था। जोशी जी ने जयंती की आत्महत्या का भी सामान्यीकरण किया है। पुरुष के अहं जन्य दुर्व्यवहार से तंग आकर अनेक स्त्रियाँ आत्महत्या कर लेती हैं। त्रिपाठी जी की बहू जयंती से बताती है कि किस तरह उसका तथा अन्य अनेक स्त्रियों के पति अहं जन्य सन्देह वृत्ति के कारण घर के बाहर ताला लगाकर काम-धन्धे को जाते है। एक मास्टर की नवविवाहिता पत्नी की आत्महत्या का आतंककारी वर्णन भी उसने किया जिस से जयंती को फिट आ जाता है।* (पृ० ३७४-७५)

---

* जयती और इस मास्टर की पत्नी की आत्महत्याओं का यथार्थ जुगुप्सा व्यञ्जक वीभत्स वर्णन किया गया है। किस प्रकार अपने शरीर पर तेल छिड़क कर, आग लगा कर उनका अंग प्रत्यंग जलता है, का आंतककारी वर्णन हुआ है। भारतीय काव्य-शास्त्र में ऐसे अप्रिय प्रसंगों के ब्यौरेवार वर्णनों को ठीक नहीं समझा जाता। किंतु जोशी जी अरस्तू के विरेचन सिद्धांत से प्रभावित हैं—"रचना में प्रचण्ड आतंक और मार्मिक करुणा का वातावरण उत्पन्न करके अपने पात्रों के मनोविकारों के क्षालन (और स्वभावतः उदात्तीकरण) के साथ ही

इस प्रकार पुरुष के अहं के वज्र विध्वंसकारी परिणामों को दिखा कर जोशी जी ने पाठकों के मन मे अभीष्ट संवेदनाएं जगाने का सफल प्रयास किया है ।

यहाँ यह लिख देना आवश्यक है कि जोशी जी मानव स्वभाव को अपरिवर्तनीय नही मानते । उनका उदात्तीकरण में, मूल वृत्तियों के उन्नयन में, विश्वास है । वह चाहते है कि ये वृत्तियाँ हमें परिचालित न करें, हम इन्हें परिचालित करें । अवश्य ही इन वृत्तियों का दमन—जो और भी घातक है—नहीं हो सकता, किंतु उन्नयन हो सकता है; तिरस्कार नही, परिष्कार हो सकता है । इन का पर्युत्थान, या उन्नत मार्गों की ओर नियोजन सम्भव है । अतैव अहं जो एक प्रबल शक्ति है—से विनाश ही नहीं निर्माण भी हो सकता है । नन्दकिशोर यही लक्षित कर के स्वीकार करता है—"यदि मेरे भीतर की दानवी शक्ति उचित मार्ग पर चलती, तो मैं या तो पुरातत्व अथवा इतिहास के क्षेत्र में क्रांति मचाता, या समाज-सुधारक अथवा देशोद्धारक बनकर एक मान्य नेता के पद का प्रयासी होता । ऐसा होने से—मेरे भीतर के धुएँ की और आग की ज्वालाओं को बाहर निकलने का रास्ता मिल जाने से—मेरे जीवन में स्थिरता आ जाती । पर उस आग और धुएँ के बंद्ध रहने से मैं केवल अपनी अन्तरात्मा को जलाने और धुंधलके से ढकने में समर्थ हुआ; ज्वालाकण मेरे ही भीतर बिखर कर रह गये । फल यह हुआ कि मेरी दग्ध आत्मा जहाँ-जहाँ भी अपना हाथ डालती थी, वहीं विध्वंस की सम्भावना मुझे दिखाई देती थी ।" (पृ० ३५४)

पाठकों के मन पर भी वही प्रभाव डालता है—अर्थात उनके भी अपने मनोविकारों के क्षालन और उन्नतिकरण में सहायता पहुँचाता है ।" (पृ० १२१-२२, विवेचना) जोशी जी के अनुसार उपन्यासकला में मनोवैज्ञानिकता का एक उक्त उद्देश्य भी माना जा सकता है । (पृ० १२१, विवेचना)

लेखक ने सन्यासी उपन्यास को सुखांत नहीं बनाया। नंदकिशोर शांति से पुनर्मिलन चाहता है किंतु शांति उसको तथा अपने पुत्र को छोड़कर किसी अज्ञात दिशा में चल देती है। उपन्यास के अंत में नंदकिशोर को प्रायश्चित की अग्नि में जलते प्रदर्शित किया गया है और वह स्वीकार करता है—"मैं उन दोनों (पुत्र-पत्नी) के अभाव का अनुभव कर रहा हूँ और सम्भवतः जीवन भर करता रहूँगा।" (पृ० ४६१) इस उपन्यास को दुखांत बनाने का कारण है जोशी जी की क्रांतिकारी नारी-भावना। लेखक शांति को कामायनी की श्रद्धा नहीं बनने देता जो अहंवादी मनु को क्षमा कर उसका उद्धार कर देती है। जोशी जी नंदकिशोर जैसे घोर व्यक्तिवादी और समाजघाती चरित्रों—जोशी जी के शब्दों में सामाजिक धूमकेतुओं—को शिक्षा देना चाहते हैं। जोशी जी के विचार में ऐसे खतरनाक जीवों के प्रति करुणा प्रदर्शित कर, उनके कुकृत्यों और कुप्रवृत्तियों की सफाई देकर या यह संकेत कर कि अपने घृणित पतन में भी वे महान् है, एक अत्यन्त संकीर्ण तथा असामाजिक दृष्टिकोण है। अतैव अहंवादी व्यक्तियों पर निर्भय प्रहरण के दृष्टिकोण ने नंदकिशोर को चिर दुखी प्रदर्शित किया है। शांति के रूप में जोशी जी नारी के विद्रोह को व्यंजित कर रहे हैं और यही वह सभी नारियों से चाहते हैं। उन्होंने नारी को नारी के दृष्टिकोण से देखा है, पुरुष के दृष्टिकोण से नहीं। शांति के चरित्र गठन में जोशी जी का यह विश्वास काम कर रहा है कि "वास्तविक अर्थ में नारी की आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता का आंदोलन भारत में जैसा भीषण रूप धारण करेगा, वैसा संसार ने आज तक किसी युग में कहीं न देखा होगा।" (पृ० १०५, विवेचना) इसका कारण यह है कि यहाँ सदियों से पुरुष समाज ने दारुण अत्याचार किए हैं और अब उस की प्रतिक्रिया भी उतनी ही विद्रोहपूर्ण होगी। लेखक ने नारी में—जो शांति में भी है—त्याग-करुणा के मूल गुणों की रक्षा करते हुए भी, उसे नूतन नैतिक मूल्यों की ओर जागरुक करने का आदर्श रखा है।

सारत: सन्यासी उपन्यास के मुख्य उद्देश्य हैं—

१. अहं भावना पर प्रहार करना
२. अन्तर्मन के सत्य को महत्व देना
३. मनोविश्लेषणात्मक साहित्यकारों के लिए मनोविश्लेषण के आदर्श प्रस्तुत करना। (विश्लेषण, संश्लेषण के लिए है आदि)
४. मानव-समाज की अन्तर्बाह्य प्रगति के लिए विरोधों के समन्वय में विश्वास प्रकट करना
५. नारी दुर्दशा को सामने लाना
६. परम्परामुक्त नारी भावना का निर्माण करना

अब हम इस उपन्यास के कतिपय गौण उद्देश्यों की चर्चा करेंगे। ये गौण उद्देश्य प्रसंगवश आ गए हैं। उपन्यास के पात्र, समाज तथा किन्हीं परिस्थिति विशेष में रहते हैं। अतैव पात्रों की प्रतिक्रियाओं के माध्यम से भी उद्देश्य व्यक्त हुआ है। ये गौण उद्देश्य हैं—

१. विवाह समस्या
२. धार्मिक संकीर्णता को दिखाना
३. छुआछूत पर व्यंग्य
४. जाति-पाँति समस्या की ओर इंगित करना
५. तथाकथित सभ्यता पर व्यंग्य
६. शिक्षा प्रणाली के दोष दिखाना
७. बेकारी की भीषणता दिखाना
८. तथाकथित नेताओं का पर्दाफाश करना
९. जुआ खेलने की बुराई दिखाना

शांति ने अपने भाई की प्रेमकथा के करुण अन्त का जो मार्मिक वर्णन किया है, उससे विवाह समस्या की ओर संकेत मिलता है। लड़के लड़की की इच्छा के विरुद्ध, उनके परस्पर प्रेम की उपेक्षा करके, जब लड़की का विवाह अनिच्छित पात्र से कर दिया जाता है, तो दो मूल्यवान जीवों की हत्या हो जाती है—लड़की आत्महत्या कर लेती है और

लड़का रोग-ग्रस्त होकर मर जाता है। इसका कारण यह था कि सनातनी होने की धार्मिक कट्टरता के कारण लड़की का पिता अपनी लड़की का आर्यसमाजी पात्र से विवाह कर देने का इच्छुक नहीं था।

नन्दकिशोर का भाई जाति-पाँति की दुहाई देकर समझाता है कि यदि उसने विजातीय शांति का साथ न छोड़ा तो उसकी लड़कियों का विवाह न हो सकेगा और वे जाति-बहिष्कृत कर दिए जाएंगे—उनकी सारी सामाजिक स्थिति नष्ट हो जाएगी। (पृ० २७१)

नन्दकिशोर तथा उमापति आदि की स्पृश्यास्पृश की धारणाओं पर लेखक ने शांति के द्वारा व्यंग्य किए हैं। (देखिए पृ० ६८-६९)

सन्यासीकार ने तथाकथित कल्चर्ड नवयुवक रमाशंकर का वर्णन किया है जो अपनी यूनिवर्सिटी का 'स्टेण्डर्ड' मेन्टेन करने के लिए रेस्टोराँ में इतना खाया करता है कि वह अपना उधार चुकाने में भी असमर्थ रहता है। ऐसा सब वह 'कल्चर' के नाम पर करता है। उसका विचार है "जहाँ कल्चर का ध्यान रखना होता है वहाँ रुपए-पैसे का ख्याल नहीं किया जाता" (पृ० १५७) उसके अनुसार कल्चर है—"अप-टु-डेट फैशन से रहना, सभा-सोसाइटियों में 'मिक्स' करना, अच्छी सोसाइटी के 'एटीकेट' से वाकिफ रहना, किस समय किस तरह की सूट पहनना चाहिए, इस बात की जानकारी रखना, धड़ल्ले से शानदार अँगरेजी बोलना—यही और क्या !......" (पृ० १५७) यही रमाशंकर शांति को घूर-घूर कर देखने के लिए हत्या करके बैठ जाता है और अपनी शोभन सभ्यता का परिचय देता रहता है।

यही रमाशंकर नन्दकिशोर को जुआ खेलने की प्रेरणा देता है और नन्दकिशोर अपने सारे रुपए गँवा बैठता है। परोक्ष रूप में लेखक ने इससे बचने की व्यञ्जना की है। इस सभ्य रमाशंकर की सभ्यता अपने उत्कर्ष पर पहुँच जाती है जब वह अपने मित्र की पत्नी के साथ प्रेम करता है और बाद में भाग निकलता है। (पृ० २४६)

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली भी वास्तविक चरित्र निर्माण के लक्ष्य को लेकर नही चल सकी। वह दास-मनोवृत्ति का पोषण करती है, आत्मनिर्भर नहीं बनाती। यूनिवर्सिटी की शिक्षा-पद्धति "छात्र को जीवन के संसर्ग में न लाकर उसे किसी एक काल्पनिक और सैद्धांतिक जगत् में छोड़ देती है। फल यह होता है कि वह यदि यूनिवर्सिटी छोड़ने के बाद कवि होकर निकलता है तो बिना कुछ अनुभव किए अनन्त का राग अलापने लगता है, कथाकार होता है तो सिनेमा-राज्य की अवास्तविक और ऐन्द्रजालिक दुनिया के किस्से लिखने लगता है, राजनीति की ओर झुकता है तो कोरा सिद्धांतवादी बन बैठता है।" (पृ० १८८ बलदेव के शब्द) सारतः यह शिक्षा अव्यावहारिक तथा बौद्धिक है। इससे मनुष्य को संघर्ष-विघर्ष में जूझने की शक्ति नही मिलती।

तथाकथित नेताओं पर भी व्यंग्य किए गए हैं जो मात्र प्लैटफार्मों की शोभा हैं—जिन की जिह्वा की गति तीव्र किंतु कार्य पंगु हो गया है। उनकी कथनी और करनी में अतुल अन्तर मिलता है। अकबर इलाहाबादी के शब्दों में उनकी मनोवृत्ति का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है—

कौम के ग़म में डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ।
रंज लीडर को बहुत है मगर आराम के साथ।

जोशी जी अन्तर्मन के संसार से निकल कर शहर की बदबूदार तंग गलियों में भी गए हैं जहाँ दरिद्रता के दमघोट वातावरण में साँस लेना भी भारी है—बलदेव की बहिन अपनी बढ़ती हुई उमर को ज़माने की बदनजरों से बचाने के लिए मौत का बुर्का ओढ़ लेती है।

कला

'सन्यासी' के उद्देश्य की व्याख्या कर लेने के पश्चात अब हम इस बात की आलोचना करेगे कि सन्यासीकार अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति में कहाँ तक सफल हुए हैं।

वास्तविक उद्देश्य वह नहीं होता जो कृति में कर्त्ता समाविष्ट करता है, अपितु वह होता है जो पाठकों को प्राप्त होता है । लेखक अपने अभीष्ट को पाठकों के मानस खंड पर मुद्रित कर सका है या नहीं, यह प्रश्न उद्देश्य के स्वरूप से नहीं, उद्देश्य की कुशल अभिव्यक्ति से सम्बंधित है । अतैव उद्देश्य-अभिव्यक्ति की सफलता पाठकों* पर पड़े प्रभाव के द्वारा जानी जा सकती है ।

जोशी जी को सर्वाधिक सफलता मूल उद्देश्य की अभिव्यक्ति में हुई है अतैव वह सफल कहे जा सकते हैं । उपन्यास पढ़ लेने के पश्चात पाठकों में पुरुष की अहम्मन्य प्रकृति के प्रति संवेदनात्मक प्रतिक्रिया जागृत हो जाती है । कोई भी नन्दकिशोर जैसा अहंवादी न बने—ये सभी अनुभव करते हैं । मनोविश्लेषणात्मक सत्य के महत्व हृदयङ्गम कराने में भी लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है—अन्तर्मन की क्रियाशीलता तथा सामाजिक समस्याओं में व्यक्ति के महत्व को हम समझ लेते हैं । किंतु बलदेव और शांति के द्वारा जिन उद्देश्यों की व्यञ्जना हुई है, वह प्रभावपूर्ण नहीं । आत्मकथात्मक प्रणाली होने के कारण नंदकिशोर का चरित्र तो पूर्ण स्पष्ट हुआ है, क्योंकि कथा-वक्ता होने के कारण वह सदैव सामने रहा है—किंतु शांति के चरित्र का स्पष्टीकरण और अपेक्षित था । शांति का चरित्र बाह्याकार स्वरूप नहीं धारण कर सका—उसकी महत्ता उसके कार्यों से इतनी अनुभूत नहीं होती जितनी दूसरे पात्रों द्वारा कथित है । बलदेव शांति की जिस भावुकता से प्रभावित होता है उसका स्पष्टीकरण अपेक्षित था । यही नहीं बलदेव पर जो प्रभाव पड़ता है, उसकी अनुभूति पाठकों को भी होती । बलदेव का कठोर साम्यवादी रूप अधिक प्रभावपूर्ण तथा उसकी पारिवारिक परिस्थितियों के अनुकूल है । शांति की बलदेव के प्रति श्रद्धा भी, बलदेव की अनुभूति मूलक बातों से होती है । किंतु बलदेव के परिवर्तन की संगति के लिए कुछ और शब्द अपेक्षित थे ।

*हमारा तात्पर्य साहित्यिक सदासदविवेक-सम्पन्न पाठकों से है ।

इसलिए हमें कल्याणी 'भावुकता' तथा बलदेव की उक्ति—'पूर्णरूप से प्रगतिशील होने पर भी उनका साथ नहीं दे पाता'—को स्पष्ट करने के लिए 'मुक्तिपथ' का आश्रय लेना पड़ा। शांति के चरित्र-चित्रण में भी कुछ रेखाएँ और अपेक्षित थीं। इन के अभाव में नारी (शांति) की विद्रोह भावना अपेक्षित प्रभावपूर्ण नहीं हो सकी।

गोदान

१. नामकरण

२. वस्तुसंगठन

(पृष्ठ संदर्भ आदि गोदान के ग्यारहवें संस्करण पर आधारित हैं)

क. गोदान—नामकरण

गोदान (लिख) कर प्रेमचन्द चले गए—साहित्य की घटना जीवन की घटना बन गई। प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य साधना की एकता की घोषणा में गोदान नाम की संयोगवश सार्थकता अद्भुत है। होरी के समान निरंतर कर्मरत लेखक को भी काल ने सुला दिया किंतु सोते-सोते भी वे दूसरों को जगा गए—'और अधिक सोना मृत्यु का लक्षण है' की चेतावनी के साथ निरंतर 'गति-संघर्ष' की 'बेचैनी' दे गए।* भारत को 'मंगल सूत्र' बाँधने का भार भावी पर छोड़ गए। कुछ ले नहीं गए, 'कफ़न'—'मृत्यु के पीछे'—तक की व्यवस्था भी कर गए।

व्यक्तियों के नाम, पंचांग पत्रों से, या मीठे शब्दों के मोह में रख दिए जाते हैं। फिर भी 'यथा नाम विपरीत गुण' वाले व्यक्ति समाज की इस लोकोक्ति 'आँख के अंधे नाम नयनसुख' आदि, से बच नहीं सकते। इसी दृष्टि से किसी साहित्यिक रचना के शीर्षक-चयन के महत्त्व को समझा जा सकता है।

उपन्यास की अपेक्षा कहानी की शीर्षक-योजना अधिक सरल है। एक-ध्येयता तथा एक तत्त्व की प्रधानता कहानी का शीर्षक सुलभ बना देते हैं किंतु उपन्यास की अनेकमुखी जटिल विशालता के लिए यह अपेक्षाकृत कठिन है। प्रेमचन्द के उपन्यासों की क्षेत्र-व्यापकता इस कठिनाई का और भी वर्द्धन करती है।

---

*१९३६ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के लखनऊ-अधिवेशन में सभापति के आसन से दिए हुए भाषण के अंतिम शब्द। देखिए 'कुछ विचार' (चतुर्थ संस्करण) पृ० २१।

कुछ साहित्यकार मोहक-आकर्षक शीर्षक से पाठकों को प्रभावित करते हैं किंतु प्रेमचन्द की ऐसी प्रकृति नहीं थी। प्रेमचन्द का उपन्यासों में व्यावहारिक दृष्टिकोण रहा है और शीर्षक-चयन में भी यही लक्षित होता है। शीर्षक विषयक किसी सिद्धांत का निर्माण चाहे न हो सके फिर भी प्रेमचन्द के उपन्यासों के शीर्षक प्रायः किसी-न-किसी रूप से मूल प्रतिपाद्य से सम्बन्धित हैं। यह सम्बन्ध चरित्र (निर्मला), घटना (ग़बन), इतिवृत्त (कायाकल्प), समाधान (सेवासदन, प्रेमाश्रम) या उद्देश्य—जिसमें समस्याएं तथा जीवनदर्शन आ जाता है—(प्रतिज्ञा, वरदान, रंगभूमि, कर्मभूमि, गोदान) के आधार पर है।

जैसे-जैसे हिन्दी में उपन्यास-कला का विकास हुआ वैसे ही शीर्षक —योजना की कला में भी। जैसे आज के शीर्षकों में अभिधात्मक स्थूलता नहीं, प्रतीकात्मक अर्थ-गर्भत्व या व्यञ्जक सूक्ष्मता रहती है। इस दृष्टि से चन्द्रकांता सन्तति, मेम की लाश, निस्सहाय हिन्दू, सौ अजान एक सुजान या ठेठ हिन्दी का ठाठ से रंगभूमि, कर्मभूमि तथा गोदान तक के शीर्षकों में विकास को देखा जा सकता है। 'कंकाल' 'गोदान' आदि ध्वन्यात्मक शीर्षक तत्कालीन शीर्षकों से भिन्न प्रकार के हैं। स्वयं प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी, शीर्षक की दृष्टि से, गोदान अलग प्रकार का है—'सदन-आश्रम' अथवा 'भूमि' वाले शीर्षकों से इस की प्रकृति भिन्न प्रकार की है। 'सेवासदन-प्रेमाश्रम' प्रेमचन्द के सुधारात्मक स्थूल दृष्टिकोण के द्योतक हैं तथा 'रंगभूमि-कर्मभूमि' में कवित्व ही अधिक है। कर्मभूमि के बाद 'गोदान' आया मानो इस संघर्ष भूमि पर पहुँच कर लेखक अधिक यथार्थ-व्यावहारिक हो गया और तदानकूल शीर्षक भी चुना गया। यह बात महत्वपूर्ण है कि प्रेमचन्द के विचार-विकास का क्रम कुछ शीर्षकों से भी स्पष्ट हो रहा है।

'गोदान' प्रेमचन्द का अंतिम उपन्यास है—उन के विशिष्ट व्यक्तित्व तथा अनुभूत सत्यों का अंतिम निष्कर्ष-आदर्श। उन के पुत्र श्रीपतराय ने इस बात की ओर संकेत किया है कि होरी के चरित्र

में उनके जीवन के निजी तत्त्व विद्यमान हैं—इस दृष्टि से 'गोदान' प्रेमचन्द के जीवन का होरी के माध्यम से गोदान है। निस्संदेह प्रेमचन्द की अनुभूति-आस्थाओं का, उनके समाज के विवेचन-विश्लेषण का अंतिम सार-विचार, उपन्यास के अंत में, होरी-सम्बन्धित इन दो अवतरणों से मिल जाता है —

१. जब पश्चाताप-पूत हीरा वापस लौट कर होरी की कृतज्ञता-स्वीकृति में कहता है—"तुम से जीते जी उरिन न हूँगा दादा !" तो प्रेमचन्द की नैतिक भावुकता फूट कर इन शब्दों में होरी को पुरस्कृत करती है—"होरी प्रसन्न था। जीवन के सारे संकट, निराशाएँ मानो उसके चरणों पर लोट रही थी। कौन कहता है, जीवन संग्राम में वह (होरी) हारा है। यह उल्लास, यह गर्व, यह पुलक क्या हार के लक्षण है। इन्ही हारों में उसकी विजय है। उसके टूटे फूटे अस्त्र उस की विजय पताकाएँ हैं। उसकी छाती फूल उठी है, मुख पर तेज आ गया। हीरा की कृतज्ञता में उस के जीवन की भारी सफलता मूर्तिमान हो गई है। उसके बखार में सौ-दो-सौ मन अनाज भरा होता, उसकी हाँड़ी में हजार-पाँच सौ गड़े होते, पर उससे यह स्वर्ग का सुख क्या मिल सकता था ?

२. (हीरा ने उसे सिर से पाँव तक देख कर कहा—तुम भी तो बहुत दुबले हो गए दादा !) होरी ने हँस कर कहा—"तो क्या यह मेरे मोटे होने के दिन हैं ? मोटे वह होते हैं जिन्हे न रिन की सोच होती है, न इज्जत की। इस जमाने में मोटा होना बेहयाई है। सौ को दुबला करके तब एक मोटा होता है। ऐसे मोटेपन में क्या सुख। सुख तो जब है, कि सभी मोटे हों।" (पृ० ३६२, गोदान)

उक्त दोनों निष्कर्षों के सम्मिलन से प्रेमचन्द ने जिस वैज्ञानिक नैतिकता या परिष्कृत आर्थिक दृष्टिकोण का या व्यक्ति को महत्ता देते हुए समाज की सुव्यवस्था का आदर्श रखा है उसी का व्याख्यान गोदान

है और यही प्रेमचन्द का मानवता को अन्तिम दान (गोदान) है—जीवन भर की अनुभूतियों का निचोड़।

जैसे सम्पूर्ण विचारों का निष्कर्ष प्रस्तुत करने में, तथा लेखक की मृत्यु के साथ गोदान नाम की संयोगवश सार्थकता है उसी प्रकार अपने अन्य उपन्यासों के नामों के साथ भी इस की सार्थकता है। 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' के बाद 'गोदान' कितना स्वाभाविक है—इस कर्मभूमि में अन्तिम कार्य गोदान ही है। 'रंगभूमि' में कर्म का स्वरूप, उपन्यास के नामानुकूल, कवित्व लिए हुए है—जीवन एक खेल है, सच्चे खिलाड़ी की भावना (स्पोर्ट्समैन स्पिरिट) से खेलना—हार-जीत निरपेक्ष किंतु सत्य नीति सापेक्ष। कर्मभूमि का जीवन-दृष्टिकोण कर्मठ योद्धा का है जिसकी चरम परिणति 'गोदान' के कर्मपथ पर तत्पर होरी में हुई है। निरन्तर कर्म-निरत होरी के पग थके किंतु रुके नहीं; जीवन संघर्ष में सदैव हार हुई; पर कभी हिम्मत नही हारी। सम्बल है वही नीति-मर्यादा।

वैसे तो 'गोदान' में गाँव से नगर तक फैले समग्र पूँजीवादी आर्थिक ढाँचे को स्पष्ट किया गया है और इस दृष्टि से गोदान का उद्देश्य ग्राम तक सीमित नहीं रहता—समग्र समाज उसका उद्देश्य है—फिर भी लेखक जिस पात्र के द्वारा सर्वाधिक संवेदना जागृत करने में समर्थ हुआ है, जो उपन्यास का प्रमुखतम पात्र है वह ग्रामीण है और प्रेमचन्द हैं ग्राम-चित्रण के कुशल चित्रकार। 'भारत माता ग्राम वासिनी' है और प्रेमचन्द हैं इस मूक ग्राम की मुखर पुकार। गाय और ग्राम का सहज सम्बन्ध है। अतैव एक किसान को गोस्वामी होने की स्वाभाविक लालसा रहती है। होरी की अगाध साध यही है कि एक पछाईं (पश्चिम प्रदेश की) गाय उस के द्वार की शोभा बढ़ाए। गोधन किसान का मान है। हाँ होरी को मान के अतिरिक्त पय-पान एवं खेत-खलियान का ध्यान भी है। एक हिन्दू के लिए गाय से धर्म का वास्ता भी है। फिर भी उक्त तीनों उद्देश्यों में होरी की सम्मानेषणा प्रमुख है। होरी को गो उधार

मिली किंतु आर्थिक दुरवस्था जन्य सहोदर की ईर्ष्या ने उसे समाप्त कर दिया। तत्पश्चात होरी का समग्र जीवन मानो गो-प्राप्ति के लिए विशुद्ध युद्ध है। महाजनी सेना ने उसकी एक न चलने दी और उसके माघ-जेठ के प्रखर शीत-ताप की उपेक्षामय कर्मण्यता भी सिर धुनकर रह गई। अवश्य ही अन्त में गो आई किंतु कितने दिनों से अधभूखे लू-लुण्ठित होरी की विक्षिप्तावस्था में, अतृप्त इच्छाओं की तड़पन के रूप में—"तुम आ गये गोबर, मैंने मंगल के लिये गाय ले ली है, वह खड़ी है देखो।" (पृ० ३६३) होरी की मरणासन्न स्थिति के उक्त उद्गार उसके जीवन की कहानी कह रहे है। तनिक चेतना आते ही वह कहता है "गाय की लालसा मन में ही रह गई।" (पृ० ३६३) गो-प्राप्ति तो बड़ी बात है, होरी को मृत्यु-मुख से बचाने के लिए, डाक्टर को बुलाने के लिए 'धनिया' के पास धन नहीं—कैसी विडम्बना! होरी की अंतिम घड़ियाँ निकट देख, कई आवाजें 'गोदान' करने की सम्मति देती है। धनिया भी अपने कर्त्तव्य को समझती है। दान लेने वाला ब्राह्मण महाजन दातादीन भी ठीक समय पर आ पहुँचता है, होरी का इह लोक नहीं परलोक सुधारने की फिक्र में, और वह भी अपने स्वार्थ की चिंता में। "धनिया यन्त्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी उसके बीस आने पैसे लायी और पति के ठण्डे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली—महाराज घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है। और पछाड़ खाकर गिर पड़ी।" (पृ० ३६४) जो होरी गाय की लालसा को मन में ही रख कर के मर गया, जीवितावस्था में गो को प्राप्त न कर सका, वह मरने के बाद गोदान कर सका, कैसा मार्मिक व्यंग्य है। और यह गोदान भी वास्तविक नहीं, बीस आने का गोदान है—व्यंग्य के भीतर भी व्यंग्य है। क्योंकि घर में गाय की बात नहीं, बछिया भी नहीं है, नहीं-नहीं पैसे भी नहीं; हैं भी तो बीस आने और वह भी उसी दिन की कमाई के। व्यंग्य की तीक्ष्णता और बढ़ जाती है जब यह स्पष्ट होता है

कि यह दान भी उस धर्म के ठेकेदार ब्राह्मण-महाजन को दिया जाता है जिस की क्रूरता का वह स्वयं शिकार है—मृत्यु के बाद भी जो पीछा नहीं छोड़ता। होरी की कथा उस संघर्ष-जर्जर, रूढ़ि-ग्रस्त भूखे-सूखे भारतीय किसान की व्यथा-कथा है जिसके आलोड़ित लाचार भाव होठों पर ही आकर मिट जाते हैं, जिसकी तड़पती लालसाएँ चिता की लपटों के साथ ही बाहर निकलती हैं और जिन्हे मरने के बाद भी चैन नही मिलता।

गोदान महाजन को किया जाता है जो गाँव की आर्थिक दुर्दशा का कारण है, और उपन्यास की एक बड़ी समस्या ऋण की समस्या की ओर संकेत करता है। महाजन ब्राह्मण भी है जो ब्राह्मणत्व से शून्य है—धर्म के खोखलेपन की ओर इंगित भी हो जाता है। पैसे न होने पर भी घोर निर्धनता में रूढ़ि-पालन के लिए गोदान किया जाता है। मरता हुआ होरी इस ओर संकेत करते हुए कहता है—"अब जाता हूँ। गाय की लालसा मन में ही रह गयी। अब तो यहाँ के रुपए क्रिया-करम में जाएँगे।" (पृ० ३६३) इस तरह गोदान ग्रामीणों के रूढ़िग्रस्त जीवन पर भी व्यंग्य है।

गोदान ग्राम तथा ग्राम-संस्कृति का भी गोदान है—अब सब की समाप्ति हो रही है। प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में जिस राम राज्य वाले आदर्श-गाँव की कल्पना की थी, जमीदार का जिस रूप में सुधार हुआ था—वे सभी स्वप्न टूट गए। गोदान का ग्राम उजड़ रहा है—किसान का लड़का तथा अन्य अनेक ग्रामीण शहर मे मिल-मजदूर बन रहे है और किसान (होरी) भी ज़मीन छिन जाने से मज़दूरी करते-करते मर रहा है। नगर से गाँव को लौटा गोबर अपने घर की दुर्दशा ही नही देखता, उसने देखा "सारे गाँव पर यह विपत्ति थी, ऐसा एक भी आदमी नहीं था जिसकी रोती सूरत न हो, मानो उसके प्राणों की जगह वेदना बैठी उन्हें कठपुतलियों की तरह नचा रही है......द्वार पर मनों कूड़ा जमा है, दुर्गन्ध उड़ रही है मगर उसकी नाक में न गन्ध है न आँख मे

ज्योति। सरे शाम ही से द्वार पर गीदड़ रोने लगते हैं पर किसी को ग़म नहीं।" (पृ० ३५६ गोदान) वस्तुतः प्रेमचन्द ने रंगभूमि से गोदान तक किसान के ह्रास का, तिलतिल कर गलने और शेष होने का दुखद द्रावक चित्रण किया है। यही नहीं ऐसे लगता है कि स्वयं प्रेमचन्द भी इन्हीं के साथ तिल तिल कर गले-चले गए। तब फिर 'गोदान' नाम कितना सार्थक तथा कितना स्वरूप बोधक है।

जिस प्रकार कृषक जीवन के व्यक्तिकरण के लिए प्रेमचन्द ने प्रतिनिधि पात्र लिए हैं उसी प्रकार ग्राम्य संस्कृति, भारतीय संस्कृति, के प्रतिनिधि-प्रतीक के रूप में 'गाय' को लिया गया है। गाय—एक साधु-शांत परोपकारी पशु—धर्मभीरू शांतिमय परहितकारी कृषक-जीवन का प्रतीक है। होरी—किसानों का प्रतिनिधिपात्र—गो चाहता ही नहीं, वह स्वयं भी गो है। रामसेवक ने शांतिमय किसानों की शांति-नीति को गऊ की उपमा दी है—"महाराज संसार में गऊ बनने से काम नहीं चलता। जितना दबो, उतना ही लोग दबाते हैं......भगवान न करे कोई बेईमानी करे, यह बड़ा पाप है। तुम्हीं सोचो, आदमी कहाँ तक दबे। यहाँ तो जो किसान है, वह सब का नरम चारा है।"* (पृ० ३५४) अतैव इस उपन्यास में होरी की मृत्यु मानों आर्थिक दुरवस्था के हाथों दुबारा गो की हत्या है—भारतीय किसान के कामधेनु मांगलिक गुणों या अपरिग्रह प्रधान संस्कृति की हत्या है।

शांतिप्रिय द्विवेदी लिखते हैं—" 'गोदान' शब्द अब तक की नैतिकता, धार्मिकता, दार्शनिकता का एक प्रतीक मात्र रह गया है। इस उपन्यास का आर्थिक पक्ष संकेत करता है कि आज धर्म के लिए पथ कहाँ रह गया है।" प्रेमचन्द मानो सचेत कर रहे हैं कि आर्थिक विधान के सुधार के बिना धर्म-पालन कठिन-कठोर कार्य है। अतैव जहाँ उन्होंने

*मालती-मेहता के प्रेम विषयक वाद-विवाद में भी प्रेम को गऊ कहा गया है अर्थात प्रेम में आत्मसमर्पण तथा केवल प्रदान करने की भावना रहती है, आदान या बदले की नहीं।

सेवा-त्याग-मय नैतिक मानों में विश्वास प्रकट किया है, वहाँ यह भी संकेतित है कि मात्र व्यक्ति पर बल देकर, नैतिक बनने की दुहाई देकर ही समाज सुधार नहीं हो सकता। यही नैतिकता को वैज्ञानिक बनाना है।

गोदान उपन्यास दारुण दुखांतकी है और गोदान नाम इसको व्यक्त करने में समर्थ हुआ है। भारतीय रस-सिद्धांत की दृष्टि से उपन्यास की करुण हार्द के अनुकूल यह नाम सार्थक है।

'गोदान' की कथा का प्रारम्भ प्रमुखतम पात्र की गो-लालसा से होता है और अंत भी उसी पात्र के विशिष्ट 'गोदान' के साथ। अतैव गोदान नाम मुख्यपात्र तथा मुख्य कथा के अनुकूल है। ऐसा होने तथा उपन्यास के अन्त की घटना—गोदान—से, इस उपन्यास के नाम की एकरूपता से' प्रभावान्विति की वृद्धि होती है।

श्री जनार्दन प्रसाद लिखते है—"ग्रामीण उच्चारण की स्वाभाविकता के विचार से, इसका नाम पहले 'गौदान' रखा गया था। इन पंक्तियों के लेखक ने उक्त नाम को पसन्द नहीं किया। अतः जैसा कि प्रेमचन्द जी स्नेह-वश किया करते थे, उसी क्षण 'गौ' की जगह 'गो' लिख दिया गया।"* हो सकता है कि 'द्विज जी' ने उन्हें 'गौ' के स्थान पर 'गो' सुझाया हो, किंतु 'ग़बन' में प्रेमचन्द ने नौकर के मुख से भी 'गो' ही कहलवाया है, 'गौ' नहीं। (पृ० १६८, ग़बन)

सारतः गोदान शीर्षक प्रमुखपात्र का शील प्रकाशक, सांस्कृतिक प्रतीकसंज्ञ, इतिवृत्त संकेतक, उद्देश्य व्यञ्जक तथा वातावरण-रस-बोधक है। किसी अज्ञात कलाकार को क्या सूझी कि इसकी सार्थकता बढ़ाने के लिए हमारे प्रेमचन्द की आँखें बंद कर दीं।

---

*'प्रेमचन्द की उपन्यासकला' पृ० १४

गोदान का उद्देश्य तथा वस्तु-संगठन

प्रेमचन्द के उपन्यासों में 'गोदान' की सर्वोत्कृष्टता के सम्बन्ध में आलोचक सामान्यतः एकमत रखते है किन्तु उसके कलागत दोषों के सम्बन्ध में इनमें मतभेद है। वैसे तो वस्तु-संगठन की शिथिलता का आरोप प्रेमचन्द के उपन्यासों—विशेषरूप से प्रेमाश्रम, रङ्गभूमि जैसे गाँव-नगर दोनों की कथा को ले कर चलने वाले बृहदकाय उपन्यासों—पर होता रहा है किन्तु उनके सर्वोत्कृष्ट उपन्यास में भी गुणों के साथ ऐसे दोषों का विकास ही देखा गया है। फिर भी ऐसे आलोचक भी हैं जो गोदान में ग्राम-नगर दोनों के कथानक को गोदान के स्थापत्य की एक महिमान्वित विशिष्टता व्यक्त करते हैं।

नंददुलारे बाजपेयी का मत है—"शास्त्रीय शब्दावली के अनुसार गोदान में आधिकारिक और प्रासांगिक, दो कथायें पाई जाती हैं। ग्रामीण पात्रों से सम्बन्ध रखने वाली कथा आधिकारिक या मुख्य कथा है। नागरिक पात्रों को उपस्थित करने वाली कथा प्रासांगिक या गौण है। ·········'गोदान' उपन्यास के उक्त दोनों कथानक यद्यपि परस्पर इतने असम्बद्ध नहीं हैं, फिर भी उनमें वास्तविक ऐक्य की कमी अवश्य है।

" 'गोदान' निश्चय ही ग्रामीण जीवन का उपन्यास है। यदि उसमें नागरिक पात्र आते हैं, तो उनका ग्रामीण पात्रों की गति-विधि से किसी न किसी प्रकार का घनिष्ठ संबंध होना ही चाहिए। ऐसा न होने पर उपन्यास के उद्देश्य या कार्य की एकरूपता में बाधा पड़ेगी। उपन्यास में दो कार्य या दो उद्देश्य नहीं हो सकते। दो स्वतन्त्र जीवन-चित्रण नहीं किए जा सकते, अन्यथा उसकी अन्विति नष्ट हो जायगी।

"गोदान उपन्यास के नागरिक और ग्रामीण पात्र एक बड़े मकान के दो खण्डों में रहने वाले दो परिवारों के समान हैं जिनका एक दूसरे के जीवन-क्रम से बहुत कम सम्पर्क है। वे कभी-कभी आते-जाते मिल लेते हैं, और कभी-कभी किसी बात पर झगड़ा भी कर लेते हैं, परन्तु न तो उनके मिलने में और न झगड़ने में ही कोई ऐसा सम्बन्ध स्थापित होता है जिसे स्थाई कहा जा सके।" †

बाजपेयी जी ने अपने मत के समर्थन में विरोधियों के विभिन्न तर्कों के उत्तर देने का प्रयास भी किया है। गोदान में दोनों कथाओं के औचित्य के समर्थक आलोचकों के जिन तर्कों का उत्तर देने का प्रयास किया गया है, वे हैं‡—

१. गाँव-नगर की तुलना द्वारा ग्रामीण परिस्थिति की विषमता को स्पष्ट करना और प्रभाव को तीव्र बनाना।

२. नागरिक पात्रों द्वारा ग्रामीण-जीवन में सुधार लाने का प्रयत्न करना।

३. यदि नागरिक कथा का अंश उपन्यास में न होता, तो उपन्यास के नागरिक पाठकों के लिए उस में कोई आकर्षण न रह जाता।

४. गोदान उपन्यास भारतीय जीवन के संपूर्ण स्वरूप को हमारे दृष्टिपथ पर लाना चाहता है, अतएव उस में ग्राम के साथ-साथ नगरों और उसके निवासियों की जीवनचर्या भी दी गई है।

५. "ग्राम जीवन को नागरिक जीवन से नितांत पृथक् रक्खा भी नहीं जा सकता, क्योंकि आज की भारतीय स्थिति में वे दोनों एक-दूसरे से एक दम अलग हैं नहीं।"

---

†आधुनिक साहित्य, पृ० १४७-४८
‡आधुनिक साहित्य, पृ० १४८-५०

६. 'गोदान के ग्रामीण कथानक में कोई चमत्कार पूर्ण घटना-योजना नहीं है, अतएव नागरिक कथानक को जोड़कर उसे प्रभावशाली बनाना आवश्यक था।'

७. वर्तमान भारतीय समाज का वह अंश जो शिक्षित है और जो सामाजिक समस्याओं से दिलचस्पी रखता है, मध्यवर्गीय समाज ही है। उपन्यास के उद्देश्यों के प्रसार की सम्भावना देखकर लेखक ने मध्यवर्गीय समाज को नागरिक कथा का लालच दिया है, जिस से वह इसी बहाने उपन्यास को पढ़े और उससे प्रभाविल हो।

उपन्यासकार जैनेन्द्र जी भी गोदान के नागरिक कथानक को 'थोपा हुआ सा' तथा 'पुस्तक की कथा के साथ एक नहीं' समझते हैं।[1] उनका विचार है—"शहर ने आकर पुस्तक के गाँव को चमकाया नहीं है बल्कि कहीं कुछ बखेरने और ढकने का प्रयास किया है।"[2] इसलिए "यदि मैं लिखता ही तो गोदान करीब दो सौ पन्नों का हो जाता। गोदान का एक संक्षिप्त संस्करण भी निकला है और मानने की इच्छा होती है कि उसमें मूल का सार सुरक्षित रह गया है। यानी दो-सौ ढाई-सौ में गोदान आ सकता था। और क्या विस्मय मोटापा कम होने से उस का प्रभाव कम के बजाय और बढ़ जाता, अब यदि फैला है तो तब तीखा हो जाता।"[3] शान्तिप्रिय द्विवेदी भी लिखते हैं—"इस उपन्यास का वृहत् शरीर जिस देहाती जीवन के मेरुदण्ड पर खड़ा है उसकी प्रचुरता और विदग्धता को देखते हुए इतर प्रसंग 'क्षेपक' से लगते हैं, इन क्षेपकों के कारण ही उपन्यास स्थूल काय हो गया है।"

वस्तुत: गोदान का वास्तविक उद्देश्य न समझने के कारण आलोचकों ने ऐसे तर्क-वितर्क दिए हैं। अवश्य ही गोदान में ग्राम का

---

[1]देखिए 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' में 'प्रेमचन्द का गोदान: यदि मैं लिखता', (पृ० २३१)

[2](वही, पृ० २३२)

[3](वही, पृ० २३१)

सूक्ष्म-यथार्थ तथा समग्रतः सम्पूर्ण चित्रण है, विशेष मार्मिक कथा भी ग्रामीण होरी की है, प्रारम्भ तथा अंत भी ग्रामीण कथा से हुआ है किन्तु इस से यह न समझना चाहिए कि गोदान का उद्देश्य ही यही है। वस्तुतः होरी की कथा संवेदना-उद्बोधन में, गति देने में तो सक्षम है किन्तु उससे पूरी दिशा नहीं मिल सकती। गाँव की दुःखद दशा का कारण समग्र समाज का विकृत ढाँचा है, जो मात्र ग्रामीण महाजनों के शोषण-कृत्यों के चित्रण से स्पष्ट नहीं हो सकता।

बाजपेयी जी ने 'गोदान' नाम से यह निष्कर्ष निकाला है कि गोदान का उद्देश्य ग्राम-चित्रण है और "इससे यह सूचना नहीं मिलती कि यह सम्पूर्ण भारतीय जीवन को चित्रित करने का लक्ष्य रखता है। जो लक्ष्य उस कृति का नहीं है, उसे उस पर आरोपित करना व्यर्थ है। 'गोदान' नाम से यही भासित होता है कि इसका सम्बन्ध कृषकों के जीवन के किसी मार्मिक पहलू से है। और यही वस्तु हम उपन्यास में पाने की सम्भावना रखते हैं। किसी दूसरी वस्तु की सूचना उपन्यास के नाम से नहीं मिलती।" (पृ० १४६, 'आधुनिक साहित्य') हमें यह तर्क उचित नही प्रतीत होता क्योंकि गोदान केवल ग्रामीण हिन्दुओं के लिए नहीं वरन नगर के हिन्दुओं के लिए भी धार्मिक कृत्य है और दोनों के लिए मरणासन्न स्थिति में महत्त्वपूर्ण दान है। इस से गाँव की नहीं सम्पूर्ण हिन्दू समाज के जीवन से सम्बन्धित किसी विषय की सूचना मिलती है। तो क्या गोदान का उद्देश्य सम्पूर्ण भारतीय समाज का चित्रण है? इस सम्बन्ध में नलिन विलोचन शर्मा का मत है—"हिन्दी के आलोचकों ने एक स्वर से 'गोदान' की यह आलोचना की है कि उसकी कथा-वस्तु असम्बद्ध है। वस्तुतः यही गोदान के स्थापत्य की वह विशेषता है जिस के कारण उसमें महाकाव्यात्मक गरिमा आ जाती है। नदी के दो पाट असम्बद्ध दीखते हैं पर वे वस्तुतः असम्बद्ध नहीं रहते—उन्हीं के बीच से जल-धारा बहती है। इसी तरह 'गोदान' की असम्बद्ध सी दीख पड़ने वाली दोनों कहानियों के बीच भारतीय जीवन की

विशाल धारा बहती चली जाती है। भारतीय जन जीवन का, जो एक ओर नागरिक है और दूसरी ओर ग्रामीण, और जो एक साथ ही अत्यन्त प्राचीन भी है और जागरण के लिए छटपटा भी रहा है, इतने बड़े पैमाने पर इतना यथार्थ चित्रण हिन्दी ही में ही क्यों, किसी भी भारतीय भाषा के किसी भी उपन्यास में नहीं हुआ।"†

हम उक्त कथन के इस अंश से तो सहमत है कि इस में जागरण के लिए छटपटाते हुए समाज का चित्रण है किन्तु इस से नहीं कि इस मे 'भारतीय जीवन की विशाल जल धारा बह रही है'। यह बात स्पष्ट है कि गाँव का चित्रण जितना पूर्ण है नगर का चित्रण उससे बहुत कम। नगर के कर्मचारियों की समस्याओं का, मध्यवर्गीय 'बाबूजी' का इसमें संकेत तक नहीं। तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलन के भावमूलक पक्ष को भी यहाँ स्थान नही मिल सकता। सारतः हम आलोचकों के इन दोनों प्रमुख मतों से असहमत हैं कि—

१. गोदान गाँव का चित्र है

२. गोदान गाँव-नगर का, विशाल भारत का चित्र है।

हमारे विचार में गोदान में गाँव का सम्पूर्ण चित्र होते हुए भी प्रेमचन्द ने एक अन्य विशिष्ट दृष्टिकोण से प्रेरित होकर गोदान की रचना की है। व्यक्ति को न भूलते हुए विकृत समाज व्यवस्था के परिवर्तन की प्रेरणा देना गोदान का मूल उद्देश्य है। इस उद्देश्य को समझने पर हमें गोदान के अनावश्यक से प्रतीत होने वाले प्रसंग, आवश्यक जान पड़ेंगे और दोनों कथाओं की अनिवार्यता का ज्ञान हो जाएगा। अतएव पहले हम उक्त मत को स्पष्ट करेंगे जिसके साथ गोदान का कथा-विधान भी स्पष्ट होता जाएगा।

पहले हम अपने मत के 'विकृत समाज व्यवस्था' वाले अंश का स्पष्टीकरण करेंगे। यद्यपि गोदान में सभी प्रकार की—राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक—दूषित व्यवस्थाओं को स्पष्ट

†'आलोचना' का इतिहास विशेषांक (पृ० ११३-१४)

किया गया है, फिर भी अधिक ध्यान समाज के लूट-दर-लूट वाले आर्थिक विधान पर दिया गया है। अतएव पहले हम इसे स्पष्ट करते हैं।

होरी सरल-निष्कपट है, धर्म-भगवान-भीरू है अतएव महाजनों से पिसता है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि वह समझदार नहीं। वह अपनी नैतिक दृष्टि से अन्याय को सहन करता रहा है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह अन्याय-अव्यवस्था के स्वरूप से अवगत नहीं। मरने से पहले हीरा को अपने दुबलेपन का रहस्य बताते हुए वह अपने जीवन-निष्कर्ष को स्पष्ट करता है—"......मोटे वह होते हैं जिन्हें न रिन की सोच होती है, न इज्जत की। इस जमाने में मोटा होना बेहयाई है। सौ को दुबला करके एक मोटा होता है। ऐसे मोटेपन में क्या सुख। सुख तो जब है, कि सभी मोटे हों" (पृष्ठ ३६२ गोदान)। पूँजीवाद की समाज-विषमता या समाज में आर्थिक-असंतुलन जन्य अव्यवस्था इन पंक्तियों में स्पष्ट हो रही हैं। होरी की व्यथा-कथा के द्वारा प्रेमचन्द ने महाजनी शोषण के क्रूर रूप को ही स्पष्ट किया है। इसी को लक्षित कर आलोचक गण 'ऋण की समस्या' को गोदान की मूल समस्या बताते हैं।

गोबर भी इस शोषण की धाँधली से प्रारम्भ से ही परिचित है। होरी के समान सब 'इज्जत' बनाए रखने की दृढ़ता नहीं दिखा सकते। नवयुवक पीढ़ी की उग्रता के द्वारा प्रेमचन्द ने संकेत किया है कि यदि ऐसा ही शोषण चक्र चलता रहा तो नई पीढ़ी इसको सहन न कर सकेगी। गोदान के गोबर के आचरण को उक्त आलोक में देखा जा सकता है। उपन्यास के प्रारम्भ में होरी जब मालिक (ज़मींदार) के चिंताग्रस्त जीवन की बात कहता है तो गोबर होरी को आड़े हाथों लेता है। जमींदार के जीवन को दूसरों के शोषण पर आधारित आनन्दमय जीवन बताता है। वह यह भी स्पष्ट करता है कि जमींदार का भजन-भाव और दान-धर्म किसानों और मजदूरों के बल पर होता है। पाप का धन पचाने के लिए उन्हें दान-धर्म तथा भगवान-भजन की आड़ लेनी पड़ती है। होरी भगवान को बीच में लाकर, जमींदार की रोज चार घण्टे भक्ति की

दुहाई देकर, पूर्व जन्म के कर्मों का फल बताकर जमींदार को आक्षेपों से बचाने का प्रयास करता है किन्तु गोबर 'भगवान की लीला में भी टाँग अड़ाता है'; यही नहीं उसे टँगड़ी मार कर होरी के तर्कों को धराशायी कर देता है। (पृ० १६) उपन्यास के मध्य में, होली के अवसर पर, गोबर महाजनों की लूट-खसोट का व्यंग्यात्मक उपहासों से पर्दाफ़ाश करता है। उपन्यास के अन्त में भी, अपने अनुभवों तथा राजनैतिक भाषणों को सुन सुनकर, गोबर होरी की धर्म-भीरुता को लताड़ता है। कहता है—"न जाने यह धाँधली कबतक चलती रहेगी, जिसे पेट की रोटी मयस्सर नहीं, उसके लिए मरजाद और इज्जत सब ढोंग है, औरों की तरह तुम ने भी दूसरों का गला दबाया होता, उनकी जमा मारी होती, तो तुम भी भले आदमी होते। तुमने कभी नीति को नहीं छोड़ा यह उसी का दण्ड है। तुम्हारी जगह मैं होता तो या तो जेहल में होता, या फाँसी पर गया होता। मुझसे यह कभी बरदाश्त न होता कि मैं कमा-कमाकर सबका घर भरूँ और आप अपने बाल-बच्चों के साथ मुँह में जाली लगाये बैठा रहूँ।" (पृ० ३५६, गोदान) 'जेहल' से 'फाँसी' तक की उग्रता के सोपानों तक प्रेमचन्द ने संकेत कर दिया है। गोबर उन नव जाग्रत नवयुवकों का प्रतिनिधि है जो धाँधली की समाप्ति के लिए क्रांतिकारी पगों पर प्रगति का आह्वान कर रहे हैं।

भोक्ता ज़मींदार भी होरी तथा मेहता को अपने लम्बे भाषणों में इस दूषित समाज-व्यवस्था को स्पष्ट करता है और किसानों को किसी सद्भावना से नहीं, अधिकारों के रूप में रियायतें देने की वाग्वीरता प्रदर्शित करता है। उसकी 'ज़बान की बुद्धि'† यह स्वीकार करती है कि "किसी को भी दूसरे के श्रम पर मोटे होने का अधिकार नहीं है। उप-जीवी होना घोर लज्जा की बात है। कर्म करना प्राणीमात्र का धर्म है। समाज की ऐसी व्यवस्था, जिस में कुछ लोग मौज करें और अधिक लोग पिसें और खपें, कभी सुखद नहीं हो सकती।" (पृ० ५५)।

† मेहता के शब्द पृ० ५५

नगर से गाँव आकर मेहता-मालती भी किसान तथा नारी दोनों को इस दूषित व्यवस्था में पिसते-खपते देखते है। उनकी दुर्दशा देख कर मालती का जागरूक चिंतन देखिए—"क्या तुम्हारा जन्म इसीलिए हुआ है कि तुम मर-मर कर कमाओ और जो कुछ पैदा हो, उसे खा न सको? जहाँ दो-चार बैलों के लिए भोजन है, एक दो गाय-भैसों के लिए चारा नहीं है? क्यों ये लोग भोजन को जीवन की मुख्य वस्तु न समझकर उसे केवल प्राणरक्षा की वस्तु समझते है? क्यों सरकार से नहीं कहते कि नाम-मात्र के व्याज पर रुपए देकर उन्हें सूदखोर महाजनों के पंजे से बचाये? उसने जिस किसी से पूछा, यही मालूम हुआ कि उसकी कमाई का बड़ा भाग महाजनों का कर्ज़ चुकाने में खर्च हो जाता है।" (पृ० ३११) गाँव की त्यागमयी नारियों को देख कर वह श्रद्धानत हो जाती है किन्तु उनकी दुर्दशा देखकर द्रवित-आंदोलित। उस के आंदोलित विचार किसान तथा नारी-दुर्दशा के लिए समान समाधान का संधान कर सके हैं—"नारी को समाज के कल्याण के लिए अपने अधिकारों की रक्षा करनी पड़ेगी। उसी तरह जैसे इन किसानों को अपनी रक्षा के लिए देवत्व का कुछ त्याग करना पड़ेगा।" (पृ० ३१२) मेहता का आदर्श-चिंतन भी हिल उठता है और वह इस यथार्थता का अनुभव करता है कि किसानों की भेड़-निरीहता का उत्तर महाजन-भेड़ियों ने सदैव पंजे और दाँतों से दिया है। ऐसी अवस्था में उनका देवत्व ही उनकी दुर्दशा का कारण हो उठता है और मेहता भी मालती के समतुल्य धरातल पर चिंतन करते हैं—"काश ये आदमी ज़्यादा और देवता कम होते, तो यों न ठुकराये जाते......उनकी निरीहता जड़ता की हद तक पहुँच गयी है, जिसे कोई कठोर आघात ही कर्मण्य बना सकता है।" (पृ० ३१२)

उपन्यास के अन्तिम पृष्ठों में रामसेवक का चिंतन भी इसी यथार्थ भूमि पर आधारित है। वह कहता है: "जो गरीब है, बेबस है, उसकी गरदन काटने के लिए सभी तैयार रहते हैं। भगवान न करे कोई

बेईमानी करे। यह बड़ा पाप है; लेकिन अपने हक और न्याय के लिए न लड़ना उससे भी बड़ा पाप है।......यहाँ तो जो किसान है, वह सब का नरम चारा है।......यह सब हमारे दब्बूपन का फल है।...... इस जमाने में जब तक कड़े न पड़ो, कोई नहीं सुनता। बिना रोये तो बालक भी माँ से दूध नहीं पाता।" (पृ० ३५४) रामसेवक ने अन्याय-नीति के विरुद्ध किसानों को संगठित होने का आह्वान किया है।

जैसे किसान गाँव में शोषित-पीड़ित है वैसे ही नगर में मज़दूर शोषित-प्रताड़ित। प्रेमचन्द जमींदारों तथा पूँजीपतियों के अन्याय को, केवल किसानों पर आधारित ही नही बताते, मजदूरों पर निर्भर भी बताते है। प्रारम्भ में ही गोबर के ऐसे कथन से प्रेमचन्द ने किसान के साथ मज़दूर के प्रति जागरूकता का परिचय भी दिया है। गोदान से पूर्व के उपन्यासों में वे मिलों के विरुद्ध थे, अतएव मज़दूर को भी अपेक्षित सहानुभूति न दे सके थे। रंगभूमि में वह मिल के होने और मजदूरों के कदाचारों के कारण गाँव का उजड़ना प्रदर्शित करते हैं किन्तु अब सामंतवाद के स्थान पर बढ़ते हुए पूँजीवाद की यथार्थता को समझ चुके थे। अतैव एक सच्चे युगद्रष्टा कलाकार की भाँति ईमानदारी से उन्होंने नगर की कथा लेकर मज़दूर-शोषण का चित्रण भी किया है। यह और भी आवश्यक हो जाता है क्यों कि गाँव के उजड़े किसान शहर में मज़दूर बन रहे हैं[1] और किसान अपने गन्ने से गाँव में ही गुड़ बनाने की बजाय शहर की मिलों में गन्ने को बेचने में बाध्य है।

प्रेमचन्द ने इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखा है—"इस साल इधर एक शक्कर का मिल खुल गया था। उस के कारिंदे और

---

[1] खन्ना की मिल के "नये आदमियों में अधिकतर देहातों के दुखी किसान थे, जिन्हें खुली हवा और मैदान में पुराने ज़माने के औज़ारों से काम करने की आदत थी। मिल के अन्दर उन का दम घुटता था और मशीनरी के तेज़ चलने वाले पुर्ज़ों से उन्हें भय लगता था।" (पृ० ३०८)

दलाल गाँव-गाँव घूम कर किसानों की खड़ी ऊख मोल ले लेते थे। वही मिल था, जो मिस्टर खन्ना ने खोला था। एक दिन उसका कारिंदा इस गाँव में भी आया। किसानों ने जो उस से भाव ताव किया, तो मालूम हुआ, गुड़ बनाने में कोई बचत नहीं है; जब घर में ऊख पेर कर भी यही दाम मिलता है, तो पेरने की मेहनत क्यों उठाई जाय ? सारा गाँव खड़ी ऊख बेचने के लिए तैयार हो गया; अगर कुछ कम भी मिले तो परवाह नही। तत्काल तो मिलेगा ! किसी को बैल लेना था, किसी को बाकी चुकाना था, कोई महाजन से गला छुड़ाना चाहता था।...और जब गुड़ के भाव मिल की चीनी मिलेगी, तो गुड़ लेगा ही कौन ?" (पृ० १८६) मिलों को कच्चा माल बेचने में भी किसानों का शोषण होता है। प्रेमचन्द का खन्ना स्वीकार करता है कि किसानों की ऊख तौलने के लिए उसने 'कैसे आदमी रखे' और 'कैसे नकली बाट रखे'। (पृ० २६५) ऐसी अवस्था में प्रेमचन्द के लिए मिल मालिकों तथा मज़दूरों का चित्रण करना आवश्यक था।

मिल-संचालक नगर में बढ़ती बेकारी के कारण मज़दूरों से नाजायज़ फायदा उठाते हैं। पूंजीपति सदैव अपना लाभ सोचता है और वह अगर माल बेचकर नहीं मिलता तो मज़दूर की पघार को कम करके पूरा किया जा सकता है। खन्ना के मिल में मज़दूरों को इसी लिए हड़ताल करनी पड़ती है। सरकार के बजट में शक्कर पर ड्यूटी लगती है और मिल के मालिकों को मजदूरी घटाने का अच्छा बहाना मिल जाता है। ड्यूटी से अगर पाँच की हानि थी, तो मजूरी घटा देने से दस का लाभ था। (पृ० २४८) हड़ताल कुचलने के लिए बेकारी भी सहायता करती है, सरकारी पुलिस भी। शोषण की क्रूरता तथा मजदूर के परवश अपमानित जीवन की व्याख्या करते हुए प्रेमचन्द लिखते है—"मज़दूरों की हड़ताल जारी है; मगर अब उससे मिल के मालिकों की कोई विशेष हानि नहीं है, नये आदमी कम वेतन पर मिल गए हैं और जी तोड़कर काम करते हैं; क्योंकि उनमें सभी ऐसे हैं, जिन्होंने बेकारी के

कष्ट भोग लिए हैं और अब अपना बस चलते ऐसा कोई काम करना नहीं चाहते जिससे उनकी जीविका में बाधा पड़े। चाहे जितना काम लो, चाहे जितनी कम छुट्टियाँ दो, उन्हें शिकायत नही। सिर झुकाए बैलों की तरह काम में लगे रहते हैं। घुड़कियाँ, गालियाँ, यहाँ तक कि डंडों की मार भी उन में ग्लानि नही पैदा करती; और अब पुराने मज़दूरों के लिए इसके सिवा कोई मार्ग नही रह गया है कि वह इसी घटी हुई मजूरी पर काम करने आयें और खन्ना साहब की खुशामद करे।" (पृ० ३०७) मजदूरों के जीवन में भाग लेने वाला मेहता हमे मजबूर-मज़लूम मज़दूरों के दर्दनाक जीवन से परिचित कराता है। खन्ना को झाड़ते हुए वह कहता है—"क्या यह ज़रूरी था कि ड्यूटी लग जाने से मजूरों का वेतन घटा दिया जाय? आप को सरकार से शिकायत करनी चाहिए थी। अगर सरकार ने नही सुना, तो उसका दण्ड मजूरों को क्यों दिया जाय? क्या आपका विचार है कि मजूरों को इतनी मजूरी दी जाती है कि उस में चौथाई कम कर देने से मजूरों को कष्ट न होगा। आप के मजूर बिलों में रहते है—गंदे बदबूदार बिलों में—जहाँ आप एक मिनट भी रह जायँ, तो आप को कै हो जाय। कपड़े जो वह पहनते हैं, उनसे आप अपने जूते भी न पोंछेंगे। खाना जो वह खाते हैं, वह आपका कुत्ता भी न खायेगा।......आप उनकी रोटियाँ छीनकर अपने हिस्सादारों का पेट भरना चाहते हैं......" (पृ० २९१) मेहता के कथनों का सारांश यही था कि जो अपनी जान खपाते हैं उनका हक उन लोगों से ज़्यादा है जो केवल रुपया लगाते हैं। मिलों में काम करने वाले मज़दूर क्यों दुराचारी हो जाते हैं, इसकी भी प्रेमचन्द ने सहानुभूति पूर्ण व्याख्या की है। बड़े सवेरे जाकर दिन भर बाद दिया जले घर लौटने वाला श्रमिक मिल के कोलाहलमय बद्ध वातावरण में इतना भाराक्रांत हो जाता है, 'न जाने कब डाँट पड़ जायँ' की आशंका उसकी आत्मा को इतना हीन बना देती है कि मनोरंजन के अन्य साधनों के अभाव में उसका ताड़ी या शराब में अपनी

दैहिक थकान और मानसिक अवसाद का डुबाना स्वाभाविक हो जाता है। (पृ० २८०) मिल का जमादार आँखें दिखाता है किन्तु कोई मज़दूर उससे तो आँख मिला नहीं सकता। उसका गुस्सा वह घर आकर अपनी पत्नी पर उतारता है।

उजड़ते हुए किसान का नगर में जाकर मजदूर बनाना और वहाँ भी बड़े महाजनों (Bankers) के शोषण चक्र में पिसना, यह सब प्रदर्शित करने के लिए नगर का कथानक लिया गया है। इसके साथ प्रेमचन्द गाँव-नगर में ऊपर से नीचे तक फैले हुए उस विकृत आर्थिक ढाँचे को भी स्पष्ट करना चाहते थे। इस लूट-दर-लूट के आर्थिक विधान को प्रेमचन्द ने निम्न प्रसंगों में स्पष्ट किया है—

१. होरी को लूटने वाले चार-चार महाजन है और उन में सब से बड़ा महाजन झींगुरीसिंह शहर के बड़े महाजन का एजेन्ट है। इसके नीचे कई आदमी और थे, जो आस-पास के देहातों में घूम-घूम कर लेन-देन करते थे। (पृ० १०३)

२. प्रेमचन्द ने व्यक्त किया है कि नगर में जिस खन्ना बाबू का मिल है उसकी महाजनी कोठी भी है। अतैव झींगुरीसिंह और खन्ना दोनों एक हैं। (पृ० १८६)

३. इस व्यावसायिक धन-प्रधान युग में महाजनी का एक सामान्य शौक हो जाता है। व्यवस्था ही ऐसी है। इसलिए प्रेमचन्द बताते हैं कि एक समय होरी ने भी महाजनी की थी। (पृ० १०३) और वह यह दिखाते हैं कि गोबर भी कुछ धन कमाने पर शहर में महाजन बन बैठता है।

४. ये महाजन लूटते है मुसीबत में पड़े कृषकों को और इन को लूटते हैं सरकारी दारोगा गण्डासिंह, जिनका 'मारा पानी भी नहीं माँगता'। (पृ० ११८) सभी महाजन दारोगा से मिल कर होरी की लूट में

बाँट-बखरा करना चाहते हैं। सरकार का पटवारी, 'पटेश्वरी' दारोग़ा से होरी की गरीबी की वकालत करता है किन्तु जब देखता है कि दारोग़ा जी होरी को ऐसे ही छोड़ रहे हैं तो साफ कहता है—'नहीं हुज़ूर, ऐसा न कीजिए, नहीं फिर हम कहाँ जायँगे। हमारे पास कौन सी खेती है।......जब ऐसा ही कोई अवसर आ जाता है आपकी बदौलत हम भी कुछ पा जाते हैं। नहीं पटवारी को कौन पूछता है।" (पृ० ११५) किन्तु धनिया की उग्रता के कारण परिणाम यह होता है कि दारोगा इन लूटने वालों को ही लूट लेता है, यह धमकी देकर कि उन सबके घर की तलाशी होगी और यदि वह चाहे तो इन सब को जेल भी भिजवा सकता है। प्रेमचन्द ने लूट में सबकी मिली भगत तथा लूट-मध्ये-लूट के आर्थिक ढाँचे को स्पष्ट किया है।

५. जमींदार भोक्ता ही नही भोग्य भी है। जमींदार के बहुत से दोष व्यक्ति के नहीं व्यवस्था के हैं। वह अपने नीचे वालों को, कृषकों को लूटता है और स्वयं उसे हुक्काम के तलवे चाटने पड़ते हैं। स्वयं जमीदार के शब्दों में 'साहब शिकार खेलने आये या दौरे पर, मेरा कर्त्तव्य है कि उनकी दुम के पीछे लगा रहूँ। उनकी भौहों पर शिकन पड़ी और हमारे प्राण सूखे, उन्हें प्रसन्न करने के लिए हम क्या नहीं करते......डालियों और रिश्वतों तक तो खैर ग़नीमत है, हम सिजदे करने को भी तैयार रहते हैं।" (पृ० १५) रामसेवक ने अन्त में जमीदार के उक्त कथन को मानो यह कह कर प्रमाणित किया है कि "अभी जमींदार ने गाँव पर हल पीछे दो-दो रुपए चन्दा लगाया। किसी बड़े अफ़सर की दावत की थी।" जमींदार यदि हुक्काम की इन विभिन्न तरीकों से आवभगत न करें तो बाग़ी समझे जाएँ। (पृ० ५५) यह जमींदार भी अपने बड़े खर्चों के लिए खन्ना जैसे बड़े महाजनों (Bankers) का ग़ुलाम है, कर्जदार है। रायसाहब ओंकारनाथ को अपनी दशा बताते हुए कहते हैं—"मेरे सिर पर कितना कर्ज़ है यह भी कभी आपने पूछा है; अगर सभी महाज़न डिग्रियाँ कर लें, तो मेरे हाथ की यह अँगूठी तक बिक जाएगी।"

(पृ० १७७) मेहता से भी रायसाहब कहते हैं—"हम नाम के राजा हैं। असली राजा तो हमारे बैंकर हैं। (पृ० २४२) और ये बैंकर खन्ना भी सरकार की दृष्टि के आलोक में चलते हैं। खन्ना मेहता को नारी व्यायामशाला के लिए कुछ देने की इच्छा नहीं रखता किन्तु जब उसे यह पता चलता है कि इसका ज़िक्र गवर्नर साहब की पत्नी लेडी विल्सन से आ चुका है तो वह रायसाहब से कहता है—"उस दिन तो मुझे हैज़ा भी हो जाय, तो वहाँ जाना पड़ेगा।" (पृ० २४३) पटेश्वरी को भी यह गर्व है कि वह 'सरकार बहादुर का नौकर है'।

६. आज के युग में समाचार पत्र एक बड़ी प्रबल शक्ति है। प्रेमचन्द ने ओंकारनाथ के 'बिजली' पत्र की चर्चा की है। किन्तु ये पत्रकार भी अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए गिरगिट की तरह रंग बदलते हैं। 'अर्थ' ने इन्हें भी अर्थहीन बना दिया है। ओंकारनाथ पीड़ित मज़दूरों की वकालत करता है, उन का नेता बनता है, पत्र में उन के समाचार छापकर तथा अन्य चर्चाओं से उन्हें उत्तेजित करता है ताकि उसका पत्र बिके। किन्तु समय आने पर, मज़दूरों को लाठियों से पिटता देख, घर में बैठ जाता है। ओंकारनाथ जनता के हित के कर्त्तव्य पथ की सदैव दुहाई दिया करता है। राष्ट्रीय बनता है किन्तु विदेशी वस्तुओं के विज्ञापन देने में तत्पर रहता है। प्रेमचन्द ने इस से सम्बन्धित एक प्रसंग से लूट-दर-लूट की व्यवस्था को भी स्पष्ट किया है। बाल-विधवा झुनिया के साथ गोबर सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। गाँव की महाजनी पंचायत को होरी को लूटने का अवसर मिल जाता है। सारे महाजन पंच मिल कर होरी से जुर्माना वसूल करते हैं तथा उसका घर रेहन रख लिया जाता है। रायसाहब को जब यह पता चलता है तो वह इसे अपने और अपनी रिआया के बीच पंचों की बेजा मुदाखलत लगती है क्योंकि इस लूट में उन्हें कुछ नही मिला। रायसाहब सारे पंच-महाजनों को जेल भिजवाने की धमकी देकर जुर्माना स्वयं हड़पना चाहते है। एक पत्र द्वारा महाजन इसकी सूचना पत्रकार ओंकारनाथ

को देते हैं कि किस प्रकार जमींदार रायसाहब ने अपने इलाके के एक आसामी से अस्सी रुपए तावान इसलिए वसूल किए कि उस के पुत्र ने एक विधवा को घर में डाल लिया है। रायसाहब को जब यह पता चला तो उन्हें अपने बने बनाए यश में कालिमा पुतने का भय लगा। (पृ० १७५) अतैव वह दौड़े हुए ओंकारनाथ के पास पहुँचे और एक सौ पत्र खरीदने की बात कहकर—रिश्वत देने का संस्कृत रूप—ओंकारनाथ को हाथ में कर आए। (पृ० १७६-१७७)

स्पष्ट है कि प्रेमचन्द गाँव से नगर तक, गाँव के एक छोटे महाजन से लेकर सरकारी हुक्कामों तक फैली विकृत आर्थिक व्यवस्था को स्पष्ट कर रहे हैं। उन्होंने गाँव तथा नगर दोनों में सर्वहारा वर्ग के पीड़न का चित्र प्रस्तुत किया है। अब 'प्रेमाश्रम' के जमीदार को सुधारने का कोई लाभ लेखक को नहीं दिखाई देता, क्योंकि एक तो जमींदारी वैसे ही समाप्त हो रही है और पूँजीवाद का आगमन हो गया है दूसरे एक के सुधार से समग्र व्यवस्था नहीं सुधर सकती। व्यक्ति के बहुत से दोष व्यवस्था के कारण हैं।

जैसे प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' के समाधान को नहीं दुहराया वैसे ही एक विशेष परिच्छेद—बत्तीसवें—की योजना कर 'सेवा सदन' की वेश्या समस्या का पुनर्विश्लेषण किया है। सेवा सदन में वेश्याओं तथा उनकी संतान को काम सिखा कर, आत्मनिर्भर बनाने का प्रयास किया जाता है तथा उनका सुधार कर दिया जाता है। यहाँ मेहता मिर्जा के वेश्या-सुधार सम्बन्धी उस कार्यक्रम से असहमति प्रकट करते हैं जो वेश्याओं के लिए नाटक मंडली स्थापित कर उनके लिए आजीविका की व्यवस्था करता है। मेहता समझते हैं जब तक समाज-विधान का समूल परिवर्तन नहीं होता, वेश्या समस्या भी बनी रहेगी। यद्यपि मिर्जा के इस तर्क से कि समाज व्यवस्था का परिवर्तन आसानी से नहीं हो सकता और यह सदियों का मामला है (पृ० ३३१) अतैव समाज की परिवर्तित व्यवस्था के आगमन तक हाथ पर हाथ धरे, बिना किसी

सामाजिक सुधार-उपचार के नहीं बैठा जा सकता—और इस दृष्टि से प्रेमचन्द ने 'सेवा सदन' की आंशिक उपयोगिता व्यक्त की है—फिर भी मेहता के निम्नस्थ कथनों से यही व्यक्त होता है कि इस समस्या का वास्तविक तथा स्थाई समाधान तभी हो सकता है जब समाज-विधान में परिवर्तन हो जाएगा:—

१. जब तक समाज की व्यवस्था ऊपर से नीचे तक बदल न डाली जाय, इस तरह की मंडली से कोई फ़ायदा न होगा। (पृ० ३३०)

२. वेश्याएँ आप की मंडली मे स्थाई रूप से टिक जायँगी, तो भी बाजार में उनकी जगह खाली न रहेगी। जड़ पर जब तक कुल्हाड़े न चलेगे, पत्तियाँ तोड़ने से कोई नतीजा नहीं। (पृ० ३३०)

३. जब तक दुनिया में दौलतवाले रहेंगे वेश्याएँ भी रहेंगी। (पृ० ३३०)

स्पष्ट है कि यहाँ भी लेखक ने वही समाधान दिया है जो उसने किसानों की समस्या के लिए दिया था। अनपढ़-गँवार होरी के अंतिम कथन तथा शिक्षित विद्वान मेहता के उक्त कथनों में आर्थिक विधान को बदलने की एक ही बात कही गई है। यदि उक्त परिच्छेद को निकाल दिया जाय तो होरी की ग्रामीण कथा में कोई अन्तर नही आता किन्तु गोदान के व्यापक उद्देश्य को हृदयंगम करने में उक्त कथनों की महत्ता स्पष्ट है। गोदान के विभिन्न प्रसंगों की सार्थकता उनके समाज-व्यवस्था के परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव कराने में योग देने पर समझी जा सकती है। वेश्या तथा नारीदुर्दशा—जिनके बारे में मालती के कथन का उल्लेख किया जा चुका है—तथा किसान-मज़दूर की दुर्दशा के एक ही समाधान की ओर इंगित स्पष्ट है। इस उद्देश्य की एकता के आधार पर गोदान के कथा-विधान को समझा जा सकता है।

मीनाक्षी-दिग्विजयपालसिंह प्रसंग की सार्थकता भी इसमें है कि प्रेमचन्द पुरुष के अहंकार तथा स्वेच्छाचारिता की प्रतिक्रिया में नारी में

संचित होने वाली विद्रोह प्रवृत्ति को प्रदर्शित कर पुरुष समाज को चेतावनी देना चाहते हैं। मेहता, शिक्षित महिलाओं की 'वीमेन्स लीग' में अपने आदर्शवादी भाषण में नारी के गुणों को विशेष प्रशस्ति देकर उनको कर्त्तव्य कर्म पर आरूढ रहने का प्रोत्साहन देते है, नारीत्व को खोकर पुरुष के प्रतिकार करने के पक्ष में वह नहीं हैं। मेहता की आदर्श नारीत्व की प्रतीक गोविंदी भी उनके एकांगी भाषण को सुनकर यथार्थ बात कहे बिना नही रह सकती "...भूल जाइए कि नारी श्रेष्ठ है और सारी जिम्मेदारी उसी पर है, श्रेष्ठ पुरुष है और उसी पर गृहस्थी का सारा भार है। नारी में सेवा और संयम और कर्त्तव्य सब कुछ वही पैदा कर सकता है; अगर उसमें इन बातों का अभाव है, तो नारी में भी अभाव रहेगा। नारियों में आज जो यह विद्रोह है, इसका कारण पुरुष का इन गुणों से शून्य हो जाना है।" (पृ० १७०) मीनाक्षी को भी ऐसे ही पुरुष से पाला पड़ा जो अपने सभी प्रकार के कर्त्तव्यों से विमुख हो चुका है—जो ऐयाश, शराबी और मग़रूर है, अपनी कुल-प्रतिष्ठा की डींग मारने वाला, स्वभाव का निर्दयी और कृपण, गाँव की नीच जाति की बहू-बेटियों पर डोरे डालने वाला है। मीनाक्षी न्यायालय में जाकर उस पर गुज़ारे की डिग्री पाती है और सम्बन्ध विच्छेद करती है। एक दिन जब वह वेश्याओं के नाच-रंग में मग्न था तो हण्टरों से उसकी मरम्मत भी करती है। प्रेमचन्द ने परोक्ष रूप से इसका समर्थन ही किया है। प्रेमचन्द का यह कथन उनकी मनोवृत्ति की व्याख्या कर सकता है—"उसने रण-चण्डी की भाँति पिशाचों की इस चाण्डाल-चौकड़ी में पहुँचकर तहलका मचा दिया। हंटर खा-खाकर लोग इधर-उधर भागने लगे, उसके तेज के सामने वह नीच शोहदे क्या टिकते।" (पृ० ३२७) स्पष्ट है कि प्रेमचन्द अपनी नैतिकता को अति से बचा रहे हैं, आदर्श को यथार्थ भूमि पर प्रतिष्ठित कर नैतिकता को वैज्ञानिक-व्यावहारिक बना रहे हैं। गोदान में वह सभी प्रकार के विकृत समाज विधान की ओर सजग रह कर उन

समस्त प्रतिक्रियात्मक प्रगतियों का परिचय देते हैं, जो संक्रमित, करवटें बदलने वाले समाज में लक्षित-विकसित हो रही थीं।

मीनाक्षी हिन्दू बालिका के समान बेजुबान थी। रायसाहब ने जिसके साथ विवाह कर दिया, वह उसके साथ चली गई। हमें पता है कि वह दिग्विजयसिंह जैसे कदाचारी के हाथ पड़ी। मीनाक्षी का भाई रुद्रपालसिंह अपने बाप रायसाहब की इच्छानुसार विवाह पर तैयार नहीं होता, क्योंकि रायसाहब मात्र 'प्रतिष्ठा' के आधार पर विवाह करना चाहते हैं और रुद्रपालसिंह तथा सरोज प्रेम के आधार पर। प्रेमचन्द मेहता के मुख से रायसाहब से कहते है—"आप अपनी शादी के जिम्मेदार हो सकते हैं। लड़के की शादी का दायित्व आप क्यों अपने ऊपर लेते हैं, खासकर जब आप का लड़का बालिग है और अपना नफ़ा-नुकसान समझता है, कम-से-कम मैं तो शादी जैसे महत्त्व के मुआमले में प्रतिष्ठा का कोई स्थान नहीं समझता।" (पृ० ३२२) प्रेमचन्द ने पूर्व के उपन्यासों में अनमेल विवाहों की चर्चा की थी, और यहाँ उन्होंने सम्बन्ध-विच्छेद करा दिया। पूर्ववर्ती उपन्यासों में माँ बाप की इच्छा के विरुद्ध स्वेच्छानुसार विवाह न कर सकने के कारण लड़के-लड़कियों को तड़पना पड़ा था—'कायाकल्प' का चक्रधर इसका अपवाद है—गोदान में यह भी सम्पन्न हो गया।

सामाजिक क्षेत्र में एक अन्य क्रांतिकारी कदम भी उठाया गया है। सोना जहेज़ न लेने के लिए लड़के को चुनौती देती है—उसकी यह शर्त है कि मथुरा जहेज़ न ले तभी वह विवाह कर सकती है—और मथुरा अपने बाप की ताड़ना की उपेक्षा कर के उस से विवाह कर लेता है।

प्रचलित नीति-नियमों के विरुद्ध प्रेमचन्द ने अपने जीवन की घटना के आदर्श को गोदान में चरितार्थ किया। उन्होंने स्वयं बाल-विधवा से विवाह किया था और गोदान में गोबर बाल-विधवा झुनिया से विवाह

कर लेता है। इसके लिए होरी-धनिया को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा किन्तु गोबर-झुनिया का साथ बना रहा।

आर्थिक और सामाजिक विकृति के साथ प्रेमचन्द ने धार्मिक विकृति को भी प्रदर्शित किया है। स्वार्थी समाज ने मात्र बाह्याडम्बरों को ही धर्म समझ लिया है। पूजा-पाठ, कथा-व्रत, चौका-चूल्हा, ब्राह्मण-भोज तथा छूआछूत को ही धर्म का मूल तत्त्व समझ लिया गया है। (पृ० २५०) यही नहीं धर्म स्वार्थ-व्यापार का शृङ्गार बन गया है—धर्मभीरु भोले-भाले व्यक्तियों को लूटने का साधन। दातादीन पटेश्वरी तथा मातादीन-सिलिया के प्रसंगों में धर्म के कंकाल को अनावृत किया गया है। जो प्रेमचन्द निम्न जातियों के उद्धार के लिए समाज को तैयार होते हुए न पा सके वह गोदान में आगे बढ़कर ब्राह्मण को ही निम्न जाति में ले आते हैं, और धर्म के वास्तविक रूप का परिचय देने के लिए कहलाते हैं—"मैं ब्राह्मण नहीं चमार ही रहना चाहता हूँ। जो अपना धरम पाले वही ब्राह्मण है, जो धरम से मुँह मोड़े वही चमार है।" (पृ० ३५०) यहाँ मातादीन ढोंग भरे बम्हनई के बोझ को उतार फेंकता है।

धार्मिक के साथ राजनैतिक विकृति का भी यत्र-तत्र परिचय दिया गया है। अब शोषकों को भी शोषण करने के लिए सभ्य साधनों का प्रयोग करना पड़ता है। यहाँ सिंह को भी शिकार के लिए मीठी बोली बोलनी पड़ती है। राय साहब और खन्ना के आचरण इसका प्रमाण हैं। दोनों एक ओर सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेते हैं दूसरी ओर हुक्काम के तलवे सहलाते रहते हैं। खद्दर पहनते हैं और फ्रांस की शराब पीते हैं। ये समता के सिद्धान्तों की वकालत करते हैं और शोषण से उसकी फीस वसूल कर लेते है। रायसाहब की विशाल सहृदयता विशालतर उदर की पूर्ति के लिए है। गाँव के महाजन-मुखिया भी स्वराज्य की दुहाई देते रहते हैं। प्रेमचन्द ने जेल जाने के फ़ैशन तथा दिखावटी नारे बाज़ी की धनिया के माध्यम से खूब खबर ली

है—"ये हत्यारे गांव के मुखिया हैं, गरीबों का खून चूसने वाले। सूद-ब्याज, डेढ़ी-सवाई, नजर-नजराना, घूस-घास जैसे भी हो, गरीबों को लूटो। उस पर सुराज चाहिए। जेहल जाने से सुराज न मिलेगा। सुराज मिलेगा धरम से, न्याय से।" (पृ० ११७) प्रेमचन्द ऐसे स्वराज्य के पक्ष में नही थे जिसमें समाज-विधान का परिवर्तन न हो, और निर्धन किसान-मजदूर पिसते रहें। मालती के निम्नस्थ कथन में प्रेमचन्द ने सांस्कृतिक विकृति का परिचय देते हुए जेल जाने की पोल खोल दी है—"मैं ने केवल एक बार जेल जाने के सिवा और क्या जन-सेवा की है? और सच पूछिये तो उस बार भी मैं अपने मतलब ही से गयी थी, उसी तरह जैसे रायसाहब और खन्ना गये थे। इस नयी सभ्यता का आधार धन है, विद्या और सेवा और कुल और जाति सब धन के सामने हेच है। कभी-कभी इतिहास में ऐसे अवसर आ जाते हैं, जब धन को आन्दोलन के सामने नीचा देखना पड़ता है; मगर इसे अपवाद समझिए।" (पृ० १४७)

प्रजातन्त्र-प्रणाली भी प्रजा की नहीं धनवानों की प्रणाली होगई है। प्रेमचन्द ने प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली से होने वाले चुनावों की पोल खोली है। मिर्जा के शब्दों में—"मुझे अब इस डेमॉक्रेसी में भक्ति नहीं रही, ज़रा-सा काम और महीनों की बहस। हाँ, जनता की आँखों में धूल झोंकने के लिए अच्छा स्वाँग है।.........जिसे हम डेमॉक्रेसी कहते हैं, वह व्यवहार में बड़े-बड़े व्यापारियों और जमीदारों का राज्य है; और कुछ नहीं। चुनाव में वही बाजी ले जाता है जिसके पास रुपये हैं। रुपये के ज़ोर से उसके लिए सभी सुविधाएँ तैयार हो जाती हैं। बड़े-बड़े पण्डित, बड़े-बड़े मौलवी, बड़े-बड़े लिखने और बोलने वाले, जो अपनी ज़बान और क़लम से पबलिक को जिस तरफ़ चाहें फेर दें, सभी सोने के देवता के पैरों पर माथा रगड़ते हैं।" (पृ० ९५) रायसाहब दो बार कौंसिल के सदस्य चुने गए थे किन्तु दोनों ही बार उन पर एक-एक लाख की चपत पड़ी थी। (पृ० २३३) इसलिए लेखक चुनावों

को 'सोने की हँसिया' कहता है जिसे उगलना-निगलना दोनों कठिन है। (पृ० २३३)

विभिन्न प्रकार की समाज-विकृतियों के विवेचन से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने गोदान में सर्वांगीण विकृति को प्रदर्शित किया है और उसके मूल में प्रायः अर्थ को अनर्थ करते देखा है। अतैव प्रेमचन्द ने सर्वत्र 'धन-दुश्मनी' †दिखाई है तथा अर्थ की समानता पर बल दिया है।

अब हम गोदान के मूल उद्देश्य के दूसरे अंग 'व्यक्ति' की व्याख्या करेंगे जिसके विस्मरण से समाज-व्यवस्था के परिवर्तन से भी सुव्यवस्था के स्थायित्व की सम्भावना नही हो सकती। ओंकारनाथ और मेहता में समाज-विषमता के कारणों पर वाद-विवाद चल रहा था तब रायसाहब ओंकारनाथ को समझाते है—व्यक्तिगत बातों पर आलोचना न कीजिए सम्पादक जी! हम यहाँ समाज की व्यवस्था पर विचार कर रहे हैं" तब मेहता के मुख से प्रेमचन्द स्पष्ट घोषित करते हैं—"...समाज व्यक्ति ही से बनता है और व्यक्ति को भूलकर हम किसी व्यवस्था पर विचार नहीं कर सकते।" (पृ० ५५) इसी आधार पर मेहता समता के सिद्धांत की सीमाएँ व्यक्त कर सके हैं। धन का यदि किसी प्रकार समान वितरण हो भी जाए तो बुद्धि, रूप, चरित्र, प्रतिभा, बल को बराबर फैलाना शक्ति से बाहर की बात है। (पृ० ५६)

मेहता के उक्त कथनानुसार प्रेमचन्द समाज-व्यवस्था की विकृति का चित्रण करते हुए व्यक्ति को कहीं भूले नहीं हैं—यदि कहीं व्यक्ति में गुण देखा है तो उसकी प्रशंसा की है और यदि दोष देखा है तो उसे मात्र समाज-व्यवस्था का दोष कहकर व्यक्ति की असमर्थता की दुहाई भी नही दी। अपने प्रमुख पात्र होरी के सम्बन्ध में भी प्रेमचन्द ने इसी नीति को अपनाया है। होरी धर्मपरायण है और किसान-जीवन के 'प्रकृति के साथ स्थाई सहयोग' होने की लेखक की उक्ति को चारितार्थ

†जैनेन्द्र जी के प्रश्न करने पर प्रेमचन्द ने अपने समग्र लेखन का सार बताया—धन की दुश्मनी। दे० 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', (पृ० १५)

करता है—'वृक्षों में फल लगते है; उन्हें जनता खाती है; खेती में अनाज होता है, वह संसार के काम आता है; गाय के थन में दूध होता है, वह खुद पीने नहीं जाती दूसरे ही पीते हैं; मेघों में वर्षा होती है, उससे पृथ्वी तृप्त होती है। ऐसी संगति में कुत्सित स्वार्थ के लिए कहाँ स्थान ?" (पृ० १०–११) होरी किसी के जलते घर में हाथ सेकने की बात से तो बहुत दूर है वह सदैव जलते घरों पर पानी छिड़कता है। फिर चाहे उसे स्वयं ही क्यों न जलना पड़े। हीरा, सोभा, झुनिया, सिलिया के साथ उसके व्यवहार तथा रायसाहब की सभा में जान की परवा न करके पठान के साथ जूझ पड़ने के कार्य से यही व्यक्त होता है। एक दो स्थलों पर समाज-विषमता के कारण वह अपने पथ से लड़खड़ाता अवश्य है किन्तु ये अपवाद उसकी सत्य-नीति को और भी प्रखर रूप में हमारे सामने लाकर उसे मानवत्व में ही महत्ता देते हैं। भौतिक दृष्टि से होरी हारा है,—'सब दुर्दशा तो हो गई' उसका अन्त समय का स्वकथन उसकी करुण कथा से भी व्यक्त हो रहा है, किन्तु आत्मिक दृष्टि से न तो होरी की हार हुई न उसके स्रष्टा प्रेमचन्द की। यहीं प्रेमचन्द ने व्यक्ति को महत्ता दी है, अन्त में होरी 'सब के मोटे होने', समान होने, की बात कहता है किन्तु वह स्पष्ट कहता है कि जिन्हें 'इज्जत' का ध्यान नहीं, वही इस ज़माने में मोटे होते हैं। पूँजीपति ही शोषक होने की बेहयाई कर सकता है। (पृ० ३६२) होरी धनवान की इज्जत का रहस्य समझता है और अपने सेवा-त्याग की आत्मिक सबलता, वास्तविक इज्जत, का मूल्य भी। इसलिए वह हारकर भी नहीं हारा। जो उसे हारा हुआ समझते हैं उनसे स्वयं प्रेमचन्द, एक कलाकार की तटस्थता को तिलाञ्जलि देकर भी, चुनौती देते हैं—"कौन कहता है, जीवन-संग्राम में वह हारा है।' (पृ० ३६२) अन्त मे हीरा होरी से कहता है 'तुम से जीते-जी उरिन न हूँगा दादा' तो निम्न कथन में प्रेमचन्द की सेवा-त्यागमय भावुकता फूट पड़ती है और होरी की नैतिक सफलता को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करती है—"होरी प्रसन्न था। जीवन के सारे संकट, सारी

निराशाएँ मानों उसके चरणों पर लोट रही थीं। कौन कहता है जीवन संग्राम में वह हारा है। यह उल्लास, यह गर्व, यह पुलक क्या हार के लक्षण है! इन्ही हारों में उसकी विजय है। उसके टूटे-फूटे अस्त्र उसकी विजय पताकाएँ हैं। उसकी छाती फूल उठी है, मुख पर तेज आ गया है। हीरा की कृतज्ञता में उसके जीवन की सारी सफलता मूर्तिमान् हो गई है। उस के बखार में सौ-दो-सौ मन अनाज भरा होता, उसकी हाँड़ी में हज़ार-पाँच सौ गड़े होते, पर उस से यह स्वर्ग का सुख क्या मिल सकता था? (पृ० ३६२) प्रेमचन्द ने अपने यथार्थ से, वस्तुगत दृष्टिकोण से समाज की विकृति तथा होरी-दुर्दशा का, उसके निर्मम शोषण का वास्तविक चित्रण किया है और अपने आदर्श से, भावात्मक दृष्टिकोण से, तथा होरी की नैतिक दृढ़ता से, होरी की हार को भी विजय व्यक्त किया है, 'स्वर्ग का सुख' तक कहा है। सारतः होरी के प्रति अपने अन्तिम कथन में प्रेमचन्द ने मानव की महानता-मानवता के प्रति आस्था प्रकट की है और होरी के ही कथन से समाज-विषमता की आलोचना की है। यह उनकी आस्थावान जागरूकता का प्रमाण है।

मेहता ने वेश्या समस्या पर विचार करते हुए जहाँ यह कहा है कि जब तक दौलत वाले रहेंगे वेश्याएँ रहेंगी अतैव समाज व्यवस्था को नीचे से ऊपर तक बदलना आवश्यक है वहाँ यह भी कहते हैं कि मुख्यतः मन के संस्कार और भोग-लालसा ही औरतों को इस ओर खींचती है··· ऐश की भूख रोटियों से नहीं जाती। (पृ० ३३०) इसी वेश्या समस्या के प्रसंग में ही वह मालती की दृष्टि से व्यक्ति की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहते हैं—"इन्सान के दिल की गहराइयों में त्याग और कुर्बानी की कितनी ताकत छिपी रहती है।" (पृ० ३३१) मेहता ने अन्यत्र भी सेवा-त्याग को समाज-भवन का आधार माना है। (पृ० ३३५) अनात्मवाद तथा आत्मवाद के विवादों को समझ कर, इनके भीतर जो सेवा मार्ग है, उसे ही उन्होंने महत्ता दी है। प्रेमचन्द का यह सेवा-दर्शन व्यक्ति के नैतिक उत्थान पर आधारित है।

एक ओर जहाँ हमें मीमाक्षी-सरोज में पुरुष के अत्याचारों की प्रतिक्रिया में भावी नारीरूपों का पता चलता है वहाँ दूसरी ओर गोविंदी के आचरण, मेहता की उस के प्रति महान प्रशस्तियों तथा मालती की चरित्र-परिणति से आदर्श नारीरूप का परिचय भी प्राप्त होता है। वस्तुत: प्रेमचन्द चाहते थे कि पुरुष अपने व्यवहार को सुधार लें नहीं तो मीनाक्षी जैसी नारियों की भावी यथार्थ-वस्तुस्थिति से उन्हें सामना करना पड़ेगा क्योंकि सभी मातृत्व के उच्च गुणों का पालन नहीं कर सकतीं। किन्तु साथ ही लेखक यह भी चाहता है कि कहीं पुरुष के प्रतिकार में नारी अपने मानवता पोषक, मातृत्व-मण्डित गुणों को ही त्याग न दे। मालती, गोविंदी तथा मीनाक्षी-सरोज के आदर्शों के उक्त आलोक में विरोध नहीं, विरोधाभास समझा जा सकता है। प्रेमचन्द अन्तर्बाह्य विकास चाहते थे इसलिए व्यक्ति और समाज दोनों की सुव्यवस्था पर समान रूप से बल दे रहे हैं।

मालती ने प्रेम को गौ से उपमित कर आत्म-समर्पण का जो आदर्श रखा है वह प्रेमचन्द की आदर्शवादी आत्मा का तथा उनका व्यक्ति की नैतिक दृढ़ता में आस्था का प्रमाण है।

आध्यात्मिक मानववाद व्यक्ति का ऐसा विकास करता है, यज्ञ या सेवा-त्याग की—मालती-गोविंदी के पक्ष में मातृत्व की—भावना से उसकी आत्मा का इतना विस्तार करता है कि संसार से पृथक् उसकी सत्ता ही नहीं रह जाती। मालती इसी भावना से प्रेरित हो कर मेहता से विवाह नहीं करती ताकि वह और मेहता पारिवारिक मोह के किसी संकुचित घेरे में बन्द न हो जायँ। आर्त्त मानवता को उन दोनों की आवश्यकता है। मालती के शब्दों में—"संसार को तुम (मेहता) जैसे साधकों की ज़रूरत है, जो अपने मन को इतना फैला दें कि सारा संसार अपना हो जाए।" मानो प्रेमचन्द व्यक्त करते हैं कि आध्यात्मिक मानववाद, जो मेहता-मालती जैसे लोगों के आचरण से स्पष्ट है, समाज

की विषमता को दूर कर विकसित समाजवाद की भूमि तक ले जा सकता है।

प्रेमचन्द का धर्मभ्रष्ट मातादीन भी इस निर्णय पर पहुँचता है कि समाज के नाते आदमी का अगर कुछ धरम है, तो मनुष्य के नाते भी तो उसका कुछ धरम है। समाज-धरम पालन से समाज आदर करता है, मगर मनुष्य-धरम पालने से तो ईश्वर प्रसन्न होता है" (पृ० ३०१-२)

गोदान में सुखी कोई भी नहीं—न ग्रामवासी न नगरनिवासी। कुछ व्यक्ति ही इसका अपवाद है। गोदान में शोषित समाज यदि अर्थाभाव के कारण पीड़ित है, दुःखी है, तो शोषक इसलिए कि वे 'मानव' नहीं, धनी होकर भी वे हृदय के धनी नहीं। भौतिक दृष्टि से विजयी होकर भी जीवन में उनकी हार हुई है क्योंकि वे स्वार्थ-रोग से आक्रांत हैं, सेवा-त्याग के द्वारा उन्होंने आत्मविस्तार नही किया। खन्ना की मिल जलवा कर और गोविंदी से उसको अपने नैतिक आदर्शवादी धारणाओं के अनुरूप निम्न उपदेश दिला कर ही वह उसके सुख की कामना कर सके—"मेरे विचार में तो पीड़क होने से पीड़ित होना कहीं श्रेष्ठ है। धन खोकर अगर हम अपनी आत्मा को पा सकें, तो यह कोई महँगा सौदा नहीं। न्याय के सैनिक बन कर लड़ने में जो गौरव जो उल्लास है, क्या उसे इतनी जल्द भूल गए?" (पृ० २९७) इस कथन के पश्चात प्रेमचन्द ने गोविंदी के लिए लिखा है—"गोविंदी के पीले, सूखे मुख पर तेज की ऐसी चमक थी, मानो उसमें कोई विलक्षण शक्ति आ गई हो, मानो उसकी सारी मूक साधना प्रगल्भ हो उठी हो। (पृ० २९७) होरी भी न्याय का सैनिक बन कर, पीड़ित होकर भी अपने सत्पथ पर दृढ़ रह कर संघर्ष करता रहा इसलिए प्रेमचन्द ने उसे प्रशस्ति दी और इस प्रशस्ति में तथा गोविंदी के द्वारा तथा गोविंदी के लिए लेखक के कथन में आप पूरी समानता पाएँगे। प्रेमचन्द ने विभिन्न प्रसंगों से एक ही उद्देश्य ध्वनित किया है और इसी आधार पर ही उन के कथा-प्रसंगों की एकरूपता को समझा जा सकता है।

प्रेमचन्द को सेवा-त्यागमय आदर्शों से प्रारम्भ से ही कुछ ऐसा मोह है, (गोदान में ईश्वर के प्रति निरपेक्ष रह कर भी) व्यक्ति के आत्मिक उत्थान में ऐसी आस्था है, और धन के प्रति ऐसी दुश्मनी है कि वह ऐसा कोई अवसर नहीं छोड़ते जब वह स्वयं या अपने किसी पात्र द्वारा तत्सम्बन्धी वक्तव्य न दें। बैंकर खन्ना की मिल जली है और सभी प्रकार के अनौचित्य तथा विकलात्मकता की उपेक्षा कर प्रेमचन्द का मेहता अमनोवैज्ञानिक किन्तु लेखक के आदर्शानुकूल कहता है—"मैं आप से सच कहता हूँ खन्ना जी, आज मेरी नज़रों में आपकी जो इज्ज़त है वह कभी न थी।" (पृ० २६६)

रायसाहब की कथा से भी प्रेमचन्द ने यही निष्कर्ष निकाला है। उनका नैतिक दृष्टिकोण रायसाहब को शांति नहीं दे सकता था। वह रायसाहब के सम्बन्ध में लिखते हैं—"उनके मन के ऊँचे संस्कारों का ध्वंस न हुआ था। पर-पीड़ा, मक्कारी, निर्लज्जता और अत्याचार को ताल्लुकेदारी की शोभा और रोब-दाब का नाम देकर अपनी आत्मा को सन्तुष्ट न कर सकते थे, और यही उनकी सब से बड़ी हार थी।" (पृ० ३२८)

स्थूल रूप से देखने पर यही लगता है कि दोनों पर—समाज-व्यवस्था के परिवर्तन तथा व्यक्ति के नैतिक गुणों पर—समान बल नहीं दिया जा सकता क्योंकि ये परस्पर विरोधी हैं। किन्तु विरोधी मत एक दूसरे के पूरक अवश्य हो सकते हैं—समाज की समता में व्यक्ति का व्यक्तित्व नष्ट न हो, और व्यक्ति के विकास में समाज में विषमता न आए, समाज का सच्चा सुधार तभी हो सकता है। प्रेमचन्द के समता सिद्धांत में प्रगति तथा परम्परा, समाज तथा व्यक्ति दोनों का समन्वय हो सका है। मानव के मूल गुणों तथा आंतरिक सत्य की उपेक्षा कर के शासन के बल पर, आतंक के अस्त्र-शस्त्र से यदि समता की व्यवस्था हुई तो वह स्थाई नहीं हो सकती। इसलिए प्रेमचन्द ने ऐसी क्रांति नहीं कराई। गोदान लिखने से पहले प्रेमचन्द ने इसी आशय का एक

पत्र श्री इन्द्रनाथ मदान को लिखा था कि उन्हें इस बात पर विश्वास नहीं कि क्राति होने से ही व्यक्ति का सुधार हो जाएगा। हो सकता है कि क्राति से अधिनायकवाद आदि आ जाए। समाज-व्यवस्था में सुधार इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी नैतिकता को स्थिर रख सके और व्यक्ति को ध्यान में रखना इसलिए आवश्यक है कि समाज की समता स्थाई रह सके।

ऊपर हमने गोदान के उद्देश्य की व्याख्या के साथ यह भी स्पष्ट किया है कि किस प्रकार गाँव नगर दोनों के कथानक आवश्यक थे। वस्तुतः गोदान की कथा की सम्बद्धता, उसके गाँव-नगर की कथाओं के उद्देश्य में एकता का प्रमाण है। प्रेमचन्द के विशिष्ट उद्देश्य ने उनके कथा-स्वरूप को निर्धारित किया है। सारांश में हम उन प्रसंगों का परिगणन करेंगे जिन से गाँव-नगर का सम्बन्ध स्पष्ट हुआ है। वे हैं—

१. रायसाहब गाँव-नगर के मध्य की कड़ी है।

२. गोबर गाँव से नगर जा कर, वहाँ के समाज-चेतना के तत्त्वों से गाँव को भी प्रभावित करता है।

३. गाँव के कुछ महाजन शहर के बड़े बैंकर्स के प्रतिनिधि हैं।

४. उन सभी नागरिक कर्मचारियों के कारनामों का वर्णन हुआ है जो गाँव को लूटते हैं। पटेश्वरी तथा दारोग़ा गंडासिंह का प्रसंग ऐसा ही है। रामसेवक ने उन सब कर्मचारियों को परिगणित किया है जो नाना प्रकार से गाँव का शोषण करते हैं। रामसेवक की शब्दावली में जब अपने-अपने रिश्ते के मुताबिक ग्रामीणों पर हाथ फेरते हैं। रामसेवक के शब्दों में"...पटवारी को नजराना और दस्तूरी न दे, तो गाँव में रहना मुश्किल। जमींदार के चपरासी और कारिंदों का पेट न भरे, तो निबाह न हो। थानेदार और कानिसटिबिल तो जैसे उसके दामाद हैं। जब उनका दौरा गाँव में हो जाय, किसानों का धरम है कि वह उनका आदर-सत्कार करें, नजर-न्याज दें नहीं एक रपोट में गाँव का गाँव बँध जाय। कभी कानूनगो आते हैं, कभी तहसीलदार,

कभी डिप्टी, कभी जंट, कभी कलक्टर, कभी कमिस्नर, किसान को उन के सामने हाथ बाँधे हाजिर रहना चाहिए। उनके लिए रसद-चारे, अंडे-मुर्गी, दूध-घी का इन्तज़ाम करना चाहिए।......एक न एक हाकिम रोज नये-नये बढ़ते जाते हैं। डाक्टर कुओं में दवाई डालने के लिए आने लगा है। एक दूसरा डॉक्टर कभी-कभी ढोरों को देखता है, लड़कों का इम्तहान लेने वाला इसपिट्टर है, और न जाने किस किस महकमे के अफसर हैं, नगर के अलग, जङ्गल के अलग, ताड़ी सराब के अलग, गाँव सुधार के अलग, खेती विभाग के अलग। कहाँ तक गिनाऊँ। पादड़ी आ जाता है, तो उसे भी रसद देना पड़ता है, नहीं शिकायत कर दे। और जो कहो कि इतने महकमों और इतने अफसरों से किसान का कुछ उपकार होता हो, नाम को नहीं।'' (पृ० ३५४) चाहे रामसेवक समझता हो 'कहाँ तक गिनाऊँ', प्रेमचन्द ने सब गिना दिए हैं। 'इत्यादि' के लिए भी स्थान नही छोड़ा। प्रेमचन्द ने सजग दृष्टि से रामसेवक से साभिप्राय कथन कहलवाया है।'' इस शोषकक्रम में अंग्रेजी राज्य के परोक्ष स्तम्भ पादरी की गणना कराके लेखक ने गहरी पैठ का परिचय दिया है।

५. नगर के ग्राम-सुधारकों—मेहता-मालती का होरी-गृह में आगमन, वैसे भी समय समय पर गाँव में आना और ग्रामीणों की यथार्थ वस्तुस्थिति से परिचित होने का प्रयास करना आदि उन भविष्य की सम्भावनाओं को व्यक्त करता है जिनके द्वारा सर्वहारा वर्ग चेतना प्राप्त कर सकेगा तथा संगठित हो सकेगा। इसका प्रमाण यह है कि लेखक ने कहीं भी मेहता को मजदूरों में कार्य करते नहीं दिखाया, फिर भी यह लिखा है कि मेहता ने मजदूरों के जीवन में भाग लिया है। प्रेमचन्द चाहते थे कि नागरिक ग्रामीणों के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही दिखाकर न रह जाएँ और उनके जीवन में सक्रिय भाग लेकर ग्राम-सुधार को वास्तविक रूप से अपनाएँ, किसी फैशन के रूप में नहीं। मेहता-मालती ऐसे ही प्रभावित दिखाई देते हैं, रूपा की शादी पर उनके द्वारा उपहार भी भेजा जाता है।

६. प्रेमचन्द ने अपने आदर्श पात्रों के मुख से नगर के शिक्षित वर्ग में चल रहे ग्राम-सुधार के बौद्धिक आंदोलनों की पोल खोली है। इस सम्बन्ध में मेहता रायसाहब से कहते हैं—"......आप कृषकों के शुभेच्छु है, उन्हें तरह-तरह की रियायत देना चाहते है, जमीदारों के अधिकार छीन लेना चाहते है, बल्कि उन्हे आप समाज का शाप कहते हैं; फिर भी आप जमीदार है, वैसे ही जमींदार जैसे हजारों और ज़मींदार हैं। अगर आप की धारणा है कि कृषकों के साथ रियायत होनी चाहिए तो पहले आप खुद शुरू करें—काश्तकारों को बगैर नजराने लिए पट्टे लिख दें, बेगार बन्द कर दें, इजाफ़ा लगान को तिलाजलि दे दें, चरावर जमीन छोड़ दें मुझे उन लोगों से जरा भी हमदर्दी नही है, जो बातें तो करते हैं कम्युनिस्टों की सी, मगर जीवन है रईसों का सा, उतना ही विलासमय, उतना ही स्वार्थ से भरा हुआ।" (५३)

७. नगर के सम्पादक के पास गाँव में होने वाले शोषण कार्यों का समाचार पहुँचता है और जमीदार भी अपनी स्थिति-रक्षा के लिए दौड़धूप करता है—प्रेमचन्द की दृष्टि विकृति के विश्लेषण पर ही नहीं रही, उसके सुधार की सम्भावनाओं तथा उनकी सीमाओं पर भी रही है।

८. गाँव के किसान उजड़ कर नगर में मजदूर बन रहे है, गाँव उजड़ रहे हैं और नगर बस रहे हैं। वहाँ औद्योगिक उन्नति के साथ एक अन्य शोषक तथा शोषित वर्ग उत्पन्न हो गया है जिसकी दुर्दशा शोषित ग्रामीणों से किसी प्रकार भी कम नहीं।

९. नगर के मिल मालिक कच्चे माल के लिए अपने कारिंदों को गाँव भेजते हैं। उनका तैयार माल इतने दामों पर बिकता है कि किसानों के गृह-उद्योग प्रतियोगिता में नहीं ठहर सकते। किसान समझता है कि गन्ने से गुड़ बनाने में अब कोई लाभ नही, क्योंकि मिल की चीनी की प्रतियोगिता में वह नहीं ठहर सकता।

१०. माल खरीदने और तोलने में भी मिल-मालिक ग्रामीणों को धोखा देते है।

स्थान-स्थान पर लेखक तथा पात्रों के द्वारा गाँव-नगर की तुलना से भी गाँव-नगर के सम्बन्धों का पता चलता है। ये प्रसंग है—

(१) जमीदार के घर नागरिक पात्रों के सामने, धनुष यज्ञ के अवसर पर होरी की नैतिक दृढ़ता का परिचय मिलता है। पठान से मालती की रक्षा करने को कोई तत्पर नहीं होता, सब डरते है; उनमें रुपया तक लगाने का नैतिक साहस नहीं; किन्तु होरी अपने प्राणों को दाव पर लगा कर उसकी रक्षा करता है।

(२) शिकार खेलने के अवसर पर मेहता वन्यबाला के मानवतामय आचरण तथा नागरी मालती के कृत्रिम विलासमय जीवन की तुलना करता है।

(३) नगर से गाँव लौटने वाले नवयुवकों में विशेष परिवर्तन आ जाता है। उनमें सामाजिक रूढ़ियों की प्रतिष्ठा और लोक निंदा का भय कम हो जाता है। (पृ० २०४)

(४) गाँव के लड़के शहर जाकर बुरे आचरण सीख आते हैं। बटेश्वरी के लड़के के बारे में दुलारी कहती है—"यह सहरी हो गये, गाँव का भाई-चारा क्या समझें। लड़के गाँव में भी हैं, मगर उनमें कुछ लिहाज है, कुछ अदब है, कुछ डर है। ये सब तो छूटे साँड़ हैं।" (पृ० २६०)

(५) मालती गाँव में आकर गाँव-नगर की नारियों की तुलना करती है।

(६) गाँव-नगर के खुले-तंग वातावरण की तुलना भी की गई है। (पृ० २७९)

हम समझते हैं कि गाँव-नगर में जैसा, जिस रूप में, जिस सीमा में और जिन के द्वारा सम्बन्ध रहा है, वैसा ही गोदान में वर्णित है। इससे अधिक सम्बन्ध कथावस्तु के संगठन को चाहे दृढ़ बना देता किन्तु समाज-व्यवस्था के ढाँचे को, गाँव-नगर के सीमित सम्बन्ध तथा स्वरूप

को यथार्थ रूप में हमारे सामने न ला सकता। ऐसे कथा-विधान द्वारा प्रेमचन्द ने संक्रमणशील समाज-विधान के यथार्थ प्रभाव को उतारने का प्रयास किया है। व्यापक संवेदनशील बहिर्मुखी उपन्यास-कारों के उपन्यासों के शिल्प पर सामाजिक-राजनीतिक परिवेश का विशेष प्रभाव पड़ता है। मध्य युग मे जब सामंतिक समाज-विधान का ढाँचा निश्चित आकार में खड़ा था, उस समय महाकाव्यों का प्रचलन हुआ जो विशालता, समृद्धि, तथा निर्माण विधि की दृष्टि से सामन्तशाही समाज-व्यवस्था के अनुरूप था। सामन्तशाही के अन्त के साथ समाज का ढाँचा शिथिल हो गया। जटिलता, संघर्ष तया वैषम्य की सभ्यता गतिशील हुई और इस अनिश्चतता को व्यक्त करने के लिए निर्बन्ध-लचीले काव्यरूप उपन्यास का आविर्भाव हुआ। उपन्यास के स्वरूप में निरन्तर परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन होते रहे है। प्रेमचन्द के उपन्यास अपने युग के इतिहास हैं; उनमें युगधर्म का पालन पूर्ण प्रामाणिकता से हुआ है। गोदान का शिल्प-विधान भी इसी जागरण के लिए छटपटाते, पाश्चात्य-पौर्वस्त्य आदर्शों के संघर्ष में मार्ग खोजते, नाना प्रकार के शोषण चक्रों से छुटकारे के लिए विकलते, भारत के मूल ग्राम के उजड़ते, पूँजीवाद के विकसते, उसकी प्रतिक्रिया में समता सिद्धान्तों की छान-बीन करते, और औद्योगिक उन्नति से नूतन आविर्भूत सर्वहारा मजदूर वर्ग के पिसते-खपते संक्रमित समाज-विधान की अनुरूपता लिए हुए है।

—:*:—

वृन्दावन लाल वर्मा

१. वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में ऐतिहासिकता

२. 'मृगनयनी' का उद्देश्य

३. 'मृगनयनी' के गुण-दोष

(पृष्ठ-संदर्भादि 'मृगनयनी' की सातवीं आवृत्ति, १९५५ पर आधृत हैं)

वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में ऐतिहासिकता

वृन्दावनलाल वर्मा ने दो प्रकार के उपन्यास लिखे है–ऐतिहासिक तथा सामाजिक। वे ऐतिहासिक उपन्यासकार की दृष्टि से विशेष सम्मानित हैं। इनके ऐतिहासिक उपन्यास ये हैं—गढ़ कुण्डार, विराटा की पद्मिनी, मुसाहिबजू, झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई, कचनार, टूटे काँटे, माधव जी सिंधिया, मृगनयनी, भुवन विक्रम और अहिल्याबाई। इन उपन्यासों के वृहद् आकार, विपुल परिमाण तथा बहुल गुणों को देखकर लेखक की विशेष ऐतिहासिक रुचि का परिज्ञान होता है। इनके उपन्यासों की ऐतिहासिकता के विश्लेषण के लिए यहाँ हम तीन प्रश्नों पर विचार करेंगे। पहला प्रश्न है प्रेरणा और दृष्टिकोण सम्बन्धी—वर्मा जी ने इतिहास के माध्यम को क्यों स्वीकार किया है? दूसरा है आधार विषयक—ऐतिहासिक सामग्री के संकलन के लिए किन स्रोतों से काम लिया गया है? और तीसरा है चित्रणगत—लेखक उपन्यासों में ऐतिहासिकता का समावेश कैसे और किस सीमा तक कर सका है।

प्रेरणा और दृष्टिकोण

वर्मा जी किसी सस्ती रुचि से ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में नहीं आए। बचपन से ही उन्होंने यह अनुभव किया कि विदेशियों के प्रभाव की छाया में भूत इतिहास की स्वर्णिम आभा भी मलिन हो गई है—मानों किसी कुटिल जौहरी ने स्वर्ण में भी ताम्र ही ताम्र देखा हो।[१] सत्य को सिद्ध करने की आकुल तड़प ने उनको ऐतिहासिक अनुसंधान की ओर प्रवृत्त

[१] डा० 'कमलेश' ने इस सम्बन्ध में उनकी बचपन की दो घटनाओं का उल्लेख किया है। उन्हीं के शब्दों में "पढ़ने-लिखने का शौक वर्मा

किया। युगीन वातावरण ने, राष्ट्रीय जागरण तथा स्वतन्त्रता संग्राम के आन्दोलनों ने इनकी तड़प को और भी गति दी। अँग्रेज़ी इतिहासकारों ने रानी झाँसी के प्रति गलत मत व्यक्त करके अन्याय किया था। इस

जी को बचपन से ही है। उनके चाचा के पास बंगला से अनूदित 'अश्रुमती' नाटक आया। उसमें अश्रुमती को जहाँ राणा प्रताप की बेटी लिखा था वहाँ यह भी लिखा था कि जब अकबर द्वारा राणा प्रताप से लड़ने के लिए भेजा हुआ सलीम मेवाड़ गया तो वह उस पर आसक्त हो गई। वर्मा जी को यह बहुत खटका और उन्होंने अपनी शंका चाचा को बताई। चाचा ने कहा कि यह कभी नहीं हो सकता; क्योंकि तब तक या तो सलीम पैदा ही न हुआ होगा और यदि हुआ भी होगा तो वह बच्चा होगा। वर्मा जी के मन में पुस्तकों में लिखी झूठी बातों के प्रति घृणा का बीज तभी से जमा। दूसरी पुस्तक ई० मार्सडन नामक लेखक की 'हिस्ट्री आफ इण्डिया' थी जिसने वर्मा जी को इतिहास के सत्य-आधार की खोज के लिए विवश किया। उस पुस्तक में लिखा था कि हिन्दुस्तान गर्म मुल्क है, इसलिए जो भी आक्रमणकारी लोग यहाँ आये उनसे यह बराबर हारा और पद-दलित होता रहा। अब चूँकि सर्द मुल्क के रहनेवाले अंग्रेज आ गए हैं अतः यह किसी से नहीं हारेगा। वर्मा जी ने इसका अर्थ यह समझा कि हिन्दुस्तान गुलामी से शायद ही मुक्त हो। लेकिन रामायण और महाभारत के राम, कृष्ण और भीम की जब उन्हें याद आई तो उन्हें इस पुस्तक से अंग्रेजों की नीचता का आभास हुआ। उन्होंने गुस्से में पहले तो उस पृष्ठ पर थूका और फिर पेंसिल से इतना काटा कि वह फट गया। चाचा ने पूछा तो पहले तो चुप्पी साधी, पर अन्त में अपराध स्वीकार करना पड़ा। चाचा ने उनकी भावना को समझकर जब अंग्रेजों की निंदा की तो वर्मा जी ने कहा कि मैं सच्ची बातें लिखूँगा। चाचा ने कहा कि सच्ची बातें लिखने के लिए खूब पढ़ना बहुत ही आवश्यक है। फलतः वर्मा जी तभी से पढ़ने में डूब गए।" (देखिए 'वृन्दावनलाल वर्मा : व्यक्तित्व और कृतित्व' पृ० २-३)

अन्याय को दूर करने के लिए विशेष अनुसंधान के साथ वे इतिहास सम्मत 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' उपन्यास लिख सके। पारसनीस के मत का प्रतिवाद करने के लिए, उसकी प्रतिक्रिया में इस उपन्यास की रचना हुई, यह वर्मा जी के स्वकथन से स्पष्ट है जो उन्होंने उपन्यास के 'परिचय' में लिखा है—"पारसनीस के अन्वेषण काफी मूल्यवान होते हुए भी उनका विचार कि रानी (लक्ष्मीबाई) झाँसी का प्रबन्ध अङ्गरेजों की ओर से 'गदर' के जमाने में करती रही—परदादी और दादी की बतलाई हुई परम्पराओं के सामने मनमें खपता नहीं था।" सारतः वर्मा जी की इतिहास-प्रवृत्ति की एक मुख्य भावना वास्तविक ऐतिहासिक तथ्यों को सामने लाकर, विदेशी इतिहासकारों की इतिहास को विकृत करने की प्रवृत्ति का पर्दाफाश करना था।

'झाँसी की रानी' के परिशिष्ट में वर्मा जी ने लिखा है कि "परिशिष्ट का यह खंड प्रतिकूल इतिहासकारों और श्री किंकेड सरीखे अनुकूल लेखकों की आलोचना के लिए नही लिख रहा हूँ। जिनको वास्तव में भ्रम निवारण करना हो, वे इस उपन्यास को पढ़े।" डॉ० सत्येन्द्र इस पर लिखते है—"उपन्यास से तो भ्रम फैलाये जाते हैं। यह लेखक इतिहास के द्वारा फैलाये गये भ्रमों को उपन्यास के द्वारा निवारण करने का निमन्त्रण दे रहा है।† इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास में अन्तर को प्रायः इस उक्ति से व्यक्त किया जाता है कि 'इतिहास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त कुछ सत्य नहीं होता और उपन्यास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और सब सत्य होता है'। वर्मा जी ने ऐतिहासिक भ्रम के निवारण तथा सीमित कल्पना के साथ प्रामाणिकता से इतिहास के पालन द्वारा उक्त उक्ति में इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास के अन्तर को अधिक से अधिक दूर करने का प्रयास किया है। 'झाँसी की रानी' इतिहास में उपन्यास है और उपन्यास में इतिहास।

† मृगनयनी : कला और कृतित्व पृ० २०

ऐतिहासिक भ्रमों के निवारण की वृत्ति लेखक के अन्य उपन्यासों में भी मिलती है। लेखक मुसलमान बादशाहों के सम्बन्ध में उन्हीं के इतिहास लेखकों द्वारा लिखी तारीखों को आँख मूँद कर नहीं मान लेता। 'मृगनयनी' में वर्मा जी ने प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार मुसलमान बादशाह आदि अपने इतिहास लेखकों से मनमानी बातें लिखवाते हैं। गियासुद्दीन मानसिंह से हारकर मॉडू वापस लौट आता है किन्तु अपने इतिहास लेखक को यह लिखने की आज्ञा देता है—'सुल्तान गियासुद्दीन खिलजी ने मानसिंह तोमर को नरवर के मैदान में हराया और ग्वालियर की ओर खदेड़ कर खुद चल आया।' वर्मा जी लिखते हैं—"किसी-किसी गुप्पे-चुप्पे ने लिखकर रख लिया कि सुल्तान गियासुद्दीन नरवर को जीत नही सका और थक कर लौट आया। नरवर के जयति खम्भ में जो कुछ खुदवाया गया, वह कुछ और था।" (पृ० ३०३) डा० सत्येन्द्र को एक पत्र में वर्मा जी ने मृगनयनी, बैजू बावरा और प्रसिद्ध तानसेन के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण किया है। 'मृगनयनी' में बैजू चंदेरी से ही ग्वालियर आता है। लेखक ने पत्र में स्पष्ट रूप से घोषित किया है—'बैजू चंदेरी के रहने वाले थे यह मेरी खोज है । वे चंदेरी में बाल्यावस्था से रहे। वहीं उन्होंने एक गुरु के पास गायकी सीखी। यहीं से वे मानसिंह के पास ग्वालियर आये थे।

एक गीत है :—

'सुनो हो गोपाल नायक कहत बैजु तानसेन' इत्यादि।

यह सब निरा कल्पना प्रसूत है। गोपाल नायक अमीर खुसरो का समकालीन था जो बैजू-तानसेन काल से २०० वर्ष पूर्व हुआ था। यही इच्छा संकल्प बैजू को तानसेन के समकालीन बनाये डाल रही है।*

ऐतिहातिक यथार्थ की रक्षा के लिए तटस्थ-निष्पक्ष रुचि का होना अनिवार्य है। परन्तु इसकी भी सीमाएँ हैं। इस सम्बन्ध में जगदीश गुप्त

*मृगनयनी : कला और कृतित्व पृ० १२९

ने विभिन्न विद्वानों के मतों से ये परिणाम निकाले हैं—"पहला परिणाम तो यह है कि इतिहास पूर्णतया विज्ञान की कोटि में नहीं आता अतएव वैज्ञानिकता पर ही अतिशय आग्रह करना अनुचित और अनुपयुक्त है। दूसरा परिणाम यह है कि इतिहास-मात्र घटना-संयोजन अथवा महापुरुषो की वीरगाथा न होकर चिरन्तन मानवीय प्रकृति के संतुलन में मनुष्य के विगत सामाजिक जीवन के आंतरिक सत्यों की खोज है। तीसरा परिणाम—जो उपन्यासकार के लिए विशेष महत्त्व रखता है और इतिहास को साहित्य की जाति तक खींच लाता है—यह है कि इतिहास लेखन में आत्यन्तिक तटस्थता प्रायः असम्भव है। अतएव रचना का प्रयोग यथासम्भव निर्लिप्त रहते हुए करना अश्रेयस्कर नही है वरन् आवश्यक है, क्योंकि उसी के द्वारा तथ्यों के बीच ऐतिहासिक सत्य की उपलब्धि हो सकती है और होती है।"* ऐतिहासिक उपन्यास इससे आगे की वस्तु है। अतएव वर्मा जी का यह दृष्टिकोण संगत है कि इतिहासकार के समान "इतिहास के आधार पर उपन्यास लिखने वाला भी अपना दृष्टिकोण रखता है परन्तु वह केवल इतिहास लिखने वाले की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है।" इस स्वतन्त्रता से वे ऐतिहासिक विवेक बनाए रखते हुए भी इतिहास के शुष्क तथ्य को अपनी रचना से सरस सत्य का स्वरूप देते हैं। ऐसा करने में भी उनकी दृष्टि शिवं पर रहती है क्योंकि वे कला कला के लिए मानने वालों में से नहीं। उनका दृढ़ मत हैं कि 'सत्यं सुन्दरम् के बीच में हमारे लिए शिवं अत्यन्त आवश्यक है—मैं कहूँगा कि अनिवार्य है।' तदानुकूल वर्मा जी की इतिहास-प्रवृत्ति की दूसरी भावना आज को, वर्तमान जीवन को, शक्ति देने के लिए कल से, अतीत से, उपजीव्य जुटाने की है। प्रत्येक सजग कलाकार अपनी समयुगीन परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। उसकी संवेदना को यह शोभा नहीं देता कि वह अपने युग के प्रति ईमानदार न रहे। अवश्य ही भूत इतिहास के प्रति

---

* 'आलोचना' उपन्यास-विशेषांक पृ० १३

ईमानदार रहते हुए वर्तमान पर भी दृष्टि रख लेना, कलाकार से एक विशेष कौशल की अपेक्षा रखना है। वर्मा जी इसमें सफल रहे हैं। उन के उपन्यासों की समस्याएँ प्राचीन होते हुए भी आजकी जलती समस्याएँ हैं। मृगनयनी में अटल-लाखी की प्रासंगिक कथा में उन्होंने जात-पाँत की समस्या ली है। भूत तथा वर्तमान दोनों के प्रति समान ईमानदारी को सिद्ध करने के लिए वर्मा जी ने 'मृगनयनी' के 'परिचय' में लिखा है—"जातपाँत ने भारत में रक्षात्मक कार्य भी किया और आज भी शायद कुछ कर रही हो; परन्तु इसका विनाशात्मक काम भी कुछ कम नहीं हुआ है। अप्रेल सन् १९५० में छपी एक घटना है। टेहरी (अल्मोड़ा) के एक गाँव में एक लुहार ने १२ वर्ष हुए दूसरी जाति की लड़की के साथ विवाह कर लिया था। बारह वर्ष तक यह लुहार जातपाँत से बाहर रहा। कही अब, अप्रैल में गाँव की नई पंचायत ने उसको बहाल किया! फिर पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दि में लाखी और अटल के सिर पर क्या-क्या बीती होगी, उसकी कल्पना की जा सकती है।" (पृष्ठ ५) 'मृगनयनी' में मुल्लाओं की मजहबी कट्टरता-बर्बरता का वर्णन किया गया है। ऐसा वर्मा जी को इतिहास के आग्रह से करना पड़ा है। वैसे यह वर्तमान राष्ट्रीय भावना के अननुकूल है। ऐसी अवस्था में, इतिहास की रक्षा तथा उनकी वर्तमान भावना में विरोध उत्पन्न हो सकता था, जिसको उन्होंने ऐसे वर्णन में रस न लेकर, कम करने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में आपका मत उल्लेखनीय है—"बोधन ब्राह्मण ऐतिहासिक व्यक्ति है। उसके मारनेवालों की बर्बरता का मैंने बहुत थोड़ा वर्णन किया है—करना पड़ा।"* यहाँ 'करना पड़ा' साभिप्राय है। यह इतिहास की रक्षा के साथ वर्तमान का विचार रखने की दृष्टि के प्रतिबन्ध का परिचायक या 'शिवं' की रक्षा का द्योतक है।

उनके उपन्यासों में 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' उपन्यास अधिक से अधिक इतिहास सम्मत है। कुछ आलोचकों को इसमें इतिहास की प्रबलता

*'मृगनयनी' का परिचय पृ० ६

खटकती है। ऐसा होते हुए भी वर्मा जी ने यह लिखा है कि "यदि आनन्दराय (लेखक के परदादा) ने रानी के लिए गोली खाई और मेरी कलम ने थोड़ी सी स्याही तो इस अन्तर को पाठक अवश्य ध्यान में रखने की कृपा करें।" इन शब्दों का क्या अभिप्राय हो सकता है? डा० सत्येन्द्र ने इसे सपष्ट करते हुए लिखा है—"आनन्दराय की घटना सन् १८५७ की थी और वर्मा जी की लेखनी ने थोड़ी सी स्याही खायी सन् १९४६ में यह भी ध्यान में रखने की बात है। सन् १८५७ में रानी लक्ष्मीबाई ने जिस शक्ति को चुनौती दी थी उसी सत्ता को भारत ने अन्तिमरूप से 'करो या मरो' के साथ 'भारत छोड़ो' शब्दों में सन् १९४२ में ललकारा था।......इस स्वराज्य की भावना को स्पष्ट करने के लिए रानी लक्ष्मीबाई के बलिदान को एक आहुति के रूप में प्रस्तुत......" किया गया है। सारतः वर्तमान को बल प्रदान करने की भावना उनमें सदैव रही है।

उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि वर्मा जी की इतिहास-प्रवृत्ति की तीसरी भावना है देश-प्रेम के लिए आदर्शों की स्थापना, जातीय-गौरव या वीर-पूजा की भावना। हम यह लिख चुके हैं कि ऐतिहासिक उपन्यासों का आविर्भाव भी राष्ट्रीय जागरण तथा स्वतन्त्रता-संग्राम के प्रभाव स्वरूप हुआ। विगत इतिहास के वीर भी, अपने आदर्शों की स्फूर्ति से, वर्तमान राष्ट्र की कर्तव्य परायणता की माँग की पूर्ति, कर सकते हैं। वर्मा जी भी अतीत के चिर जीवित पात्रों तथा प्रसंगों की ओर सजग रहे हैं। 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' और उसकी भूमिका प्रस्तुत करनेवाला उपन्यास 'माधव जी सिंधिया' उक्त भावना के सजग प्रमाण हैं। 'अहिल्याबाई' में भी 'चिरस्मरणीय' ('परिचय' पृ० १) कार्यों का आख्यान है। बुन्देलखण्ड के वीर भूमि होने के कारण ही वर्मा जी इससे प्रेम करते हैं और इसके वीरों की गाथा गाकर अपनी वीर पूजा की भावना का प्रमाण देते हैं। दूसरे वर्मा जी का विश्वास है कि बुन्देलखण्ड की वर्तमान हिन्दू जनता में प्राचीन हिन्दुत्व अभी थोड़ा-बहुत

बचा है। उसकी रक्षा का बहुत-कुछ श्रेय बुन्देलों को है। 'मृगनयनी' में भी उन्होंने इतिहास में उस काल खण्ड को लिया है जो जातीय गौरव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। 'मृगनयनी' के 'परिचय' में वे लिखते हैं— "फरिश्ता के इतिहास लेखक ने मानसिंह को वीर और योग्य शासक बतलाया है। अंग्रेज इतिहास लेखकों ने मानसिंह के राज्यकाल को तोमर-शासन का स्वर्णयुग (Golden Age of Tomur Rule) कहा है। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त और सोलहवीं के प्रारम्भ को राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से भारतीय इतिहास का कराल, कठोर और काला युग कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। × × ऐसे युग में, इतने संकटों में भी मानसिंह हुआ और उसने तथा उसकी रानी मृगनयनी ने जो कुछ किया उसका प्रत्यक्ष प्रमाण आज भी हमारे सामने है। ग्वालियर किले के भीतर मानमंदिर और गूजरी महल हिन्दू वास्तु-कला के अत्यन्त सुन्दर और मोहक प्रतीक हैं तथा ध्रुवपद और धमार की गायिकी और ग्वालियर का विद्यापीठ जिसके शिष्य तानसेन थे, आज भी भारत में प्रसिद्ध है। जिसको मुग़ल वास्तु और स्थापत्य कला कहते हैं वह क्या मानसिंह के ग्वालियर शिल्पियों की देन नहीं है? महाकवि टैगोर ने ताजमहल को 'काल के गाल का आँसू' कहा है। यदि मैं (जिसको कविता पर अंशमात्र भी दावा नहीं है) मानमंदिर और गूजरी महल को ओठों की मुस्कान कहूँ तो महाकवि टैगोर के उस वाक्य का एक प्रकार से समर्थन ही करूँगा।" शौर्य-कला के संयुक्त स्थल ग्वालियर को वर्मा जी ने उत्साह और भावुकता से गौरवान्वित किया है। मृगनयनी इस गौरव-गरिमा का आख्यान है।

वर्मा जी के प्रत्येक उपन्यास में कोई न कोई महान् आदर्श पात्र तथा सांस्कृतिक गौरव प्रदर्शित है। उसमें से झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, अहिल्याबाई, माधव जी सिंधिया आदि इतिहास में भी अधिक प्रसिद्ध हैं। केवल इस दृष्टि से यह आभास होता है कि वर्मा जी ने इतिहास को इसलिए भी लिया क्योंकि उनमें अतीत के पुनरुत्थान की भावना है।

पुनरुत्थान की भावना क्योंकि एक प्रबल स्फूर्तिप्रद प्रवृत्ति है इसलिए इसका आभास है, वैसे यह उनकी मूल भावना नही। इतिहास के प्रति वैज्ञानिक पहुँच तथा वर्तमान के प्रति विशेष सजग होने के कारण उनमें अतीत के गुण-अवगुणों की परख से उसके पुनरुत्थान का स्वर इतना प्रबल नही जितना आधुनिक भारत के नूतन निर्माण का, और यही वैज्ञानिक दृष्टि है।

'मृगनयनी' के लेखन में हमे वर्मा जी की इतिहास-प्रवृत्ति के एक अन्य कारण का भी आभास मिलता है। कभी-कभी अपनी विशिष्ट रुचि के अनुकूल कोई ऐसा कथानक हाथ आ जाता है जिसमें कलाकार अपनी रुचि को ही साकार पाता है। वर्मा जी विशेष कला-प्रेमी हैं। 'मृगनयनी' के कथानक में स्थापत्य, संगीत, मूर्ति और चित्रकला के प्रति अपनी प्रेमाभिव्यक्ति तथा कला के प्रति अपने दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण का पूर्ण स्थान मिल सकता था। जीवन में कला के योग की दृष्टि से, जीवन की नूतन व्याख्या भी प्रस्तुत हो सकती थी। अतएव वर्मा जी ने इस कथानक का पूरा उपयोग किया। इस दृष्टि से 'मृगनयनी' वर्मा जी के उपन्यासों में सर्वथा नूतन उपन्यास है।

ऊपर हमने वर्मा जी की इतिहास-प्रवृत्ति के उन कारणों को परिगणित किया है जो बहुत-कुछ परिस्थितियों के परिणाम हैं या जिनमें पूर्व विवेचना द्वारा निश्चित सुपरिणाम पर दृष्टि मिलती है, और किसी स्वतः प्रवृत्ति का आभास नही मिलता। अब हम उस प्राकृतिक तथा वर्मा जी के उस स्वभावज कारण का स्पष्टीकरण करेंगे जो उनकी ऐतिहासिक रुचि का प्रधान प्रबल कारण है। 'वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे' यह सामान्य सत्य है—"अतीत की स्मृति में मनुष्य के लिए स्वाभाविक आकर्षण है। अर्थपरायण लाख कहा करें कि 'गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या फायदा' पर हृदय नहीं मानता; बार-बार अतीत की ओर जाया करता है···हृदय के लिए अतीत एक मुक्तिलोक है जहाँ वह अनेक प्रकार

के बन्धनों से छूटा रहता है और अपने शुद्ध रूप में विचरता है।"† अतएव इतिहास—इति-ह-आस अर्थात् 'यह ऐसा हुआ'—के जानने में भी एक रस है। ऐतिहासिक उपन्यासकार इस ऐतिहासिक रस का लोभी होता है। वर्मा जी में भी इतिहास-रस में मग्नता की सहजता है जिसको उनकी रोमानी प्रवृत्ति ने और भी वर्द्धित किया है। रोमानी कलाकार की प्रवृत्तियाँ गौरवमय अतीत में खुल खेल सकती हैं। फिर प्राकृतिक-वैभव-वेष्टित, शौर्य-कला-सम्पन्न बुन्देलखण्ड से जिसे प्रेम हो, उसकी रोमानी कल्पना अतीत के आँचल में क्यो न विश्राम ले। स्वयं लेखक के शब्दों में—"ये ही नदियाँ-नाले या नदी-नाले-झीलें और बुन्देलखंड के पर्वत वेष्टित शस्य श्यामल खेत मेरी प्रेरणा के प्रधान कारण हैं इसलिए मुझको Historical Romance पसन्द है। अन्य कारण जानकर क्या करियेगा ?" *इतिहास ने उनकी रोमानी रुचि को यथार्थता प्रदान की है और रोमानी रुचि ने इतिहास को सरसता। फिर भी वे आधुनिक समय के ज्यों-ज्यों निकट के कालखण्ड को लेते गये हैं—जैसे, 'झाँसी की रानी' और 'अहिल्याबाई' में—वे रोमांस से इतिहास की ओर बढ़ते गए हैं।

अतीत के प्रति उनकी इस हार्दिक-स्वभावज रुचि या स्वतः प्रवृत्ति ने उनकी पूर्व विवेचना द्वारा निर्दिष्ट इतिहास-प्रवृत्ति को वह शक्ति दी है जो एक अध्ययन-अभ्यास-सम्पन्न कवि को स्वाभाविक प्रतिभा के योग से मिलती है। इस हार्दिक रुचि के अभाव में उनके ऐतिहासिक उपन्यास में सजीवता-सरसता न आ पाती। जैसे प्रभावोत्पादक कविता रचना के लिए विषय और छन्द-अलंकार, शब्द-शक्तियों के ज्ञाता कवि के लिए हार्दिक योग या अन्तःस्फूर्ति आवश्यक है, वैसे ही ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए हार्दिक रुचि। और यही वर्मा जी में है।

---

† 'चिन्तामणि'—रामचन्द्र शुक्ल पृ० २५६

*मृगनयनी : कला और कृतित्व पृ० १ डा० सत्येन्द्र

अभी तक हमने उन कारणों पर प्रकाश डाला है जो वर्मा जी की ऐतिहासिक रुचि के लिए उत्तरदायी हैं। अब हम उन स्रोतों का वर्णन करेंगे जिनसे वर्मा जी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों का निर्माण किया है।

ऐतिहासिक सामग्री के स्रोत

वर्मा जी के उपन्यासों का ऐतिहासिक आधार अध्ययन, अनुसंधान, अनुभूति तथा कल्पना से पुष्ट है।

वर्मा जी को अपने प्रारम्भिक जीवन से ही विभिन्न विषयों की पुस्तकों के अध्ययन का बड़ा शौक रहा है। उनका अध्ययन देश-विदेश के नूतन-पुरातन सभी ग्रन्थों तक विस्तृत है। इनमें से इतिहास ग्रन्थों तथा ऐतिहासिक उपन्यासों के अध्ययन का विशेष स्थान है। डा० कमलेश उनके विस्तृत अध्ययन के परिचय के मध्य में लिखते है कि—"विक्टोरिया कालेज में उन्होंने फ़वियन सोसायटी के पेपर्स का अध्ययन किया; मार्क्स पढ़ा, डार्विन पढ़ा, ग्रीक, रोम, इंगलैड और भारत के इतिहास पर उपलब्ध सभी पुस्तकों का पारायण किया! वकिल की 'इंग्लैड की सभ्यता का इतिहास' का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा। यहीं प्रो० आर० के० कुलकर्णी के आदेश से सेवा-भावना और डायरी लिखने का व्रत लिया। स्काट्, ह्यूगो, ड्यूमा, अप्टन सिक्लेयर की रचनाओं को उन्होंने बार-बार पढ़ा और मनन किया। इसके अतिरिक्त मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण शास्त्र, विज्ञान और दर्शन पर आधुनिकतम मनीषियों के सिद्धान्तों से परिचय प्राप्त किया। भारतीय संस्कृति के आधारभूत ग्रन्थों का भी अध्ययन चलता रहा।"* वर्मा जी के अधिकांश उपन्यास बुन्देलखंड के इतिहास से सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्ध में डा० कमलेश लिखते हैं—"वर्मा जी ने मुझे एक भेंट में बताया था कि एक बार झाँसी में उन्होंने बुन्देलखंड की बुराई सुनी। उस समय उनके मन को बड़ी चोट लगी और उन्होंने बुन्देलखंड

*वृन्दावनलाल वर्मा : व्यक्तित्व और कृतित्व पृ० ५

का इतिहास और परम्परा अपने अध्ययन के विषय बना लिए। सर वाल्टर स्काट के पठन-पाठन से भी उनके मन में बुन्देलखंड को चित्रित करने की प्रेरणा मिली।" † वर्मा जी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के 'परिचय' में प्रायः तत्कालीन इतिहास तथा आधारभूत सामग्री का उल्लेख किया है। 'मृगनयनी' के 'परिचय' में वर्मा जी ने जिन ग्रन्थकारों या ग्रन्थों का उल्लेख किया है, वे है—

१. फरिष्ता का इतिहास लेखक।

२. सिकन्दर लोदी के दरबारी इतिहास लेखकों—अखबार नवीसों—के ग्रंथ।

३. मानसिंह के राज्यकाल पर अंग्रेज़ इतिहास लेखक।

४. फारसी की तारीख़ 'मीराते सिकन्दरी' (इलियट और डासन द्वारा अनूदित)।

५. ग्वालियर गज़ेटियर।

अध्ययन के लिए लेखक पुरातत्व विभाग से सहायता लिया करता है। अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों की कथा के निर्माण में गज़ेटियरों का प्रायः उल्लेख हुआ है। जैसे 'मुसाहिब जू', 'कचनार', आदि में। कचनार' की आधारभूत अध्ययन सामग्री यह है—

१. सागर गजेटियर।

२. बुन्देलखण्ड का इतिहास।

३. लाल कवि रचित 'छत्र प्रकाश'।

४. Notes on Transactions of the Maratha Empire (१६०५ में इंगलैंड मे प्रकाशित)।

५. एलविन की Folk songs of the Mekhal range.

६. The Raj Gonds.

७. जनरल मालम के Memoirs of Central India.

---

†वृन्दावनलाल वर्मा : व्यक्तित्व और कृतित्व पृ० ६

उक्त सूची में यह महत्वपूर्ण बात है कि वर्मा जी केवल इतिहास-ग्रंथ ही नहीं पढ़ते, तत्कालीन काव्य ग्रन्थ भी पढ़ते हैं। ऐसा इसलिए आवश्यक है कि इतिहास ग्रन्थों मे तो कोरा इतिहास ही मिलता है, जन-मानस की गति-प्रगति तथा जन-संस्कृति का परिचय—जो ऐतिहासिक उपन्यास के लिए आवश्यक है—काव्य ग्रंथों से मिल सकता है।

'विराटा की पद्मिनी' घटनाओं के काल-संकलन की दृष्टि से चाहे काल्पनिक हो गया है फिर भी उसकी घटनाएँ सत्यमूलक है। इस उपन्यास के लिए भी लेखक ने विराटा, रामनगर, मुसावली की दस्तूर-देहियों का सरकारी कार्यालय में अध्ययन किया।

'झाँसी की रानी' की आधारभूत इतिहास-सामग्री के संकलन में लेखक की अध्ययन सामग्री में एक और उपकरण, चिट्ठियों, की वृद्धि हुई है। ये चिट्ठियाँ "१८५८ में किसी अंग्रेज फौजी अफसर ने ले० गवर्नर के पास झाँसी को अधिकृत कर लेने के बाद रोज-रोज भेजी थीं" और लेखक को जजी कचहरी की आलमारी में ४०-५० की संख्या में मिलीं। वर्मा जी को यह सुविधा इसलिए प्राप्त हो सकी क्योंकि इस उपन्यास का काल खण्ड वर्तमान से निकटतम है। ये चिट्ठियाँ अधिक से अधिक प्रामाणिक सामग्री कही जा सकती हैं। इन पत्रों के अतिरिक्त नवाब अली बहादुर का रोजनामचा तथा पारसनीस के अन्वेषणों का भी आपने अपने ढंग से उपयोग किया है।

'टूटे काँटे' उपन्यास में वर्मा जी अपने निश्चित प्रदेश, बुन्देलखण्ड, से बाहर जाकर फतहपुर सीकरी से कथा का आरम्भ करते हैं। इसके 'परिचय' को पढ़ने से लेखक के ऐतिहासिक अध्ययन के प्रति गम्भीर दृष्टिकोण के साथ यह भी अवगत होता है कि मात्र इतिहास-ग्रन्थों से ही ऐतिहासिक उपन्यासकार का अभीष्ट सिद्ध नहीं होता। और किन बातों की जानकारी अनिवार्य होती है तथा किन इतिहासेतर साधनों के अध्ययन से यह प्राप्त होती है, इन सब का उल्लेख लेखक ने किया है।

वर्मा जी के शब्दों में—"टूटे काँटे की मूलकथा का सार बहुत समय से मन को कोंच रहा था। यथेष्ट सामग्री प्राप्त करने की लालसा में प्रकाशित ग्रन्थों को, जो मेरी पहुँच के भीतर थे, टटोला तो उनसे संतोष नहीं हुआ। बाजीराव का दिल्ली पर सन् १७३० में यकायक झपट्टा मारना, मुहम्मदशाह के दरबारी और उनकी रँगरेलियाँ, ...इत्यादि प्रसंग तो इतिहासों में कम बढ़ ब्योरे के साथ मिले परन्तु जनसाधारण की आर्थिक स्थिति, जनसंस्कृति का उतार-चढ़ाव और जनमन की प्रगति का वर्णन-विश्लेषण हाथ न पड़ा। उत्तर भारत का साधारण जन विपद ग्रस्त था और विषण्ण कष्टों के पत्थर आए दिन उसके सिर पर फिकते रहते थे। वह रोता था—और गाता भी था। क्या गाता होगा ? कब कैसे ? त्रस्त मनोकामना की तृप्ति के लिये उसके पास त्यौहार थे, लोक गीत थे। कुण्ठित मन को वह उनमें व्यक्त करता था परन्तु मनोबल उसको प्राप्त होता था सन्त-महात्माओं की वाणी और सन्तप्त हृदयों के अमृत, भक्ति मार्ग से। कैसे गाँठ में आता होगा मनोबल इस साधन द्वारा मनोविज्ञान का विद्यार्थी उसको अपनी कल्पना में बाँध नही पाता।

"इन संत महात्माओं और सन्त कवियों का वर्णन और जनसंस्कृति तथा प्रगति पर उनका प्रभाव कितना होता रहा है, यह फारसी की विख्यात इतिहास पुस्तकों में बहुत ही कम मिलता है।" वर्मा जी को इसके लिए इतिहासेतर ग्रन्थों, विशेष रूप से मध्यकालीन भक्ति या सांस्कृतिक आंदोलन से सम्बन्धित पुस्तकों का आश्रय लेना पड़ा। जिन पुस्तकों का लेखक ने उल्लेख किया है, उसकी सूची इस प्रकार है—

१. राय चतुरमन कामथ की चहारे गुलशन (१७५६)

२. बहादुरसिंह भटनागर की 'यादगारे बहादुरी' (१८२७)

(इन दोनों पुस्तकों में सन्तों तथा काव्यों पर विशद रूप से लिखा गया है।)

३. आनन्दराय मुखलिस (मुहम्मदशाह का एक मुन्शी) का 'तज़्किरह'।

(इसमें नादिरशाह के आक्रमण का आपबीता तथा आँखों देखा वर्णन है। इस पुस्तक को वर्मा जी ने मौलाना साहब से सुना।)

४. फ़ेज़र कृत 'नादिरशाह' जिसमें नादिरशाह की लूट वसूली पर नियुक्त सरबुलन्द खाँ के निजी सचिव के पत्रों का आधार लिया गया है।

५. इलियट और डासन की History of India as told by its own historians.

६. ख्वाजा अब्दुल करीम खाँ काश्मीरी कृत 'बयाने वुकाय'। (यह पुस्तक लाहौर की पब्लिक लाइब्रेरी में है अतएव लेखक को एक पाकिस्तानी मुसलमान मित्र से लाभ उठाना पड़ा।)

७. अर्विन कृत Later Moughals Vol. II

८. अब्दुल अज़ीज़कृत—The Imperial Treasury of the Indian Moughals.

अवश्य ही वर्मा जी ने प्रत्येक ऐतिहासिक उपन्यास में कल्पना से भी पर्याप्त सहायता ली है किन्तु यह अध्ययन-अनुसंधान के आधार पर है। ऐतिहासिक रस के साथ औपन्यासिक रस और ऐतिहासिक सत्य के साथ सुन्दरं-शिवं की उपलब्धि कराना लेखक का लक्ष्य रहा है। इस कल्पना की तीन सीमाएँ उनके उपन्यासों में उपलब्ध होती हैं। 'झाँसी की रानी' जैसे उपन्यास में अपेक्षाकृत कल्पना कम तथा इतिहास का आग्रह अधिक है। वर्मा जी के शब्दों में उनका आदर्श है—"मैंने निश्चय किया कि उपन्यास लिखूँगा, ऐसा जो इतिहास के रगरेशे से सम्मत हो और उसके संदर्भ में हो। इतिहास के कंकाल में माँस और रक्त का संचार करने के लिए मुझको उपन्यास ही अच्छा साधन प्रतीत हुआ।" 'मृगनयनी', 'गढ़ कुण्ढार', 'टूटे काँटे', 'माधव जी सिंधिया' में प्रमुख घटनाएँ तथा पात्र इतिहास सम्मत्त हैं किन्तु कल्पनात्मक साधनों का भी पर्याप्त योग है। 'कचनार', मुसाहिब जू' आदि उपन्यासों में कल्पनात्मक उपकरणों का और भी अधिक उपयोग है। 'विराटा की पद्मिनी' की दृष्टि से एक चौथी कोटि भी हो सकती है किन्तु हमारे विचार में इसे ऐतिहासिक

उपन्यास नहीं मानना चाहिए। ऐतिहासिक वातावरण इसमें अवश्य है। 'घटनाएँ सत्यमूलक होने पर भी अपने अनेक कालों से उठाकर एक ही समय की लड़ी में पिरो दी गई हैं।'† अधिकांश पात्र काल्पनिक या जनश्रुतियों पर आधारित है। वस्तुतः यह ऐतिहासिक उपन्यास नहीं, पर लेखक की कुशलता यह है कि ऐतिहासिक होने का भ्रम पैदा करता है।

अभी तक हमने इतिहास-ग्रन्थों, काव्यों तथा हस्तलिखित पत्रों—इन तीन स्रोतों का उल्लेख किया है जिनका वर्मा जी ने उपयोग किया है। इतिहास के साथ लेखक ने परम्परा का भी पूरा उपयोग किया है। यह परम्परा जनश्रुतियों, किंवदन्तियों, लोक कथाओं तथा लोकगीतों पर आधारित है। ऐतिहासिक उपन्यास में तत्कालीन वातावरण की यथार्थता-वास्तविकता लाने में लोक साहित्य की महत्ता असंदिग्ध है। इस मौखिक साहित्य में धर्म, समाज, संस्कृति स्थानीय इतिहास आदि की अमूल्य सामग्री प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। लोक साहित्य से विलुप्त-विस्मृत इतिहास पर किंचित प्रकाश पड़ सकता है तथा विशृंखलित इतिहास की अनेक कड़ियों को जोड़ा जा सकता है। ऐतिहासिक महत्त्व के अतिरिक्त, जन-संस्कृति के सत्य-सजीव चित्रण की दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व है। तीसरे, इतिहास में सरसता लाने का भी यह सहज साधन हो सकता है। "लोक कथाओं में जो सम्मोहन है वह उनके पुरानेपन, व्यापकता और जनमन के मर्म को प्रभावित करने की रूढ़ि के कारण होता है।"‡

परम्परा या किंवदंतियों-जनश्रुतियों का उपयोग करने में वर्मा जी विशेष चयन-दृष्टि से काम लेते हैं जो उपन्यास-कथा को श्रृङ्खलित करने की सुविधा तथा उनके शिवं के दृष्टिकोण से अनुशासित रहती है। मृगनयनी के 'परिचय' में उक्त दोनों दृष्टियों का उदाहरण मिल जाता है। नटों और नरवर के सम्बन्ध में प्रचलित निम्न दोहे

---

† देखिए 'विराटा की पद्मिनी' का 'परिचय'

‡ 'सोना' का 'परिचय', वृन्दावनलाल वर्मा

का 'मृगनयनी' की कथा में लेखक ने अपनी कल्पना से 'दूसरे प्रकार से उपयोग किया है।''*

नरवर चढ़े न बेड़नी, बूँदी छपे न छीट
गुदनौटा भोजन नहीं, एरच पके न ईट

मानसिंह की रानियों के सम्बन्ध में लेखक को दो किंवदंतियाँ मिलीं। एक के अनुसार मानसिंह की दो सौ रानियाँ और दूसरी के अनुसार 'एट' (आठ) रानियाँ थीं। वर्मा जी ने अपने दृष्टिकोण के अनुकूल दूसरी किंवदंती को मान्यता दी। अपने चरित्र नायक की गौरव-रक्षा इसी से हो सकती थी। मृगनयनी के पुत्रों के अंतिम परिणाम के सम्बन्ध में प्रचलित दो परम्पराओं में से लेखक ने उसको मान्यता दी जिसमें समाज के कल्याण-निर्माण के लिए कर्त्तव्य की प्रेरणा मिलती है।†

परम्परा का उपयोग करते हुए वर्मा जी उसकी संगति-असंगति तथा विश्वसनीयता का विचार अवश्य रखते है। प्रमाणस्वरूप मृगनयनी के शौर्य के सम्बन्ध में 'परिचय' में वे लिखते हैं—"परम्परा में तो इसके विषय में यहाँ तक कहा गया है कि राजा मानसिंह राई गाँव के जंगल में शिकार खेलने गये तो देखा कि मृगनयनी (उपन्यास के आरम्भ की निन्नी) ने जंगली भैंसे को सींग पकड़कर मोड़ दिया। एक साहब ने परम विश्वास के साथ मुझको बतलाया कि राजा मानसिंह अपने महल में बैठे हुए थे, नीचे देखा जंगली भैंसे के सींग पकड़कर मृगनयनी मरोड़ रही है और उसको मोड़ रही है !! ग्वालियर किले के भीतर जंगली भैंसा पहुँच गया और राई गाँव से, जो ग्वालियर से पश्चिम-दक्षिण में ११ मील है, मृगनयनी जंगली भैंसे को मोड़ने-मरोड़ने के लिए आ गई !!!

* वर्मा जी के शब्द, 'मृगनयनी' का 'परिचय' पृ० ५

† देखिये 'मृगनयनी' का 'परिचय' पृ० ६

"मैंने पहली परम्परा को मान्यता दी है।" (पृ० ३)

स्पष्ट है कि वर्मा जी परम्परा का उपयोग सजग दृष्टि से करते हैं।

वर्मा जी अपने अध्ययन, अनुसन्धान और परम्परा ज्ञान को पूर्ण बनाने के लिए उन ऐतिहासिक स्थलों का अवश्य भ्रमण करते हैं जिनका सम्बन्ध उपन्यास से होता है। इतिहास ग्रंथों के अध्ययन के पश्चात् स्मृत्याभास कल्पना के रस में विनिमग्न हो कर लिखने के लिए औपन्यासिक क्रीड़ाभूमि का साक्षात् दर्शन आवश्यक हो जाता है। स्मृत्याभास कल्पना की व्याख्या मे शुक्ल जी लिखते हैं—"अतीत की कल्पना भावुकों में स्मृति की सी सजीवता प्राप्त करती है और कभी-कभी अतीत का कोई बचा हुआ चिह्न पाकर प्रत्यभिज्ञान का सा रूप ग्रहण करती है। ऐसी कल्पना के विशेष मार्मिक प्रभाव का कारण यह है कि यह सत्य (इतिहास) का आधार लेकर खड़ी होती है।······ प्रसंग उठने पर जैसे इतिहास द्वारा ज्ञात किसी घटना या दृश्य के ब्योरों को कहीं बैठे-बैठे हम मन में लाया करते हैं और कभी कभी उसमें लीन हो जाते हैं, वैसे ही किसी इतिहास प्रसिद्ध स्थल पर पहुँचने पर अपनी कल्पना चट उस स्थल पर घटित किसी मार्मिक पुरानी घटना अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाले कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों के बीच हमें पहुँचा देती है, जहाँ से फिर वर्तमान की ओर लौटकर कहने लगते हैं कि "यह वही स्थल है जो कभी सजावट से जगमगाता था। जहाँ अमुक सम्राट् सभासदों के बीच सिंहासन पर विराजते थे······"इस प्रकार हम उस काल से लेकर इस काल तक अपनी सत्ता के प्रसार के आरोप का अनुभव करते हैं।

"सूक्ष्म ऐतिहासिक अध्ययन के साथ-साथ जिसमें जितनी ही गहरी भावुकता होगी, जितनी तत्पर कल्पना-शक्ति होगी, उसके मन में उतने ही अधिक ब्योरे आएँगे और पूर्ण चित्र खड़ा होगा।"†

---

†'चिन्तामणि' पृ० २५७-५८, रामचन्द्र शुक्ल

वर्मा जी की उक्त प्रत्यभिज्ञानता, भावुकता तथा कल्पना-क्षमता का प्रमाण उन के 'गढ़ कुण्डार' लिखते समय की मनःस्थिति तथा परिस्थिति से मिल जाता है—"१६ अप्रैल १९२७ का दिन वर्मा जी के साहित्यिक जीवन का मंगल प्रभात माना जायगा। शिकार के लिए वर्मा जी जंगल में एक गड्डे में बैठे।......शाम से ही शिकार की तलाश थी। सोचा था कि रात को जब पानी पीने के लिए साँभर, या सूग्रर आयँगे तो निशाने बाज़ी का मज़ा ले लेंगे। परन्तु वर्मा जी ने ऊपर दृष्टि की तो कुण्डार का किला दिखाई दिया। मौर्य काल से लेकर आज तक के उसके जीवन की स्थितियाँ मानस नेत्रों के समक्ष प्रत्यक्ष हो गई। देखते-ही-देखते सवेरे के ४।। बज गए। दिन निकला तो सूग्रर के पैरों के निशान दिखाई दिए। पर जो कुण्डार के किले के साथ एकाकार हो गया हो वह सूग्रर पर क्या निशाना लगाता? 'आए थे हरि भजन को ओटन लगे कपास' के अनुसार शिकार की जगह कुण्डार पर लिखने का निश्चय किया और उसी दिन गाँव में पहुँच कर १७ फ़ुलस्केप लिख डाले।......इसका अधिकाँश तो गड्ढे में लिखा गया। होते होते १७ जून को 'गढ़ कुण्डार' पूरा हो गया। २२ जून को गड्ढे में पहुँचे जहाँ लिखने की प्रेरणा मिली थी। फूल लाए गए। पुस्तक पर फूल चढ़ाकर प्रतिज्ञा की कि मरते दम तक लिखूंगा। लौटे और 'लगन' लिखा—कुछ झाँसी में तो कुछ गड्ढे में। 'संगम' और 'प्रत्यागत' भी तभी लिखे गए। वर्मा जी जंगल में टार्च की रोशनी में लिखा करते थे।* वर्मा जी का अपने उपन्यासों में आए मुख्य स्थलों के साथ ऐसा तादात्म्य हो जाता है कि वे वहीं गड्ढों में बैठकर लिखने लगते हैं।

वर्मा जी अपने उपन्यासों के घटना-स्थलों को देखना इतना अनिवार्य समझते हैं कि इसके बिना वह अपनी पुस्तक प्रकाशित नहीं करते। 'माधव जी सिंधिया' १९४९ में पूर्ण हो गया किन्तु माधव जी सिंधिया के

---

*वृन्दावन लाल वर्मा : व्यक्तित्व और कृतित्व पृ० १२-१३ डा० कमलेश।

देहान्त स्थल को देखे बिना वे इसे प्रकाशित न कर सके। सन् १६५६ में अभीष्ट सिद्धि होने पर ही उपन्यास का प्रकाशन हुआ। 'कचनार' भी उनकी अमर कंटक यात्रा का प्रतिबिम्ब है। 'कचनार' के 'परिचय' में वे लिखते हैं 'जब मैंने······उन स्थानों की श्री को देखा तब मन में एक लालसा उत्पन्न हुई।" मृगनयनी के 'परिचय' में वे स्पष्ट लिखते हैं—"जिन स्थानों का सम्बन्ध उपन्यास की मुख्य कथा से है, उनका भ्रमण भी किया।"

इस भ्रमण से वर्मा जी पूरा लाभ उठाते हैं। वे जनता से तत्सम्बन्धी प्रश्न पूछते हैं। इसी से उन्हें परम्परा का ज्ञान होता है। वर्मा जी को जब किसी परम्परा को मान्यता देनी होती है तब वह अनेक लोगों से पूछताछ करते हैं। मृगनयनी के शौर्य सम्बन्धी दो परम्पराओं में से संगत प्रतीत होने वाली तथा 'ग्वालियर गज़ेटियर' द्वारा समर्थित एक परम्परा का चुनाव कर के वे तब तक संतुष्ट न हो सके जब तक गूजरों में घूम-फिर कर बातें कर के उनके द्वारा परम्परा का अनुमोदन न हुआ।‡ सारतः ऐसे समस्त साधनों से वर्मा जी अपनी विषय-वस्तु का गहन परिचय प्राप्त कर लेते है।

अब हम अपने प्रश्न के तीसरे भाग—इतिहास के चित्रण—की व्याख्या करेंगे। वर्मा जी इतिहास के चित्रण में ऐसे उपकरणों का उपयोग करते हैं कि तत्कालीन समस्त वातावरण का सजीव पुनर्निर्माण हो उठता है। ये उपकरण हैं—

१. भौगोलिक प्रामाणिकता—ऐतिहासिक उपन्यासकार के उत्तरदायित्व का विवेचन करते हुए, उसके लिए भौगोलिक जानकारी को अनिवार्य बताते हुए राहुल जी लिखते हैं—"जिस तरह ऐतिहासिक मानदण्ड स्थापित करने के लिए तत्कालीन राजाओं के राज्य और शासन काल की पहले से ही तालिका बनाकर उनमें वर्णनीय घटनाओं

‡'मृगनयनी' का परिचय पृ० ३

के अध्याय-क्रम को टाँक लेना जरूरी है, उसी तरह भौगोलिक स्थान उनकी दिशाओं और दूरियों का ठीक-ठीक अन्दाज़ रहने के लि तत्सम्बन्धी नक्शे का खाका हर वक्त सामने रखना चाहिए। ऐसा करने पर अक्षन्तव्य गलती हो जाती है।* वर्मा जी उक्त मत पूर्णतया सहमत ही नहीं अपितु प्रामाणिकता से इसका पालन भी करते हैं। मात्र नक़्शे देखकर ही वे भौगोलिक विवरण नहीं देते, उन्होंने भ्रमण कर इन नक्शों को सजीव रूप में अङ्कित कर लिया है; जो प्राचीन खंडहर नक्शों की रेखाओ में बोल नही सकते, उनकी ध्वनि को वर्मा जी ने सुना है। 'मृगनयनी' में राई से ग्वालियर तक लाई गई नहर के आज चाहे चिह्न मात्र मिलते हों, वर्मा जी उसे नहीं भूल सके। (देखिये 'मृगनयनी' का 'परिचय' पृ० ५) वर्मा जी के उपन्यासों में यथार्थ भौगोलिक स्थितियों के कुछ विवरण दृष्टव्य हैं—

"कुण्डार, जो वर्तमान झाँसी से उत्तर-पश्चिम की तरफ़ ३० मील की दूरी पर है, इस राज्य की समृद्ध-सम्पन्न राजधानी थी।" (गढ़ कुण्डार पृ० १)

"चम्बल नदी के समीप गौतमपुर इन्दौर से उत्तर-पश्चिम में लगभग सोलह कोस की दूरी पर है, महेश्वर से लगभग छत्तीस कोस।" (अहिल्या बाई पृ० २३)

"ग्वालियर के पश्चिम-उत्तर में लगभग छः कोस की दूरी पर सांक नदी के किनारे राई नाम का गाँव था।" (मृगनयनी पृ० ३)

"नरवर माँडू के उत्तर-पश्चिम में है···सिंध नदी सर्प की सी लीक वनाती हुई दक्षिण-पश्चिम से आकर नरवर को पश्चिम की ओर से घेर कर उत्तर-पूर्व की ओर चली गई है। नरवर मानो उसकी पश्चिमी कुण्डली के भीतर है।" (मृगनयनी पृ० २२६)

"नरवर ग्वालियर से २५ कोस दक्षिण-पश्चिम में तथा चँदेरी नरवर से २० कोस पर।"

---

*उपन्यास-विशेषाङ्क 'आलोचना' पत्रिका पृ० १७२

'मृगनयनी' के भौगोलिक विवरण के आधार पर डा० सत्येन्द्र ने अपनी पुस्तक में नक्शा दिया है।*

२. वर्मा जी ने किले, गढ़ियों, प्राचीन नगरों, युद्धों आदि का ऐसा चित्रवत वर्णन किया है कि इतिहास साकार हो उठता है। 'झाँसी की रानी' के वर्णन सर्वश्रेष्ठ है। मृगनयनी में नरवर के किले का यह वर्णन पठनीय है—"नरवर के नगरकोट में तीन फाटक थे, एक उत्तर की ओर और दो पूर्व दक्षिण में। दीवारें ऊँची थीं और फाटक मजबूत। हाथियों के कवच रक्षित माथे को फोड़ने के लिए फाटकों के बाहरी ओर बड़े मोटे, नुकीले लोहे के कील जड़े हुए थे। खाद्य सामग्री नगर और किले के भीतर कम से कम एक वर्ष के लिए पर्याप्त थी। स्वच्छ मीठे पानी के बहुत-से अच्छे कुएँ नगर मे और अनेक तालाब किले के भीतर। रक्षा के लिए लड़नेवाले और आक्रमणकारियों का भुर्ता कर देने के लिए फाटकों की बुर्जों और कोट मीनारों पर भारी-भारी चट्टानें, नीचे ढकेल दिया जाय तो गाज सी टूटें।" (पृ० २६८) 'मृगनयनी' में कला सम्बन्धी विषय होने से प्राचीन वास्तुकला, मूर्ति कला के चित्रात्मक वर्णन भी प्रस्तुत किए गए हैं। यही नहीं पुरातत्व विभाग की सहायता से उनके चित्र भी लिए गए हैं।

इस वर्णन-विवरण के औचित्य के सम्बन्ध में भी लेखक सजग रहा है कि कहीं वस्तु परिगणनात्मक प्रवृत्ति से कथारस में व्याघात न हो। मृगनयनी के 'परिचय' में इस ओर यह इंगित स्पष्ट है—"पाठक चाहेगे कि मैं तोमरों, ग्वालियर और नरवर के किलों और उनके भीतर स्थित इमारतों का वर्णन, परिचय में करूँ,···परन्तु अनेक पाठक कहानी चाहेंगे। इसलिए अब कहानी—बाकी फिर कभी।" (पृ० ७) फिर भी कहीं-कहीं ऐतिहासिक यथार्थ के अत्यधिक आग्रह के कारण वे इस औचित्य का सर्वत्र निर्वाह नही कर पाए। जैसे 'झाँसी की रानी' में लेखक ऐतिहासिक

---

* देखिए 'मृगनयनी : कला और कृतित्व' पृ० ८८-८९

पत्रों तथा कम्पनी द्वारा प्रेषित आदेशों को उद्धृत करने बैठ गया है और वहाँ कथारस की अपेक्षा इतिहास प्रबल हो उठा है। 'गढ़ कुण्डार' में कहीं- कहीं वर्णन सीमोल्लंघन कर गए हैं।

वर्मा जी जब किसी प्रसिद्ध नगर या इतिहास-प्रसिद्ध पात्र से पाठकों को परिचित कराते हैं तब वे उसकी तत्कालीन स्थिति ही व्यक्त करके नही रह जाते वरन् इसके पूर्व-इतिहास या वंश-परम्परा का उल्लेख भी करते हैं। इससे हमारा इतिहास-ज्ञान ही नहीं बढता, अपितु उसकी तत्कालीन स्थिति अधिक स्पष्ट रूप में सामने आ जाती है। प्रमाणस्वरूप 'मृगनयनी' में गुजरात के सुलतान महमूद बघर्रा तथा उसकी राजधानी अहमदाबाद के वर्णन को लिया जा सकता है।† 'मृगनयनी' उपन्यास में राणा कुम्भा का चित्तौड़ में कीर्ति स्तम्भ (६५), महमूद खिलजी का सतखण्डा महल(६५), नरवर का जयति स्तम्भ (३०३), ग्वालियर का तैल मन्दिर (३३७), संगीत का हुसेनी कन्हड़ा (४०१), गूजरी, मालगूजरी, वहुलगूजरी, मंगल-गूजरी, ध्रुवपद के चार अंग(४७६)आदि का रहस्य—इतिहास—स्पष्ट हुआ है। ये सब हमारी जिज्ञासा-तृप्ति ही नहीं करते, हमे सुदूर अतीत में भी पहुँचा देते हैं। वर्मा जी के उपन्यासों मे कथा-रस ही नहीं, अनेक ऐतिहासिक रहस्यों को जानने का रस भी मिलता है।

हम पहले यह स्पष्ट कर चुके हैं कि वर्मा जी की स्वतन्त्र ऐतिहासिक रुचि भी है—वे कहीं-कहीं एक अनुसंधानकर्त्ता के रूप में भी सामने आते हैं। अब हम वर्मा जी की एक ऐसी विशेषता का उल्लेख करेंगे जो इतिहासकार के लिए अनिवार्य होती है और ऐतिहासिक दर्शन के विद्वान् जिसके कारण इतिहास को भी साहित्य-क्षेत्र में ले आते हैं।* वर्मा जी कहीं-कहीं इतिहास की विविध घटनाओं के आधार पर ऐसे सामान्य

---

†देखिए 'मृगनयनी' पृ० ७४-७५।

*इस सम्बन्ध में श्री जगदीश गुप्त ने 'आलोचना' पत्रिका के 'उपन्यास विशेषांक' (१७६) में ऐतिहासिक दर्शन के विवेचन में कालिगवुड तथा डब्ल्यू० एच० वाल्श की उक्तियों को उद्धृत किया है—

निष्कर्ष देते है जो मानव प्रकृति—विशेष रूप से जातीय स्वभाव—से सम्बन्धित होते हैं। ऐसे निष्कर्षों से वह अपने उपन्यासों की ऐतिहासिक घटनाओं के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण भी करते है। इससे ये घटनाएँ एक शृङ्खला की कड़ी के रूप में सामने आती हैं और स्वाभाविक तथा व्यवस्थित जान पड़ती है। ऐसा इसलिए होता है कि वर्मा जी यही व्यक्त नही करते कि 'क्या हुआ' बल्कि यह भी बताते है कि 'कैसे हुआ' और 'ऐसा प्राय: क्यों होता है'। 'मृगनयनी' में नसीरुद्दीन अपने बाप मालवा के सुलतान गियासुद्दीन को विष देकर मारता है। वर्मा जी इस घटना की पृष्ठभूमि में भारतवर्ष पर आक्रमणकारियों की मनोवृत्ति का विश्लेषण, उनके तथा हिन्दुओं के पतन तथा दुर्बलता के कारणों का निष्कर्ष इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

"स्वर्ण संचय की कामना, मारकाट की आकांक्षा, स्त्रियों के अपहरण की वासना, राज्य स्थापित करने के लोभ और किसी भी प्रकार अपने मज़हब के विस्तार के मोह को लेकर पठान और तुर्क आक्रमक भारत

पाद टिप्पणी—पिछले पृष्ठ का शेष :

1. The events of history are never mere phenomenon, never mere spectacles for contemplation, but things which the historian looks, not at, but through, to discern the thought within them.

2. The case of history is here parallel to that of literature. A great novel or a great play is often said to teach us something about ourselves, yet, as we have seen, we need to bring to it certain pre-existing beliefs about the nature of man.

में घुसे थे ।* इन सबका एक सामूहिक नाम था बहिश्त । इस बहिश्त की तलाश में ही शेरशाह के पहले भारत में जगह-जगह सल्तनतें क़ायम हुई—दिल्ली, मालवा, गुजरात, जौनपुर, गोलकुण्डा, बंगाल इत्यादि में । सल्तनतें कायम होने पर बाप ने बेटे को और बेटे ने बाप को, सल्तनत के तख्त और मुकुट का मार्ग-कंटक समझकर ज़हर के ज़रिये या किसी और सुलभ उपाय से अलग किया । इस बहिश्त की प्राप्ति ने सुल्तानों को और उनके सरदारों और सिपाहियों को निर्बल और निकम्मा बना दिया । हिन्दू यदि परलोकमय निराशावाद, आपसी लड़ाइयों के कारण उतने दुबले न पड़ गये होते, तो या तो वह स्वर्ग उनको मिलता ही नहीं और यदि मिल ही जाता तो धर्मराज उनको बहुत समय तक उसमें रहने न देते ।" (पृ० ३३१)

वर्मा जी इतिहास को मूर्तिमान करने के लिए सामंतीय जातियों के रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि पर भी प्रकाश डालते हैं । बुन्देलखंड के उत्सव तथा त्योहारों का भी पूरा वर्णन मिलता है । इसके अतिरिक्त स्त्री-पुरुषों के वस्त्राभूषणों का वर्णन भी तत्कालीन समाज के अनुरूप हुआ है ।

इनके उपन्यासों के अधिकांश प्रमुख पात्र, घटनाएँ तथा स्थान ऐतिहासिक होते हैं । जैसे, 'मृगनयनी' ऐतिहासिक रोमांस है—'झाँसी की रानी', 'अहिल्याबाई' आदि रोमांस नहीं—फिर भी इसके अधिकांश प्रमुख पात्र—मानसिंह, मृगनयनी, सिकन्दर लोदी, ग़यासुद्दीन खिलजी,

*वर्मा जी ने 'मृगनयनी' में बघर्रा, ग़ियासुद्दीन तथा सिकंदर लोदी के द्वारा ये सभी प्रेरणाएँ स्पष्ट की है । ऐसी कुप्रेरणाएँ होने के कारण जनता मुसलमान आक्रमणकारियों से भयभीत होती थी । वर्मा जी ने अन्यत्र राजपूतों के युद्धो की इनसे तुलना करते हुए लिखा है कि उनके पारस्परिक युद्धों में 'खेती, गाँव और स्त्री की इज्जत नहीं बिगाड़ी जा सकती थी ।' (पृ० १५६)

नसीरुद्दीन, महमूद बघर्रा, राजसिंह, बैजनाथ, विजय जंगम आदि—
ऐतिहासिक हैं। अटल-लाखी की सृष्टि भी किंवदन्तियों के आधार पर
हुई हैं। वर्मा जी प्रायः प्रत्येक उपन्यास के 'परिचय' में इतिहास सम्मतता
को प्रमाणित कर देते है।

अन्त में, वर्मा जी की भाषा-शैली में प्रादेशिक रंगत् भी विषया-
नुकूल है।

———

'मृगनयनी' का उद्देश्य

'मृगनयनी' का प्रकाशन सन् १९५० में हुआ। यह ऐतिहासिक रोमांस है। पर इतिहास को लेने के कारण न तो वर्मा जी पर 'अतीत के गढे मुर्दे उखाड़ने' का आक्षेप हो सकता है, न रोमास लिखने के कारण किसी सस्ती रसिकता तथा विलक्षण साहसिक रहस्यो के उद्घाटन का आरोप। इसका कारण है वर्मा जी की अपने युग के प्रति सजगता या ईमानदारी जो रोमांस की रस-रक्षा करते हुए भी उसकी उड़ान को संयत-संभव और इतिहास को अविकृत रखते हुए भी इसे भविष्य के लिए स्फूर्तिप्रद संकेतक बनाती है।

सन् १९४७ में भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ। किन्तु स्वतन्त्रता के साथ उत्तरदायित्व भी बढ़ गया। राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक सभी प्रकार की समस्याओं से भारतवर्ष को सामना करना पड़ा। निर्धनता को दूर कर जनता के जीवन-स्तर को उन्नत करना, प्रजा के लिए प्रत्येक प्रकार की सुख-सुविधा की व्यवस्था तथा कलाओं की उन्नति करना—ये सभी कार्य स्वाधीन भारत के सन्मुख थे और अब भी हैं। किन्तु इसके साथ एक और ऐसा कार्य सदैव रहा है जो हमारी गति-प्रगति में बाधक रहा है—विस्तृत देश की सीमाओं की सुरक्षा के प्रश्न से हम चितामुक्त नहीं हो सके। यह बात और भी चिंतनीय हो उठती है जब हमारा पड़ौसी देश सदैव युद्ध और जिहाद के नारों में बात करता हो और विश्व भर में 'जीवन संघर्ष में सबल की सत्ता' का सिद्धांत स्थिर हो। ऐसी परिस्थिति में देश की किस आवश्यकता को प्रथम स्थान दिया जाय अथवा समन्वित-समवेत उन्नति का लक्ष्य स्थिर किया जाय, यह प्रश्न अवश्य उठता है। ऐसा दिखाई देता है कि वर्मा जी

ज्ञात-अज्ञात रूप में उक्त प्रश्न से आदोलित हुए हैं और मृगनयनी में वह ऐसे ऐतिहासिक कथानक को ले सके, जो अतीत में भी वर्तमान क्षणों का अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व करता है। मृगनयनी में कला-कर्त्तव्य का प्रश्न आधुनिक भारत का प्रश्न है। वर्मा जी का व्यक्तिगत स्वभाव भी कला-कर्त्तव्य की सामञ्जस्य-साधना में सहायक हुआ है। व्यायाम में उनकी विशेष रुचि रही है; उनका शिकार का शौक प्रसिद्ध है तथा जीवट के कामों में जवाँमर्दी दिखाते रहे हैं। साथ ही वे संगीत, चित्र तथा नृत्य-कलाओं के भी ज्ञाता है। वे केवल ज्ञाता ही नहीं, इनको महत्त्व भी देते है। उनका कहना है —'गीत जीवन का रस है।…हमारा अत्यन्त प्रिय देवता श्रीकृष्ण नटनागर है, जो बाँसुरी बजा रहा है।" जैसे उनके जीवन में शौर्य-कला का मेल है वैसा ही प्रतिपाद्य उन्होंने 'मृगनयनी' के लिए चुना।

इतिहास की दृष्टि से वर्मा जी का 'मृगनयनी' में जो उद्देश्य है उसको हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं। वैसे भी 'मृगनयनी' के अधिकांश प्रमुख पात्र, घटनाएँ तथा स्थान सभी ऐतिहासिक हैं। उपन्यासकार ने 'परिचय' में भी इसकी प्रामाणिकता का स्पष्टीकरण किया है। अतएव 'मृगनयनी' में कल्पना का स्थान होते हुए भी इसका एक ऐतिहासिक उद्देश्य भी है।

'मृगनयनी' का दूसरा तथा प्रमुखतम उद्देश्य है कला और कर्त्तव्य में संतुलित समन्वय। सभी प्रमुख पात्र तथा कथाएँ किसी न किसी रूप में कला-कर्त्तव्य के द्वन्द्व (संघर्ष) अद्वन्द्व (समन्वय) में सहायक हैं। वैसे तो उपन्यास के आरम्भ से ही निन्नी और लाखी के व्यक्तित्व के कला-कर्त्तव्य का सौन्दर्य-शौर्य के रूप में समन्वय तथा—सौन्दर्य-लुब्ध पर-प्रेषित आक्रमणकारियों को मारने से—उसकी घटनात्मक अभिव्यक्ति भी हुई है किन्तु कला-कर्त्तव्य के संघर्ष-समन्वय का वाचक आरम्भ पृ० १०८ पर होता है जब मानसिंह कहता है—"सबसे पहले अस्त्र और सेना; फिर वहीं भवन और मंदिर।" शस्त्र-सेना तथा

मंदिर-भवन क्रमशः कर्त्तव्य-कला के मूर्त रूप हैं जिनको उपन्यास में विशेष स्थान मिला है। मृगनयनी और लाखी का शौर्य- सौंदर्य बाद में वीरत्व तथा शृंगार में और अन्त में कर्त्तव्य-कला में परिणत हो जाता है। यद्यपि मानसिंह भी सुन्दर तथा शूर है किन्तु विवाह के उपरान्त मृगनयनी की शूरता मानसिंह का पौरुष बन जाती है और मानसिंह की सुन्दरता मानों मृगनयनी की सुन्दरता को द्विगुणित कर देती है। मृगनयनी की सुन्दरता-कला मानसिंह के शौर्य-कर्त्तव्य की स्फूर्ति तथा 'शृंगार' 'वीर' का पोषक हो जाता है। और भी, मृगनयनी की हार्दिक 'भावना' मानसिंह का 'विवेक' तथा मृगनयनी का 'मनोबल' मानसिंह की 'धारणा' बन जाती है। दूसरे शब्दों में मृगनयनी की 'भावना' मानसिंह का 'संकल्प' बन जाती है और यही कला की प्रेरणा मानसिंह को कर्त्तव्य-दृढ़ कर देती है। जिस प्रकार विवाह के बाद मृगनयनी मुख्यतः भावना-कला की प्रतीक होते हुए भी केवल प्रेरणा बनकर नहीं रह जाती अपितु स्वयं भी—अपने पुत्रों को मानसिंह का उत्तराधिकारी न बना कर स्वार्थ-त्याग का परिचय देकर—कर्त्तव्याभिमुख रहती है, वैसे ही मानसिंह भी मुख्यतः संकल्प-कर्त्तव्य का प्रतीक होकर भी संगीत-श्रवण तथा भवन निर्माण आदि में संलग्न रहकर कला-प्रियता का परिचय भी देता रहा है। मृगनयनी-मानसिंह अपने आपमें कला-कर्त्तव्य का समन्वय भी लिए हुए हैं और क्रमशः कला-कर्त्तव्य के पृथक प्रतीकत्व के द्वारा सामञ्जस्य-साधना के आधार भी हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कला अपने में शिवं के तत्त्व भी लिए रहती है और शिवं की प्रेरक भी रहती है। वैसे भी सच्चा कर्त्तव्य कभी जड़ नहीं होता उसमें भावना का स्पंदन भी होता रहा है और यहाँ यह कथा-वर्द्धन के लिए अनुकूल निरापद वातावरण भी तैयार करता है। कम से कम मृगनयनी-मानसिंह के आचरण से उक्त निष्कर्ष-सिद्धि ही होती है। सारे उपन्यास में वीर और शृंगार रस तथा इतिहास और रोमांस की गंगा-यमुना है जो अपने पृथकत्व में भी पूर्ण है तथा संगम-समन्वय

में भी सजीव—समन्वय की सरस्वती और भी पूजनीय हो उठी है। सारतः 'मृगनयनी' के संघर्ष-समन्वय—या अन्ततः समन्वय के—तत्त्वों का विश्लेषण इस प्रकार हो सकता है—

सौन्दर्य +	शौर्य	।	कला	+	कर्त्तव्य
शृंगार +	वीर	।	शास्त्र	+	शस्त्र
भावना +	विवेक	।	होरी राग	+	ताण्डव नृत्य
मनोबल +	धारणा	।	सरस्वती	+	दुर्गा
भावना +	संकल्प	।	कृष्ण (वंशी)	+	अर्जुन (गाण्डीव)

दोनों पक्षों के सभी तत्त्व अपने-अपने पक्ष के एक ही तत्त्व के रूप-भेद से पृथक् नाम हैं। डा० सत्येन्द्र के शब्दों में "शौर्य शारीरिक किन्तु व्यक्तिगत पदार्थ है; वीरत्व इसी शौर्य का हार्दिक पक्ष है, और 'कर्त्तव्य' सामाजिक पृष्ठभूमि में मनसा संलग्न अभिव्यक्ति। इसी प्रकार सौन्दर्य, शृङ्गारत्व तथा कला भी एक ही तत्त्व के रूप-भेद से नाम हैं। शरीर में जो सौन्दर्य है, उसी का हृदय-पक्ष शृङ्गार-रसत्व है, और सामाजिक पृष्ठभूमि में उसी की अभिव्यक्ति कला।"† कला-कर्त्तव्य का भावना-विवेक, मनोबल-धारणा तथा भावना-संकल्प से क्रमशः सम्बन्ध मृगनयनी की निम्नस्थ पंक्तियों से स्पष्ट हो जाएगा :—

१. (मृगनयनी मानसिंह से)—"कला कर्त्तव्य को सजग किये रहे, भावना विवेक को सम्बल दिये रहे, मनोबल और धारणा एक दूसरे का हाथ पकड़े रहें।" (पृ० ४२२)।

२. (मृगनयनी मानसिंह से)—"संकल्प और भावना जीवन-तखड़ी के दो पलड़े हैं। जिसको अधिक भार से लाद दीजिए, वही नीचे चला जाएगा। संकल्प कर्त्तव्य है और भावना कला। दोनों के समान समन्वय की आवश्यकता है। (पृ० ४८७) निस्सन्देह इस समन्वय की आवश्यकता है। वर्मा जी ने पहले भी इस सामंजस्य-साधना को स्पष्ट किया है। एक उद्धरण द्रष्टव्य है—

---

† 'मृगनयनी' : कला और कृतित्व पृ० ६१

(मानसिंह मृगनयनी से)—"वह कला क्या जो कर्त्तव्य को लंगड़ा करदे, और, और वह कर्त्तव्य क्या जो कला का अंग-भंग करदे ?" (३४८)

वस्तुतः दोनों के समन्वय की इस लिए आवश्यकता है कि अपने एकाकीपन में ये अपूर्ण हैं और साथ रहकर सम्पूर्ण। जीवन में इन दोनों की परस्पर पूरकता से, समन्वय से, संतुलन आता है—जीवन-तकड़ी ये दो पलड़े तुले हुए हों तो ठीक है, 'जिसको अधिक भार से लाद दीजिये वह नीचे चला जायगा।' दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि बिना कर्त्तव्य के कला विलास है, बिना कला के कर्त्तव्य ह्रास। बिना कर्त्तव्य के कला जीवन-रहित है, बिना कला के कर्त्तव्य गति-रहित। मानसिंह सदैव इसी सामञ्जस्य के धरातल पर सोचता दिखाई देता है—

"कला का अनुशीलन और कर्त्तव्य का पालन साथ-साथ चल सकते हैं। मैं सेना को भी सजाऊँगा और ललित कलाओं की भी उन्नति करता रहूँगा। नायक बैजू ने आज होरी को कितने मिठास के साथ गाया था।·········मृगनयनी का ताण्डव नृत्य भी कितना सुन्दर कैसा सलोना था !!! मृगनयनी के अधूरे चित्र—(जिसमें एक ओर शत्रुओं के आक्रमण की सम्भावना तथा दूसरी ओर विविध कलाओं का आनन्दोत्सव प्रदर्शित है)—की दोनों दशाओं में एक साथ रंग भरे जा सकते हैं; उसने सोचा।" (पृ० ४२५)। इससे पहले भी वह कहता है—

"······राज्य है काहे के लिए?······प्रजा (कर्त्तव्य) और कला, दोनों के लिए हमें अपने प्राण दे देने के लिए तैयार रहना चाहिए, इन दोनों की ही रक्षा का दूसरा नाम धर्म का पालन है।" (१७१)

आगे हमने शास्त्र+शस्त्र का उल्लेख किया है। इस उपन्यास में, तत्कालीन तथा आधुनिक विकट परिस्थितियों के अनुरूप 'कर्त्तव्य' का कुछ विशिष्ट स्वरूप बन गया है और वह है युद्ध। यद्यपि लेखक ने मानसिंह को सेवा के लिए गरीब की झोंपड़ी तक पहुँचाया है और अन्त में मृगनयनी द्वारा चित्र के कर्त्तव्य वाले अङ्ग की ओर इंगित करते हुए 'प्रजा के सुख की, देश की स्वाधीनता की' रक्षा की बात कही है फिर

भी ग्वालियर की बाह्य आक्रमरण ग्रस्त परिस्थितियों में 'कर्त्तव्य' देश की शस्त्र युद्ध द्वारा रक्षा के तात्पर्य को ही अधिक व्यक्त कर सका है। कर्त्तव्य के इस युद्धपरक स्वरूप के कारण ही इसकी अधिष्ठात्री देवी दुर्गा का आह्वान मानसिंह करता है और बैजू से कला की देवी सरस्वती की आरोधना करने को कहता है—"जब तक मैं तलवार द्वारा दुर्गा की आराधना करता हूँ, आप नये-नये रागों के सृजन द्वारा सरस्वती की करिए।" (पृ० ४७८) एक स्थल पर गूजर होने के कारण कृष्ण की वंशज मृगनयनी ने मानसिंह को पाण्डव वंशी अर्जुन की संतान होने का स्मरण दिलाया है। (पृ० ४२१) जैसे कृष्ण ने अर्जुन को कर्त्तव्याभिमुख किया था, वही मृगनयनी करती है। यही कला का सत्स्वरूप है। शास्त्र (यहाँ इसका अर्थ साहित्य-कला सम्बन्धी ग्रंथों से ही हो सकता हैं; उपन्यास में प्रसंग भी कला का ही चल रहा है) और शस्त्र का प्रसंग वर्मा जी की उस धारणा को व्यक्त करता है जो कला-कर्त्तव्य में समन्वय की साधक होकर भी शंकित है कि कहीं कला की अत्यधिक आराधना कर्त्तव्य को शिथिल न कर दे। वस्तुतः 'अत्यधिक' का भी प्रश्न नहीं, 'पहले किसका ध्यान रखा जाय?' का प्रश्न भी है। और इस दृष्टि से लेखक कर्त्तव्य के समक्ष कला को पराभूत करा बैठा है। मृगनयनी की मानसिंह को देश-रक्षा के लिए सजग करने के लिए कही गई निम्नस्थ पंक्तियों में क्रमशः 'कला की अत्यधिक आराधना' तथा 'प्रथम स्थान किसका' के सम्बन्ध में विचार व्यक्त हुए हैं—"···इधर कलाओं की वृद्धि हुई है, उधर बाण विद्या और युद्ध विद्या का अभ्यास कम हो गया है; हम कलाओं को अधिक समय देंगे तो वे सैनिक अवसर पाते ही अपनी वासनाओं पर उतर-उतर आयेंगे।" मृगनयनी के इस कथन से मानसिंह का अन्तर्मन सहमत नहीं हुआ और वह सोचने लगा। तब वर्मा जी मृगनयनी के माध्यम से शास्त्र का आश्रय लेकर कहते हैं—"मैंने महाभारत में पढ़ा है कि देश की रक्षा शस्त्र द्वारा हो जाने पर ही शास्त्र का चिन्तन हो सकता है।

मेरा यही प्रयोजन है और कुछ नहीं।" (४२२)

वर्मा जी कला-कर्त्तव्य के संघर्ष के सम्बन्ध में अनेक स्थलों पर सशंक दिखाई देते हैं। मानसिंह कलाओं की आराधना में संलग्न है कि तुर्कों की बला आ पड़ती है। वह उसे किसी प्रकार से टालना चाहता है—दाम देकर भी। यदि दण्ड से काम लेता है, युद्ध करता है तो कला-कार्य अधूरा छूटता है। उस समय मृगनयनी स्थिति का विश्लेषण करते हुए मानसिंह से कहती है—"कलाओं की बहुत अधिक पूजा ने ही क्या आपके ध्यान को राजनीति के दाम वाले अङ्ग पर अधिक ला बिठलाया है? दण्ड की बात आप क्यों नहीं, सोच रहे हैं?" (पृ० ३४७) आगे वह और भी स्फूर्तिपूर्ण शब्दों में मानसिंह को कर्त्तव्य-सजग करती हुई कहती है—"वीणा बजाते-बजाते, काम पड़ने पर, यदि तुरंत तलवार न उठ पाई, कोमल सेज पर सोते-सोते, संकट आने पर, यदि तुरन्त ही उछल कर कमर न कसी, ध्रुवपद को गाते-गाते, शत्रु के सामने आ खड़े होने पर, यदि तुरन्त गरज कर चुनौती न दे पाई, जिन कानों में मीठे स्वरों की रस-धार बह-बहकर जा रही थी उन्हीं कानों में यदि रणवाद्यों और कड़खों की धुन न समा पाई तो ऐसी वीणा, सेज और ध्रुवपद की तानों का काम ही क्या?" (३४७) वर्मा जी सत्यं-सुन्दरं के मध्य शिवं को आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य समझते हैं। मृगनयनी के उक्त कथन के पश्चात मानसिंह कला-कर्त्तव्य के समन्वय की बात कहता है। पर मृगनयनी इससे सन्तुष्ट नहीं होती और उन्हें कर्त्तव्य की बात सोचने पर बाध्य करती है। तब मानसिंह के मुख से लेखक कहलवाता है—"पहले कर्त्तव्य, कला की बात पीछे।" (३४८) उपन्यास के अन्त में यद्यपि कला-कर्त्तव्य के समन्वय की बात कही गई है किन्तु वहाँ भी कर्त्तव्य-कामना ही प्रमुख दीखती है। मृगनयनी-चित्र के कर्त्तव्य वाले अंश की अपूर्ति की बात विशेष रूप से कहती है। पर वहाँ भी लेखक बलात् सिद्धान्त के आग्रह से मानसिंह से कहलवाता है—"कला और कर्त्तव्य का समन्वय इस कसर को किसी दिन अवश्य पूरा करेगा।"(४८८)

वस्तुतः यहाँ मानसिंह को कहना चाहिए था कि कर्त्तव्य को पूर्ण करने से अभीष्ट-सिद्धि हो जायेगी। मोती की माला लाखी के कर्त्तव्य की प्रतीक है और उसे चित्र के कर्त्तव्य वाले अंग के ऊपर टाँगा गया है। उपन्यास की अन्तिम पंक्तियाँ हैं—"फिर उन दोनों (मृगनयनी-मानसिंह) की दृष्टि मोती माला की ओर गई। वह ददक रही थी।" (४८८) यहाँ भी लेखक ने कर्त्तव्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। कुछ ऐसे कारणों से डा० सत्येन्द्र लिखते हैं—"जहाँ-जहाँ कला का भय लेखक ने प्रकट कराया है, वहाँ वह वस्तुतः अपना ही भय प्रकट कर रहा है और इसी कारण कर्त्तव्य के समक्ष बलात् कला को पराभूत करने की चेष्टा करता हुआ और साथ ही दोनों के समन्वय का आदर्श प्रस्तुत करते हुए वह हतप्रभ हो गया हैं।"†

हमारे विचार में वर्मा जी कला-कर्त्तव्य के समन्वय के सिद्धान्त को मानते हैं किन्तु उसकी सीमाएँ भी बताते है। ये सीमाएँ ग्वालियर की, तत्कालीन देश की युद्ध ग्रस्त स्थिति तथा आधुनिक स्वतन्त्र भारत की रक्षा के प्रश्न ने निर्धारित की हैं। वर्मा जी इतिहास तथा युग-धर्म के विचार से ऊपर नहीं उठ सके, ऐतिहासिक यथार्थ तथा युगीन यथार्थ पर उनकी विशेष दृष्टि रही है। इसलिए कर्त्तव्य-कला के समन्वय पर विश्वास प्रकट करते हुए भी विशेष परिस्थितियों में 'पहले कर्त्तव्य और पीछे कला' की उचित बात कहने में हिचके नहीं। वस्तुतः वर्मा जी कला पर उपयोगिता की दृष्टि से अवश्य सोचते हैं। मृगनयनी विवाह के बाद अनेक वर्षों के उपरान्त गाँव आती है तो वहाँ किसानों की दुरावस्था तथा आत्मरक्षा के लिए अशक्तता पर विचार करती है। सोचती है—"किसान कैसे प्रबल बनें ? कलाओं की शिक्षा से ? उहँ ! उससे इनकी बाँहों को कितना बल मिलेगा ? पेट भर खाने को मिले, दूध, मट्ठा, घी, कपड़े और कुछ इनके पास बचता भी रहे। तब कलाएँ इनके बाहुबल को स्थिरता दे सकेंगी ? यह सब कैसे हो ? राजा सेना को पुष्ट करले

†मृगनयनी : कला और कृतित्व पृ० ९३

तो इस काम को करने के लिए कहूँगी। (पृ० ४३१) स्पष्ट है कि लेखक पहले जीवन-निर्वाह की सुविधा के उपयोगितावादी धरातल को महत्त्व देता है बाद में कला को। यह ठीक भी है—पहली आवश्यकता रक्षा की है, रजंन का स्थान बाद का है। ऐसी अवस्था में वर्मा जी को सत्येन्द्र जी के शब्दों में 'हतप्रभ हो गये' कहना कहाँ तक संगत है? वस्तुतः सत्येन्द्र जी की तरह हमारा विरोध वर्मा जी के विचारों से नहीं, वरन उपन्यास कला से है। जब समाज की अन्न, वस्त्र की आवश्यकताएँ पूरी न होती हों, देश की सीमाएँ सुरक्षित न हों, तब पहले कर्त्तव्य और पीछे कला। पर शान्ति और सम्पन्नता के समय कला-कर्त्तव्य के समन्वय का सिद्धांत अनिवार्य हो उठता है। ऐसे विचार रखने से वर्मा जी के विचारों में किसी प्रकार का अंतर्विरोध नहीं देखा जा सकता और न ही उन्हें 'हतप्रभ हो गए' कहा जा सकता है। किन्तु वर्मा जी उपन्यास के मध्य में जो सिद्धान्त स्थिर करते हैं, उसका निर्वाह अन्त में नहीं कर पाते। लाखी-अटल, निहालसिंह और बोधन का बलिदान तथा नरवर के किले का छिन जाना या कथा की अन्तिम परिणति कर्त्तव्य की माँग प्रस्तुत करती है किन्तु वर्मा जी अपने अतिरिक्त सैद्धान्तिक आग्रह से कला-कर्त्तव्य-समन्वय की बात करते रहते है। अर्थात् कथा की परिणति तथा उनके समन्वय-सिद्धान्त में मेल नहीं हो पाता जिससे कलात्मक असंगति आ जाती है। अन्तिम दो पृष्ठों में कला-कर्त्तव्य-समन्वय का सिद्धान्त बलात् लाया सा लगता है। सारतः उनके विचार उचित हैं किन्तु कहीं कहीं, संघर्ष-समन्वय का निर्वाह ठीक न होने से वर्मा जी हतप्रभ हो गए हैं।

कर्त्तव्य के अन्तर्गत शौर्य के जिस स्वरूप का चित्रण हुआ है वह "निर्माणात्मक है, ध्वंसात्मक नहीं। मानसिंह को हम कहीं और कभी आक्रमणकर्त्ता के रूप में नहीं पाते, रक्षक के रूप में वह अवश्य है। उसने ग़यास, बघर्रा अथवा सिकन्दर की भाँति कभी किसी दूसरे की भूमि में पदार्पण नहीं किया। रक्षक का रूप भी निर्माणकर्त्ता का

ही रूप है—फलतः शौर्य में भी एक पावनता है, हिंसा के इस समस्त रक्तरंजित व्यापार में भी एक अहिंसा विद्यमान है। शौर्य का उत्साह अतः पाठक को रोमांचित करता है, उसके शरीर के रोम-रोम में लहर भरता है, पर वह विकृत नहीं हो पाता।"† वर्मा जी ने संहार के विकृत पक्ष ही चित्रित किए हैं। किन्तु संहार के निर्माणात्मक पक्ष का चित्रण नहीं हो सका। इसलिए डा० सत्येन्द्र लिखते हैं—" 'निर्माण' के महत्व को तो वह प्रतिपादित कर गया है, पर विजय जंगम के साथ 'शिव' तक पहुँचकर भी वह 'संहार' के जीवनप्रद पक्ष को प्रस्तुत नहीं कर सका है। क्या यह उपन्यासकार की कला-कल्पना की पहुँच की असमर्थता के कारण है अथवा ऐतिहासिक प्रतिबंध के कारण, या समय की माँग के कारण ? नहीं तो क्या लेखक की मनोवृत्ति पर ही इसका दायित्व है ?"‡ जैसा कि हम पहले भी निर्देश कर चुके हैं वर्मा जी वर्तमान का पूरा ध्यान रखते हैं। वर्तमान स्वतंत्र भारत की राजनीति जिन सिद्धान्तों पर आधारित है, वह नितान्त निर्माणमूलक हैं। उनमें निर्माण से ही ध्वंस के प्रश्न को सुलझाने की बात तो है किन्तु ध्वंस कर के निर्माण की कल्पना नहीं। युद्धों से अशान्त विश्व को ध्वंस से निर्माण की प्रेरणा देने में भी खतरा मालूम होता है। ऐतिहासिक यथार्थ की रक्षा का प्रतिबंध भी वर्मा जी को ध्वंस में निर्माणात्मक तत्वों के चित्रण की ओर नहीं ले जा सका।

शौर्य के समान सौन्दर्य और शृंगार में भी कामनाओं-वासनाओं की कर्दमता नहीं, हृदय-परिष्कार की क्षमता तथा सात्विकता की स्वच्छता है। मृगनयनी का शारीरिक सौन्दर्य हार्दिक होकर मानसिंह की शक्ति बन जाता है और वही अपनी परिष्कृति-प्रौढ़ि में, कर्त्तव्य और त्याग से उत्कर्ष पा आत्मा का सौन्दर्य बन जाता है—अन्त में मृगनयनी

---

†मृगनयनी : कला और कृतित्व पृ० ९६

‡वही, ९५

के "शरीर का सौन्दर्य आत्मा के सलौनेपन को और भी अधिक पा चुका था।" (पृ० ४८६) वर्मा जी ने ताण्डव नृत्य के समय कला द्वारा पावन अभिव्यक्ति का आदर्श प्रस्तुत किया है। मृगनयनी के नृत्य से मानसिंह पर जो प्रभाव पड़ा उसका विश्लेषण करते हुए वर्मा जी लिखते हैं— "मृगनयनी ने ताण्डव की इस सात्विकता को अपने नृत्य द्वारा श्रद्धा के साथ मूर्त्त किया। नृत्य के अन्तिम भाग की अवस्था में जब मृगनयनी स्थिर हो गई तब मानसिंह के मन में हिलोड़ें आ गईं। अत्यन्त मनोहर मन को बहुत ऊँचे स्तर पर ले जाने वाला बहुत ही मोहक—हृदय में गाढ़ी श्रद्धा उत्पन्न करने वाला; विलक्षण सुन्दर—वासना को न उकसा कर दृढ़ता को देने वाला मानसिंह को मृगनयनी के सौन्दर्य में इतना वैभव प्रतीत हुआ जितना उसको प्रथम मिलन की घड़ी में भी अनुभव नहीं हुआ था।" (४१७)।

कला में आत्म-परिष्कार की अपूर्व शक्ति है। मृगनयनी ने कला के प्रभाव से—अपने मान अपमान की भावना की उपेक्षा करके—सुमनमोहिनी का आभूषण लौटा दिया। कलात्मक सौन्दर्य क्षुद्रता नहीं रहने देता। मृगनयनी सोचती है—"ऐसा सुन्दर मन्दिर बनेगा, वह और हम सब उसमें ओछे बनकर रहेंगे ! मैं खीजा नहीं करूँगी, वह अपने आप झुक जायगी।" (३४२)

कला का प्रभाव उदारता लाता है। सौन्दर्य-स्नात हृदय की संकीर्णता धुल जाती है। कला-कलित हृदय मज़हबी तंगदिली से ऊपर उठ जाता है। वर्मा जी ने मुसलमान बादशाहों ग़यास और बघर्रा से कलात्मक हिन्दू मन्दिरों की प्रशंसा तथा उनको तुड़वाने वाले मुल्लाओं की भर्त्सना कराई है। †

अब हम वर्मा जी द्वारा प्रस्तुत कला के सैद्धान्तिक विवेचन को लेंगे। वर्मा जी ने कला की निश्चित परिभाषा नहीं दी। अन्त में इतना अवश्य कहा है कि भावना कला है। (पृ० ४८७) मात्र भावना कला

†देखिए 'मृगनयनी' के पृ० ७१, ७६ आदि

नहीं हो सकती, उसकी कुशलाभिव्यक्ति ही कला हो सकती है। ऐसा दिखाई देता है कि वर्मा जी का अभिप्राय कला के भाव प्रधान होने से ही है। यह रागात्मक है, बोधात्मक (दर्शन, विज्ञान आदि) या विवेक प्रधान नहीं। लेखक ने कर्त्तव्य को विवेक प्रधान बताया है जब वह कहता है—'भावना विवेक को सम्बल दिये रहे।' भाव की तन्मयता में बैजू को लोगों ने बावरा कहा। बैजनाथ संगीतज्ञ था। बैजू को मृगनयनी 'साकार कविता' कहती है क्योंकि बैजू भाव की तन्मयता में विलीन रहते हैं। आगे मानसिंह कविता को भी 'बावली' कहता है। (पृ० ३६०) इस प्रकार कलाकार चाहे वह संगीतज्ञ हो या कवि, उन के कृतित्व में यही बावलापन खोजा गया है—वस्तुतः यह बावलापन तन्मय भाव-प्रधानता के कारण है।

कलावंत की साधना तथा अभिव्यक्ति तब पूर्ण होती है जब वह स्वयं को खो देता है—रस देने से पहले वह स्वयं रसमग्न होकर अभिव्यक्ति करता है। कलाकार के कृतित्व में हम तभी अपने को भुला सकते हैं जब उसने स्वयं को भूलकर रचना की हो। वर्मा जी ने नायक बैजू की साधना का उदाहरण दिया है जब "परोसा हुआ भोजन एक ओर रक्खा रहता है, पानी तक पीना भूल जाते हैं। किसी राग के बनाने या किसी परिपाटी या नई तानों के सृजन में दिन रात एक कर डालते हैं।"

किसी कल्याणमय भव्य कलास्वरूप के लिए जिस उपर्युक्त तन्मय साधना की आवश्यकता होती है उसकी व्याख्या एक विशेष प्रसंग में हुई है। मृगनयनी विष्णु की उस मूर्ति की चर्चा करती है जिसे कलाकार ने ऐसी मुस्कान दी है जो देखने वालों के विकारों को शान्त करके शक्ति के साथ ध्यान को एकाग्र कर देती है। यह मूर्ति जिस मन्दिर में प्रतिष्ठित है वह शत्रुओं के हाथ में है और वह उसके दर्शन नहीं कर सकती। मानसिंह उस मन्दिर को अपनी सीमा के भीतर लाने में अशक्त है। ऐसी अवस्था में मृगनयनी का आग्रह है कि क्या उनके कलावंत कारीगर उस मुस्कान को वहाँ से अपने हृदय की गाँठों में बाँध

कर नहीं ला सकते ? मानसिंह समझता है कि कदाचित ला सकें। "किन्तु इसके लिए कलाकार के भीतर पूरी उपासना, आस्था, श्रद्धा और भक्ति, योग द्वारा जाग पड़ें तभी वह उस वरद मुस्कान को टाँकी-हथौड़े के द्वारा पत्थर में उकसा कर पिरो सकता है।" (३८९) सारतः दर्शक-सामाजिक को एकाग्र करने के लिए, कलावंत को एकाग्र होना पड़ता है और इसके लिए अतुलनीय तपस्या की आवश्यकता है। इसी से वरद कलाकृत्ति का निर्माण सम्भव है।

सच्चा कलाकार किन्हीं बाह्य प्रतिबन्धों के दबाव में अपनी कला को कुण्ठित नहीं करता। कला का मूल कलाकार की सौन्दर्यानुभूति तथा अन्तर्स्फूर्ति में है। अवश्य ही यह सौन्दर्यानुभूति परम्परा से भी पुष्ट होती है। मुल्ला हिन्दू कारीगरों से इसलिए रुष्ट हैं कि उन्होंने मस्जिद के निर्माण में मुसलमानी रीतियों का विचार नहीं रखा। वह ग़यासुद्दीन से इसकी शिकायत करते हैं। वह कला के मर्म को समझता है। इसलिए वह समझाता है—"कारीगरों ने जो कुछ पुराने ज़मानों से कारीगरी के रिवाज में सीखा है, उसी को पेश कर रहे हैं।" इस पर मुल्ला कहते हैं—"मगर यह रिवाज गलत है। कुफ्र में सना हुआ। जान बूझकर कारीगर शरारत कर रहे हैं। मना करने पर भी नही माने।" ग़यास का उत्तर है—"अपने मन के सलौनेपन के तकाजे से कैसे लड़ जायें वे ग़रीब ?" (७१)

वर्मा जी ने कलात्मक अभिव्यक्ति के दो रूपों की ओर संकेत किया है—संस्कृत और असंस्कृत। संस्कृत रूप से मानवीय वृत्तियों को परिष्कृत-उदात्त बनाने वाली अभिव्यक्ति होती है और इसका आधार भावना है। असंस्कृत रूप में मानव की निम्नतर वृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है और उसका आधार वासना—ऐन्द्रियता—है। इस निम्नकोटि की कला को वर्मा जी भी स्वीकार करते हैं; यह मानसिंह के निम्न कथन से स्पष्ट है जहाँ वह मृगनयनी के ताण्डव नृत्य—उच्च कला—से प्रभावित होकर निम्न और उच्च कला का अन्तर स्पष्ट करता है—"...(ताण्डव नृत्य) अत्यन्त मनोहर, मन को ऊँचे स्तर पर ले जानेवाला;

बहुत ही मोहक—हृदय में गाढ़ी श्रद्धा उत्पन्न करने वाला; विलक्षण सुन्दर—वासना को न उकसा कर दृढ़ता को देने वाला।" (पृ० ४१७) होली के हुल्लड़ में कला के इसी वासनात्मक रूप के दर्शन होते हैं (पृ० ४१९) और कला की उपर्युक्त दो कोटियाँ और भी स्पष्ट हो जाती हैं।

अब प्रश्न उठता है कला का वासना जगाने वाला रूप किस स्थिति में सम्भव है। वर्मा जी ने इस सम्बन्ध में दो संकेत दिये हैं। पहला, यदि भावना या कला को अधिक समय दिया जाएगा तो उसका प्रभाव वासनात्मक होगा।† 'कला को अधिक समय देने से' तात्पर्य है कर्त्तव्य-विमुखता से। हम स्पष्ट कर चुके हैं कि लेखक इस सम्बन्ध में विशेष सजग रहा है। मानसिंह कलाओं के अतिशय प्यार में शत्रुओं को दंड देकर नहीं, दाम दे कर ही छुटकारा पा लेना चाहता है। अतएव भावना को अधिक समय देने से मनुष्य अधिक विश्रामकामी हो जाता है और यहीं भावना, वासना का रूप धारण कर लेती है। फलतः कला अपने उच्च लक्ष्य से गिर जाती है। दूसरे, संस्कारहीन पात्रों के हाथ में भी—जो भव्य सौन्दर्य के महत्त्व को समझने में असमर्थ होते हैं—कला का वासनात्मक रूप व्यक्त होता है। इसी से यह सिद्धान्त भी स्पष्ट होता है कि कला का प्रभाव सब पर समान रूप से नहीं पड़ता और इसके लिए भी शिक्षा की आवश्यकता है। मृगनयनी कहती है—"हमारी (उच्च) कला उन (किसान घरों से आये सैनिकों) के विवेक में नहीं बैठी इसलिए अपनी जानी-पहचानी को ले उठे और हमारी कला की दिल्लगी उड़ाने लगे।" (पृ० ४२२) इससे पहले भी मृगनयनी ने कहा है कि—"ये लोग सीखे भी कुछ नहीं हैं"। "ऐसे लोगों के मन पर कला का आदर धीरे-धीरे ही बैठता है।" (पृ० ४२०) इसलिए मानसिंह इनके लिए संगीत-विद्यापीठ स्थापित करने की सोचता है जिससे "ये लोग भी सीखेंगे और सुधरेंगे।" (पृ० ४२०)

---

† 'मृगनयनी' पृ० ४२२, देखिए मृगनयनी का कथन।

इस उपन्यास में साहित्य की उन्नति के लिए प्रयत्न करने का उल्लेख मात्र है किन्तु स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत तथा नृत्य सभी कलाओं पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। इन में भी स्थापत्य, मूर्ति तथा संगीत कला पर लेखक की विशेष दृष्टि रही है।

ऐहिक जीवन के सौन्दर्य तथा कर्ममार्ग को महत्त्व देना मृगनयनी की प्रमुख विशेषताओं में से है। वर्मा जी ने हिन्दुओं की हार का एक बहुत बड़ा कारण 'परलोकमय निराशावाद' को माना है। उन्होंने हिन्दुओं के स्वर्ग और मुसलमानों के बहिश्त पर भी व्यंग्य किया है। (पृ० ३३१) वस्तुतः वर्मा जी आधुनिक अध्यात्म से प्रभावित हैं जो श्रमपूजा को महत्त्व देता है और धरा पर ही स्वर्ग-निर्माण करता है। उन्होंने धर्म के प्राचीन रूढ़ात्मक रूपों का उत्पाटन कर प्रवृत्ति पक्ष का पोषण तथा कर्ममत का महत्त्व-प्रतिपादन किया है। मानसिंह कलाप्रेमी है किन्तु उसकी सौन्दर्य-साधना कला कृतियों तक ही सीमित नहीं। यदि कोई जीवन-सौन्दर्य का समर्थक नहीं तो वह कला-प्रेमी भी नहीं हो सकता। अतएव मानसिंह विजय जंगम से सहमत है जो "बतलाते रहते हैं कि जीवन को कल्याणमय और सुन्दर बनाने से ही मृत्यु शुभ बन सकती है," और "जीवन के इसी भाव को पत्थरों में उतारने" का प्रयत्न करते हैं। (पृ० ३३८) मानसिंह की दृष्टि इस जीवन पर रहती है, उस जीवन या परलोक या स्वर्ग पर नहीं। वह दैनन्दिन की आवश्यकताओं को मन्दिर निर्माण से पहले समझता है। (पृ० ४३) मानसिंह 'तपस्या' को महत्त्व देता है किन्तु उसे इस जीवन तथा पदार्थों के साधन में सार्थक समझता है, परलोक या अहंकार के पोषण में नहीं।† मानसिंह इस रहस्य को

† मानसिंह के शब्द हैं—"तपस्या बड़ी वस्तु है परन्तु सुनता हूँ कि तपस्या करने वाले भय और अहंकार के कारण आत्मदमन में लीन हो जाते हैं और इस आत्मदमन को परमपद समझ कर दूसरों को आतंकित करने लगते हैं। जब ऐसे लोगों को इस लोक में गौरव नहीं

समझते हैं कि लोक में कुछ पाने की असमर्थता तथा निराशा ही कुछ लोगों को परलोक की कल्पनाओं में पलायन की प्रेरणा देती है। सारतः वर्मा जी परलोक को निराशा तथा पलायन का परिणाम तथा हिन्दू जाति के पतन का प्रमुख कारण मानते हैं।

निराशा उन्हें ही होती है जो कर्ममार्गी नहीं। शास्त्रों को पढ़कर केवल वाग्वीर बनकर वाद-विवाद में उलझे रहना व्यर्थ है, कर्म करना ही मुख्य है। मानसिंह के निम्नस्थ शब्दों में कर्म ही राजपथ है—"ये बैठे ठाले के वाक्युद्ध व्यर्थ हैं। कर्म मुख्य है। जो इससे बचना चाहते हैं, वे ही दायें-बायें की पगडण्डियाँ ढूँढते हैं।" (पृ० ४६) यद्यपि मानसिंह कोई पंडित या शास्त्रज्ञ होने के नाते उक्त मत नहीं प्रकट करता, यह उसके अनुभवों के अनुसार व्यावहारिक मत है किन्तु वाक् युद्ध करने वाले शैव, वैष्णव तथा बौद्ध इसे शास्त्रानुकूल भी बताते हैं (पृ० ४६) और इस रूप में, कर्म मत में, मानों शैव, वैष्णव तथा बौद्ध मतों का भी समन्वय हो जाता है। अन्त में विजय जंगम के कथन में कर्म को 'सब कुछ' मानकर इसे ही 'मानव का धर्म' मान लिया गया है। (पृ० ४७६)

कर्म मार्गी आत्मनिर्भर होता है, वह उपजीविका को घोर लज्जास्पद समझता है। अटल-लाखी की कथा से वर्मा जी ने आत्मनिर्भरता का अनुपम संदेश दिया है। अटल-लाखी राजा की सहायता से सब कुछ कर सकते थे परन्तु वे ऐसा करते नहीं। उनकी आत्मनिर्भरता लाखी के शब्दों में ललकार उठी है—"कोई मुझको यदि किसी की चेरी कहे, चाहे वह मेरी निज की ननद ही क्यों न हो, तो मैं नहीं सह सकूँगी और न यह सह सकूँगी कि तुमको राजा का दास या रोटियारा कहे। हम लोगों

मिल पाता है तब उस लोक में इतने अधिक गौरव के पाने की आशा पर उनको अचम्भा होने लगता है और पागल से हो जाते हैं।" (पृ० ४६)

को भगवान् ने भुजाओं में बल दिया है और काम करने की लगन। कुछ करके ही ग्वालियर चलेंगे।" (२५१)

मृगनयनी को राजमहलों में अनेक दासियाँ उपलब्ध हैं किन्तु वह उनकी भीड़-भाड़ को देखकर घबराती है। वह उस स्वतन्त्रता की याद करती रहती है जो उसे राई में प्राप्त थी। वह कहती है—"मुझको तो विजय जी की बात अच्छी लगती है। वह कहते हैं सब को अपना-अपना आवश्यक काम अपने हाथ से ही करना चाहिए, वह स्वयं ऐसा ही करते हैं। उनका कहना है कि इस देश को भिखमंगों ने डुबोया है।" (३१६)

वर्मा जी ने निरन्तर परिश्रम तथा शारीरिक या 'कायक काम' पर बड़ा बल दिया है। मानसिंह और विजय जंगम के निम्न वार्तालाप में परिश्रम तथा कायक श्रम दोनों पर इतना ज़ोर दिया गया है कि राजा भी इसका अपवाद नहीं।

मानसिंह—"परिश्रम कर लेने पर कुछ अवकाश भी तो चाहिए।"

विजय—"जीवन में कायक-काम ही सब कुछ है। एक काम से मन उचटे तो दूसरा करने लगे। मैं तो अवकाश इसी को कहता हूँ।"

मानसिंह—आपकी बातों को मैं पहले गाँठ में बाँध चुका हूँ। इसीलिए परिश्रम से आल्हाद पाता हूँ। प्रण किया है जब भवन और मन्दिर बनवाऊँगा तब मज़दूरों के साथ नित्य एक घंटे मैं भी पत्थरों पर श्रम करूँगा।" (१०९)

विजयजंगम मात्र उपदेशक नहीं, कायक श्रम का आदर्श प्रस्तुत करने वाला है—उसे "शारीरिक श्रम में इतना विश्वास था कि अपना पसीना बहाये बिना वह किसी से कुछ नहीं लेता था।" (१७१)

वर्मा जी ने शारीरिक श्रम को ही नहीं श्रमजीवियों को, हँसिया-हथौड़ा धारी कुशल किसान-मज़दूरों को भी महत्त्व दिया है। यह महत्त्व सहज रूप में ही मिल जाता है जब स्वयं राजा और आचार्य उनके साथ

मिलकर कार्य करने में किसी प्रकार की मानहानि नहीं समझते। यही नहीं मानसिंह दूसरों के सहयोग में कर्म कर आनन्दलाभ करने को आदर्श समझता है। मानसिंह मज़दूर-घर की वास्तविक दशा से अवगत होने के लिए भेष बदल कर वहाँ जाता है। अपने सद्व्यवहार से वह मज़दूर परिवार को मुग्ध कर लेता है। वह अपने को धिक्कारता है—"मैं तो पेट भर कर सो जाऊँ और तुम भूखों रहकर मरो! मैं महलों में रहूँ और तुम इस झोपड़ी में भूखे ठण्डों मरो!!" मज़दूर अपनी स्वाभाविक दीनता में, लघुता के धरातल पर कहता है—'हमारा भाग्य है, महाराज!' मानसिंह का उत्तर मज़दूरों को भाग्य-दास से भाग्य-विधाता बना देता है—"बिल्कुल भ्रम की बात। हमारे भाग्य के आधार तुम्हीं सब जन हो। तुम्हारा भाग्य बुरा रहा तो हमारा तो पहले ही खोटा हो चुका।" (पृ० ३७५) श्रद्धाभिभूत मज़दूर स्वीकार करता है—'सुना था कि महाराज, ब्राह्मणों, पंडितों और सेठों के हैं, आज जाना कि मज़दूरों-किसानों के भी हैं।" "दूसरे ही दिन मानसिंह ने दरिद्र मज़दूर-किसानों के लिए रहने योग्य घरों के बनवाने की राज्य की ओर से व्यवस्था की, जगह-जगह औषधालय खुलवाने का प्रबन्ध किया।" (३७६) ऊपर मानसिंह ने राज्य के भाग्य का आधार 'तुम्हीं (मज़दूर) सबजन' कहा है। लाखी इससे पूर्व कहती है—"किसान ही तो राजा को बनाता है।" (पृ० १८३) स्पष्ट है कि वर्मा जी ने राजतन्त्र में प्रजातन्त्र का संकेत करके, प्रजा को महत्त्व दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक आदर्श शासक का चित्रण करके राजा को भी जन-नायक बना दिया है। राजा अपने राजमद में प्रजा को कभी विस्मृत नहीं करता। शिकार खेलने के लिए राई जाकर जब वह जनता के फटे हुए मोटे मैले-कुचैले कपड़ों को देखता है तो आत्मग्लानि से मन में कहता है—"मैं इनका राजा हूँ? इनका राजा!!!" (पृ० १७७) सारांश में तत्कालीन इतिहास की सीमाओं में वर्मा जी ने यथा सम्भव अधिक से अधिक जनवादिता तथा प्रगतिशीलता का परिचय दिया है।

वर्मा जी की चेतना ने महत्त्वपूर्ण सामयिक समस्याओं से प्रेरणा लेकर शोषित मानवता पर विशेष दृष्टि रखी है। मध्ययुगीन सामंती व्यवस्था में किसान के शोषण का परिचय देने के लिए तत्कालीन इतिहास के प्रति उनकी एक जनवादी आलोचनात्मक दृष्टि सर्वत्र मिलती है। इससे सामंतीय व्यवस्था के स्पष्टीकरण के साथ उसका व्यंग्यात्मक आलोचन भी होता रहता है—उस युग की सामंतीय व्यवस्था का यथार्थ चित्रण भी रहता है और उसके प्रति इस युग का दृष्टिकोण भी। यथा, 'मृगनयनी' में वे लिखते हैं—"राज्य के सिपाहियों की उगाही के बाद पुजारी की उगाही सहज ही नहीं हो गई। किसानों को अन्न के दर्शन राम-राम करके हुये थे। इसलिए वे देने में किनर-मिनर कर रहे थे।" पुजारी ने कहा—'शास्त्र का वचन कभी न भूलो, छठवाँ भाग राजा का होता है, सो तुमने दे दिया। बीसवाँ देवता का, तीसवाँ ब्राह्मण का होता है। उसको देने में आनाकानी करने से यह लोक तो बिगड़ेगा ही परलोक से भी हाथ धो बैठोगे।'

एक किसान खिसियाहट को छिपाता हुआ बोला, "फिर हम क्या खायेंगे ?"

'भगवान देंगे, मैं भजन जो करूँगा।'

'भजन करने पर भी दिल्ली के सुल्तान ने इतना खून बहा दिया ! इतने घर और खड़े खेत चौपट कर दिये !!'

'देखा इस मूर्ख को ! इस घोर नास्तिक को !! अब कोई नई विपद को बुलाने वाला है। कहता है एक भोगमान भुगतनी पड़ती है हम तुम सबको !'

.........अधिकांश किसान आनाकानी करते हुए भी जानते थे कि अनिवार्य का निवारण नहीं होने का इसलिए देने के लिए अपने को विवश पा ही रहे थे।" (३०) उपर्युक्त कथन में शोषितों की शोचनीय लाचारी-ग़रीबी मूर्तिमान हो उठी है। शासक वर्ग अपनी रक्षा तथा स्वार्थ-सिद्धि के लिए दंड के भय से काम लेते हैं और धर्म-रक्षक पुजारी

जो अपने अन्याय के विरोध को शान्त करने के लिए लोक-परलोक बिगड़ने का भय और भगवान् द्वारा शत्रुओं से रक्षा करने का लोभ दिखाकर, मानों मानव के पूत भाव-क्षेत्र को स्वार्थ-सिद्धि के लिए मलिन करके अपना उल्लू सीधा करते हैं। वर्मा जी तत्कालीन इतिहास की सीमा में घुटते-पिसते किसान के विरोध-विद्रोह का अधिक से अधिक सांकेतिक आभास ही दे सकते थे।

वर्मा जी की प्रगतिशीलता का अन्य प्रमाण है उनका रूढ़ि-विरोध। मात्र परम्परा या शास्त्र के नाम पर किसी बात को अटल मान लेने का वह घोर विरोध करते हैं। बोधन पुजारी शास्त्र की बातों को अटल मानता है और मानसिंह उसके इस 'अंधविश्वास' को मूर्खता समझता है। मानसिंह ऐसे लकीर के फकीरों के लिए कहता है—"हे भगवान् ! क्या हमारे समाज के इन अन्धे-बहिरों को कभी सूझता सुनता करोगे ? या हम सब को डुबोकर ही रहोगे ?" (पृ० २६०) अनेक प्राणी इसी अन्धविश्वास की बलि चढ़ जाते हैं। इसी अंधविश्वास के रूप हैं, धर्म के बाह्याडम्बर, छूत-छात, जात-पाँत आदि जिन से वर्मा जी ने युद्ध किया है। विजयजंगम के निम्न कथन में लेखक ने भगवान्-भजन या धर्म-पाखंड की पोल खोलने के साथ छूत-छात तथा भेद-भाव की भर्त्सना की है—"···संसार के गले पर खाँड़ा चलाते जाओ और भगवान् का नाम लेते जाओ, तो क्या इस मार्ग से भी मोक्ष मिल जायेगा ? वर्ण-अवर्ण के भेद मानकर एक दूसरे से घृणा करते रहो, अछूतों को मनुष्य न समझो, छुआछूत के नरक में रहते हुए भी भजन की माला टालते रहो तो क्या बैकुण्ठ प्राप्त हो जायगा ?" (४५) विजय शैव है और समझता है कि "भगवान शंकर के सामने वर्ण, अवर्ण, सुजात, कुजात का कोई भेद नहीं।" (४४) मानसिंह और विजय उस मानववादी धर्म के अनुयायी हैं जहाँ सभी प्रकार के भेदभाव लुप्त हो जाते हैं और सुकर्म से ही भजन-भाव सार्थक हो सकता है।

जाति-पाँति की समस्या ने अटल-लाखी की कथा के रूप में बड़ा

उग्ररूप धारण किया है। इन दोनों में पूर्ण प्रेम है किन्तु विधिपूर्वक विवाह करना तो दूर इन्हें पुरातनपंथी समाज तथा ब्राह्मणों के कारण अपने घर-बार तथा गाँव को भी त्यागना पड़ा। वर्मा जी ने इस जात-पाँत को भूत (३१५), बाघ (२८४) आदि कहकर लड़ने के लिए युद्ध समान (२६१) समझा है। समाज के लिए जात-पाँत किस प्रकार से हानिप्रद सिद्ध हुई है और उसके सीमित लाभ का स्वरूप-बोध निम्न विश्लेषण से हो जायेगा—

१. जात-पाँत के कट्टरपन के कारण कितने ही हिन्दू अपने धर्म समाज से दूर जा पड़े हैं। (३७९) जात-पाँत-विरुद्ध विवाह नहीं हो सकता है। जो ऐसा करता उनके साथ कट्टरपंथी समाज खाना-पीना, उठना-बैठना, बोल-चाल बन्द कर देता है। यही नहीं उनको मारने की बात सोची जा सकती है। (२१६-१७) घृणा की सीमा इतनी बढ़ती है कि उनको पापी समझा जाता है, या देखा जाता है तो थूका जाता है। (२२१)

२. रक्षा के लिए ढाल और तलवार दोनों अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। जात-पाँत ढाल का काम तो कर सकी है और कर रही है परन्तु तलवार का काम न तो हाल के युग में उसने कर पाया है और न कभी कर पायेगी।" (३७९)

३. 'जात-पाँत' हिन्दू जाति के असंगठन तथा दुर्बलता का कारण है।

४. जात-पाँत से समाज में भ्रामक भेद-भाव या उच्च वर्णों में क्षुद्र उन्नति-ग्रन्थि की सृष्टि हुई है। उच्च जाति का हिन्दू वही समझा जाता है जिसका छुआ दूसरा खा लें। (३८२) क्षत्रिय अहीर का छुआ नहीं खा सकते। अहीर जाति की स्त्रियाँ पैर में सोना नहीं पहन सकती।‡ (३१३) बोधन केवल ब्राह्मण वर्ण को ही उपदेश देने का अधिकारी

‡वैसे आजकल उच्च वर्णों की स्त्रियाँ भी पैर मे सोना पहनना अनुचित समझती हैं।

समझता है, क्षत्रिय आदि अन्य वर्णों को केवल धर्म और गो-ब्राह्मण की रक्षा के लिए समझता है। मानसिंह का विचार है कि क्षत्रिय भी उपदेष्टा रहे हैं और बाद में भी हो सकेंगे। जनक, महावीर, गौतम बुद्ध राम, कृष्ण, अर्जुन इत्यादि इसके प्रमाण हैं। (३७९)

मानसिंह द्वारा लाखी-अटल का विधिवत विवाह करा के वर्मा जी ने इस प्रथा के विरुद्ध युद्ध में मानों विजय लाभ की है। यही नहीं जात-पाँत के निंदाचारे के विरुद्ध लाखी के शब्दों में ललकारा है—"उतर पड़ो संसार में कमर कसकर और सिर उठाकर निन्दाचारे का सामना करो।" इसी प्रसंग में वर्मा जी ने बोधन जैसे पुजारियों की उस सामंत-पोषक नीति की ओर भी संकेत किया है जो राजा के जात-पाँत-विरुद्ध विवाह को तो स्वीकार कर सकती है किन्तु लाखी-अटल के नहीं। लेखक ने मरणासन्न बोधन का किंचित हृदय-परिवर्तन दिखा कर सभी मानवों की आध्यात्मिक एकता के आधार पर जाति-पाँति के भेद-भाव को असंगत बताया है। मरने के समय वह सोचता है—"वह सब में रम रहा है, मेरे और जल्लाद के भीतर वही है, जल्लाद की तलवार और मेरे सिर में वही है। सब में वही है। सब बराबर हैं। लाखी और अटल में वही है! दोनों में वही है? फिर मैंने उन दोनों के बीच में भेद क्यों किया? पर वह तो वर्णाश्रम की बात थी। जो कुछ भी हो, अब किसी के लिए मन में बुराई नहीं है।" (४०५)

वर्मा जी की नारी-भावना भी परम्परा-मुक्त तथा नूतन आदर्शों का निर्माण करने वाली है। वर्मा जी यदि किसी सामान्य वर्ग-प्रतिनिधि नारी-चरित्र से नारी-भावना के आधुनिक दृष्टिकोण को व्यक्त कराते तो यह अवश्य काल-दोष होता किन्तु मृगनयनी जैसे विशिष्ट व्यक्तित्व सम्पन्न पात्र को इसका माध्यम बना कर वह इस दोष से बच गए है। उनकी प्रगतिशील नारी-भावना का विश्लेषण इस प्रकार हो सकता है—

१. पर्दा प्रथा का विरोध—मृगनयनी ने विवाह पूर्व राजा को वचनबद्ध कर लिया कि वह विवाहोपरान्त पर्दा नहीं करेगी। (१९८)

२. नारी और शिक्षाः—वर्मा जी ने अटल से बोधन शास्त्री को यह प्रश्न कराया है कि 'क्या स्त्रियाँ (वेद) पढ़ सकती हैं ?'

'वेद ! अरे राम राम !! स्त्रियाँ और शूद्र वेद नही पढ़ सकते ।'

'...स्त्रियाँ मात्र पढ़ सकती हैं ?'

'पढ़ सकती हैं। पुरों और बड़े ग्रामों में लड़के-लड़कियों की अलग-अलग पाठशालाएँ रहती रही हैं। आक्रमणकारियों के अत्याचारों के कारण बन्द हो गई हैं, उनमें लड़कियाँ भी पढ़ती थीं।" (३१-३२)

मृगनयनी को कलाओं में ही नहीं शास्त्रादि में प्रवीण करने की शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। वर्मा जी ने विशेष प्रसंग निकालकर नारी-शिक्षा की चर्चा की है।

३. नारी और आत्मरक्षाः—वर्मा जी नारी को आत्मरक्षा के लिए आत्म-निर्भरता तथा साहस-शौर्य का संदेश देते हैं। मृगनयनी का निम्न चिंतन इसी का सुफल है—"राजा लोग अपने थोड़े से भाई बाँधवों को किसी गढ़ में बन्द करके लड़ते-लड़ते मर जाते हैं और उनकी स्त्रियाँ चिता में जलकर भस्म हो जाती हैं !......उनके हाथ-पैर इतने निकम्मे होते होंगे कि अपने ऊपर आँख और हाथ डालने वाले पुरुष को घूँसे से धरती न सुँघा सकें ? कैसी स्त्रियाँ होंगी ये ! खाने को इतना और ऐसा अच्छा मिलते हुए भी मन उनके ऐसे मरियल !! चिता में जलकर मरें स्त्रियों पर हाथ डालने वाले !!! मैं तो कभी इस तरह नहीं मरने की।" (१७-१८) मृगनयनी और लाखी का आदर्श परम्परागत नारियों के समान पति के बाद मर्यादा-रक्षा के लिए चिताओं को सजाना नहीं, पुरुषों की सम्भोक्ता-सहचरी के आचरणानुकूल युद्ध में पति के साथ-साथ लड़ते हुए वीर-गति को पाना है। मृगनयनी की शौर्य-भावना यही कहती है—"पहले की सतियों ने आग और चिता को जितना प्यार किया उसके बराबर तीर और तलवार के साथ भी करना चाहिए था। आने दीजिए बैरी को किले के निकट फिर देखिए मेरा और लाखी का

काम।" (३४६) मृगनयनी की कामना तो पूरी न हुई किन्तु लाखी का अन्त वीरोचित हुआ।

४. नारी पुरुष की प्रेरणा—नारी कामिनी या 'पुरुष की वांछा और कामना की शृंगार' (३४५) नहीं, वह 'जीवन की प्रेरणा, प्रातःकाल की उषा जैसी सजग करने वाली' (३४५) है। मानसिंह मृगनयनी से कोमल प्रेरणा पाने का आकांक्षी है, उसे युद्ध की श्रांति-क्लान्ति के पश्चात् सबलता-स्फूर्ति के लिए मृगनयनी की मृदुल मुस्कान तथा मधुर स्वरों की ललित तान चाहिए। किन्तु मृगनयनी सबल स्फूर्ति देने के लिए प्रश्न करती है—"हमारे चलाये तीरो की सनसनाहट क्या आपकी भुजाओं को कम फड़कन देगी ?" (३४६) जब कोमल कांत उषा प्रखर प्रचण्ड दोपहरी का रूप ले सकती है, तो नारी का सहयोग भी कोमल-कठोर दोनों प्रकार का हो सकता है।

नारी-गौरव के धरातल पर मानसिंह किसी 'दासी' का 'स्वामी' होने की अपेक्षा 'प्राणप्यारी' का प्राणेश्वर होने का अधिक अभिलाषी है। (२४९)

५. मृगनयनी के अन्तर्बाह्य सौन्दर्य को देखकर मानसिंह को दो बार यही प्रतीति होती है कि 'स्त्री का गौरव, सौन्दर्य, महत्त्व स्थिरता में है, जैसे उस नदी का जो बरसात के मटमैले, तेज प्रवाह के बाद शरद में नीले जल वाली, मन्थरगति-गामिनी हो जाती है—दूर से बिल्कुल स्थिर और शांत, बहुत निकट से प्रगति वाली।' (४१७, ४८७) मृगनयनी अपने सौन्दर्य में वासनोत्तेजकता के चांचल्य का अतिक्रमण नहीं होने देती, उसमें संयम की गम्भीरता है जो मानसिंह से कह सकती है—"नियम-संयम के साथ रहिए और मुझको रहने दीजिए।" (२४७) इसी से दोनों के शरीर में शक्ति स्थिर रह सकती है जो प्रेम के स्थायित्व का आधार है। मानसिंह की निम्न स्वीकारोक्ति में वर्मा जी ने प्रेम के स्थायित्व का रहस्य देने का प्रयास किया है—"तुम संयम से प्रेम को अचल बनाती हो और मैं अपने विकार से उसको चंचल कर देता हूँ।

संयम के आधार वाला प्रेम ही आगे भी टिके रहने की समर्थता रखता है। (३८७)

६. एक स्थल पर वर्मा जी ने विवाह में नारी की स्वेच्छा-स्वीकृति का आभास भी दिया है। मानसिंह ने विवाह-बन्धन के पहले मृगनयनी से स्वीकृति ली थी। मानसिंह की आठ रानियाँ है। मृगनयनी लाखी से कहती है—"मै नहीं जानती थी कि महल में आठ पहले से हैं, नहीं तो—" (३१४)

नारी समस्या के प्रसंग में वर्मा जी ने सामन्तों की बहु-विवाह कामना का भी व्यंग्यात्मक उपहास किया है। मृगनयनी सोचती है—"उन्होंने पहली स्त्री से ब्याह किया होगा तब उससे भी इस तरह का प्रेमालाप करते होंगे, फिर दूसरा, और आठवाँ ब्याह किया, हर एक रानी के साथ आरम्भ में इसी प्रकार की चिकनी और मीठी बातें करते रहे होंगे···" मानसिंह सुमनमोहिनी के सौतिया डाह से विचलित होने लगता है। तब वर्मा जी लिखते हैं—"उस (मानसिंह) का अभिमान कहता था—इतने बड़े राज्य की व्यवस्था करने वाला आठ स्त्रियों का भी शासन नहीं कर सकेगा ? उसके विवेक ने बतलाया, एक स्त्री का शासन ही पुरुष के लिए कठिन काम है, आठ तो आठ ग्वालियर-राज्यों की समस्या के समान हैं।" (२५३)

मृगनयनी उपन्यास इतिहास के जिस काल से सम्बन्धित है उस समय मुसलमान बादशाह अपनी अन्य इच्छाओं को पूरा करने के साथ मुल्लाओं की या अपनी मज़हबी इच्छाएँ भी पूरी करते थे। अनेक हिन्दुओं को स्वधर्म-त्याग पर बाध्य किया गया और इसी सम्बन्ध में अनेक हिन्दुओं को तलवार के घाट उतार दिया गया, मन्दिर तोड़े गए और उनके स्थान पर मस्जिदें निर्मित हुई। इस साम्प्रदायिक समस्या ने आधुनिक भारत में और भी उग्र रूप धारण किया है। ऐसी अवस्था में वर्मा जी के समक्ष कठिनाई थी कि मुसलमानों की तत्कालीन बर्बरता का वर्णन इस रूप में करें कि ऐतिहासिक सच्चाई भी आवृत्त न हो

और हिन्दू-मुसलिम ऐक्य की भावनाएँ भी कुण्ठित न हों। 'परिचय' में उनके इस दृष्टिकोण की परिचायक ये पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—"बोधन ब्राह्मण ऐतिहासिक व्यक्ति है। उसके मारने वालों की बर्बरता का मैंने बहुत थोड़ा वर्णन किया है—करना पड़ा।' इस 'करना पड़ा' की मजबूरी लेखक के सामने सदैव रहती है। मुल्लाओं और सिकन्दर ने धर्म न छोड़ने पर बोधन को मरवा डाला—इस पर वर्मा जी की आलोचनात्मक टिप्पणी है—"मूर्तियों और मन्दिरों के तोड़ने-फोड़ने से जो आग उत्तर भारत में नहीं फुक पाई थी वह एक बोधन के वध ने फूक दी। अन्तर्वेद और अन्तर्वेद की दोनों दिशाओं के क्षेत्रों की छातियाँ मानों फौलाद की बन गईं।

"सिकन्दर और सिकन्दर के मुल्लों, सरदारों ने सोचा, अब हुआ दिल्ली की सल्तनत का पाया मजबूत। उन्होंने नहीं देख पाया कि पाये काँप गये।" (४०६) अन्तिम वाक्य से स्पष्ट है कि वर्मा जी मज़हबी कट्टरता को राज्य के लिए हानिप्रद बताते हैं। वर्मा जी ने ग़यासुद्दीन तथा बघर्रा के मुल्लाओं की कट्टरता भी दिखाई है और उनका राज्य कार्य में अनुचित हस्तक्षेप तथा विशेष प्रभाव भी। मुसलमान बादशाहों के द्वारा ही लेखक ने इनकी भर्त्सना कराई है। गियास कहता है—"मुल्ला जी, यों ही आम हिन्दुओं को चिढ़ाने से क्या फ़ायदा ?"

'जहाँपनाह से मैंने अर्ज़ कर दिया है, दिल्ली के मुल्लाओं का यही फ़तवा है।'

गियास कुछ कुढ़ कर रह गया—"दिल्ली के मुल्ला मुझ से भी बढ़कर हैं। काम बने चाहे बिगड़े इनके फ़तवे के सामने सिर को झुकाना पड़ेगा !! कठ मुल्लों के सामने !!!" (२६३)

वर्मा जी ने मुल्लाओं की उस कट्टरता की भर्त्सना कराई है जो हिन्दुस्थान में रह कर भी ईराक की रिवायात सामने रखती है। मुल्लाओं को हिन्दू कारीगरों से शिकायत है कि उन्होंने मस्जिद की 'मीनार की गुम्मजों की खिड़कियाँ कमानीदार न बनाकर, जो ईराक का नमूना

है बेंडीदार बनाई हैं जिसमें हिन्दुओं के मन्दिरों जैसे बन्दनवार रख दिये हैं ।'

गियास आगे चलकर इसका उत्तर देता है—"मुल्ला और मौलवियों के बाप ने भी कभी इमारतें बनवाई थीं हिन्दुस्तान में ?'

'जहाँपनाह'

'आप लोगों का एतराज चिड़ियों, बन्दरों, घोड़ों और मोरों की तस्वीरों से ज्यादा ताल्लुक रखता है ।है न ऐसा ?'

'जहाँपनाह ने ठीक फ़रमाया'

'कारीगरों ने जो कुछ पुराने ज़मानों से कारीगरी के रिवाज में सीखा है, उसी को तो पेश कर रहे हैं ।' (७१)

एक विशेष स्थल निकाल कर वर्मा जी ने राजा मानसिंह की धर्म (मज़हब) निरपेक्ष राजनीति तथा सहिष्णुता-उदारता का परिचय दिया है । सिकन्दर लोदी का भाई जलाल बहुत से मुसलमान साथी ग्वालियर में छोड़ गया था । जलाल तो मारा गया और ये साथी अनाथों के समान थे और अभय आश्रय के इच्छुक थे । "मानसिंह ने उनको शरण प्रदान की । आश्वासन दिया, 'मेरा झगड़ा सुल्तानों और सुल्तानी शासन से है न कि मुसलमानों से । काम करो, राज भक्त रहो और हिन्दुओं के समानही बर्ताव पाते हुये इज्जत के साथ जीवन को बिताओ ।" (४८२)

वर्मा जी ने एक स्थल पर भारत की सांस्कृतिक अखण्डता के सम्बन्ध में विचार प्रकट किए हैं । चाहे भारत राजनैतिक दृष्टि से अनेक भागों में विभक्त रहा है किन्तु इसकी सांस्कृतिक एकता अविछिन्न रही है जो राष्ट्रीय एकता का अनिवार्य तत्त्व है । वे लिखते हैं—"भारत के पहाड़, जंगल, नदी-नाले, विस्तृत क्षेत्र और लम्बे चौड़े अन्तर, अतगनित छोटे बड़े राज्यों की संख्या और जनपदों के खण्डों की भिन्नता को बढ़ाने में सदा से सहायक रहे हैं, परन्तु एक छोर के विचार और मत को दूसरे छोर तक पहुँचाने में न तो वे और न उनके उत्पादक अनेक

छोटे-बड़े राज्य, रजवाड़े और भिन्न-भिन्न जनपदों के सीमाबद्ध संकुचित खण्ड कभी बाधक हो पाए हैं। शंकर उत्पन्न हुए सुदूर दक्षिण में और अपने विरोधी को हराने को तथा अपने मत के प्रचार के लिए भी पहुँच गये काश्मीर ! चैतन्य हुए दूरवर्ती बंगाल में और उनके मत के प्रचारकों ने अपना संस्थान बनाया वृन्दावन में !! तक्षिला का ब्राह्मण काञ्ची के विद्यालय में और काञ्ची का काश्मीर और काशी में !!! गंगा और गोदावरी का नाम उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम के ओर-छोर तक, घर-घर में, जंगल में, पर्वत की कन्दराओं में—मानों हिमालय, विंध्याचल, सह्याद्रि सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हों !"(७३)

मृगनयनी ऐतिहासिक उपन्यास होते हुए भी आधुनिक भारत की प्रवृत्तियों के अनुकूल है। वर्मा जी की दृष्टि अतीत में भी वर्तमान क्षणों को खोजती रही है।

—o—

'मृगनयनी' के गुण-दोष

मृगनयनी उपन्यास की गुण-दोष विवेचना हम स्पष्टीकरण की सुविधा के लिए साथ-साथ करेंगे।

मृगनयनी की कथावस्तु ऐतिहासिक है। इस में सामान्यतः इतिहास का प्रामाणिकता से पालन किया गया है। ऐतिहासिक उपन्यास में उपन्यासकार का इतिहास-ग्रन्थों से सामग्री संकलन का सरल-सुलभ लक्ष्य भी हो सकता है और अपनी अनुसन्धित्सु मेधा, तथा अथक अध्य-वसाय से निज का योग देकर इतिहास का संशोधन तथा सजीव सृजन भी। वर्मा जी में यह दूसरी विशेषता मिलती है जिस की व्याख्या हम पहले लेख में कर चुके हैं।

मृगनयनी रोमांस भी है—यहाँ इतिहास-रोमांस का आदर्श समन्वय है। रोमांसकार इतिहास से पात्र लेकर भी कल्पना की स्वच्छन्दता के कारण इतिहास की प्रामाणिकता का दावा नहीं कर सकता। किन्तु वर्मा जी ने मुख्यतम पात्रों—मानसिंह-मृगनयनी तथा उसके प्रतिद्वन्द्वियों ग़यास, सिकन्दर, राजसिंह, बघर्रा—की कथा को इतिहास सम्मत बना तथा इनकी कथा से अटल-लाखी की शौर्य-शृंगार प्रधान रोमानी कथा का मनोरम संयोग कर इतिहास-रोमांस का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत कर दिया है। ऐसा समन्वय होने से 'मृगनयनी' में रोमांस का कथा-रस तो है किन्तु असम्भव-दुर्लभ के तत्त्व नहीं। यहाँ प्रेम है किन्तु रसिकता का चांचल्य नहीं; शौर्य और जीवट का स्वरूप भी निर्माण मूलक तथा गौरव-मण्डित है। ग़यास-नसीर में कामुकता की कर्दमता है किन्तु इससे अटल-लाखी के अटल प्रेम का कमल और भी खिल उठा है। ग़यास-नसीर की आकुल अकूल वासनाओं का चित्रण इतिहास-सम्मत तथा तत्कालीन सामंतों

की वज्र विलासिता को व्यक्त करनेवाला है। किन्तु यह विकृति भी घृणा जगाती है, डुबोती नहीं। इसका कारण है लेखक का कुण्ठामुक्त स्वस्थ दृष्टिकोण। शारीरिक चित्रणों में लेखक सतर्क-सावधान रहा है। नसीर की अकूल कामुकता का परिचय वह सांकेतिक विधि से देता है, ब्यौरेवार चित्रण करके उसमें रस नहीं लेता। देखिये—"बड़े नखरों के साथ नाच-गान हुआ। ऐसा कि अश्लीलता भी शर्मा गई होगी। नाच-गान की समाप्ति होते-होते नसीर तकिये के सहारे पड़ कर सो गया। अश्लीलता के इतने आकार-प्रकार उसके अनुभव में आ चुके थे कि अब कोई भी अश्लीलता उसको देर तक आकर्षण नहीं दे सकती थी।" (४७९) आगे जल-विहार का वर्णन भी ऐसा ही है। मृगनयनी-लाखी के शारीरिक सौन्दर्य या नख-शिख वर्णन भी कौशलपूर्ण है। शिकार के समय दोनों को रेंगना पड़ता है। वर्मा जी लिखते हैं—"ऊँची छतियाँ पत्थरों और करघई के मोटे काँटों से टकरा-टकरा जा रही थीं, परन्तु मानो उनमें पत्थरों और काँटों से भी लड़जाने की दम हो।" यहाँ 'ऊँची छातियाँ' शब्द साभिप्राय है। इसके स्थान पर उरोज-कुच लिखने से सभी कूड़ा हो जाता, शिकार में शौर्य के स्थान पर लेखक शृंगार का चित्रण कर बैठता। पशुता की पर्याय बघर्रा में शौर्य की उद्धतता तथा आश्चर्यानुप्राणित करने वाली भोजन-भोगता है—ये इतिहास सम्मत होते हुए भी रोमांस की प्रकृति लिए हुए है। सारतः 'मृगनयनी' की विशेषता यह है कि इसमें रोमांस की सरसता तो है किन्तु अस्वाभाविक असम्भव तत्त्वों का समावेश नहीं। न ऐतिहासिकता विकृत हुई है न महत् उद्देश्य की गरिमा में गिरावट आई है।

देशकाल के चित्रण में वर्मा जी पूर्ण सफल रहे हैं; १५वीं शताब्दी की राजनैतिक गतिविधि का इसमें व्यापक चित्रण हुआ है। ग़यासुद्दीन, नासिरुद्दीन, बघर्रा और सिकन्दर मिलकर मुसलमान सामन्तों का पूरा इतिहास ही प्रस्तुत कर देते हैं। मुसलमान सामन्त जिन प्रेरणाओं से युद्ध करते थे, उनकी असीम उच्छृंखल विलासिता जो कारनामे करती

थी, बेटे तक बाप को ज़हर देकर जैसे राज्य पाते थे, और मज़हब या मौलवियों के आतंक में राजनीति जैसा भीषण रूप लेती थी, इस सबका पूरा चित्र सामने आ जाता है। यदि कथा-विधान की दृष्टि से देखा जाए तो नासिरुद्दीन तथा बघर्रा के कथासूत्र व्यर्थ जान पड़ते हैं किन्तु तत्कालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के निर्माण में इनका योग स्पष्ट है। इस दृष्टि से वर्मा जी ने कथा-संगठन की अपेक्षा देशकाल या इतिहास का विचार अधिक रखा है। ऐसा होने से वर्मा जी पर यह आक्षेप हो सकता है कि वे कथा की एकसूत्रता तथा इतिहास-सम्मतता का समन्वित निर्वाह करने में सफल नहीं हो सके।

राजपूतों के मानमूलक क्षुद्र स्वार्थ, चारणों की स्फूर्तिप्रद प्रशस्तियाँ, गौरव के लिए मर मिटने का उत्साह आदि का भी सफल चित्र मिलता है। हिन्दू सामन्त उस समय आत्म रक्षा में ही प्रवृत्त थे। मानसिंह के रूप में एक आदर्श हिन्दू सामन्त का चित्रण हुआ है।

इस उपन्यास की महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि इसमें हिन्दू-मुसलमान सामन्त का ही चित्र नहीं मिलता, समाज का भी पूरा चित्र मिलता है। बार बार होने वाले युद्धों के फलस्वरूप, राजनैतिक अस्त व्यस्तता के कारण, जनताकी जो शोचनीय अवस्था हो जाती थी वह राई गाँव के चित्रण से स्पष्ट हुई है। उनकी आर्थिक विकृति इसी से लक्षित हो जाती है कि होली मनाने के लिए वे सिन्दूर-गुलाल तक की व्यवस्था में असमर्थ रहते हैं। गाँव की प्रकृति, गाँव के उत्सवों तथा ग्रामीणों की सामाजिक-धार्मिक रूढ़ धारणाओं सभी का सर्वांग चित्रण हुआ है। राई गाँव के ऐसे चित्रण से वर्मा जी को देशकाल में लोक तत्त्व की अभिव्यक्ति में पूरी सफलता मिली है। नगर में मज़दूरों का चित्रण भी हुआ है। धार्मिक-सामाजिक मतभेदों तथा वाद-विवादों का चित्रण भी सविस्तार हुआ है। यही नहीं कलाओं में प्रचलित शैलियों का परिचय भी मिलता है। भाषा शैली में प्रादेशिक रंगत बुन्देलखण्डीय वातावरण के चित्रण में सहायक हुई है। सारतः राजनैतिक, आर्थिक,

सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा कलात्मक परिस्थितियों के चित्रण से उस काल का सजीव पुनर्निर्माण हो उठा है।

मृगनयनी के 'उद्देश्य' में हम स्पष्ट कर आए हैं कि उस काल का चित्रण करते हुए भी वर्मा जी ने सामयिक युगधर्म का पूर्ण पालन किया है। सामन्ती व्यवस्था के पूर्ण चित्रण के साथ युगीन जनवादी प्रगतिशील दृष्टि का निर्वाह, तत्कालीन स्वर्ग-नरक की कल्पनाओं में भी जीवन-सौंदर्य तथा कर्मण्यता का सन्देश, युद्धग्रस्त वातावरण में भी कलात्मक सुरुचि के स्तम्भ-निर्माण तथा हिन्दूओं की उदारता और मुसलमानों की मजहबी कट्टरता-क्रूरता का—ऐतिहासिक प्रतिबन्ध के कारण—परिचय देकर भी जातीय घृणा से बचाए रखने के श्लाघनीय प्रयत्न में उनका अद्भुत कौशल व्यक्त हुआ है।

इस उपन्यास की प्रथम मौलिकता इसमें है कि यहाँ इतिहास के ऐसे कालखंड तथा पात्रों को मूर्त्त किया गया है जो अभी तक साहित्य का विषय नहीं बने थे। दूसरी मौलिकता कला-कर्त्तव्य के समन्वय सम्बन्धी प्रतिपाद्य के चुनाव में है। फिर भी कला-कर्त्तव्य के सामंजस्य की व्याख्या में अपेक्षित गहराई नहीं आ सकी। दूसरे इस उद्देश्य के प्रतिपादन में लेखक जितना सचेष्ट है उतना उपन्यास की कथा-परिणति से ध्वनित नहीं होता। इसका स्पष्टीकरण हम 'मृगनयनी के उद्देश्य' में कर आए हैं। इतना और कह दें कि उपन्यास की कथा माँग करती है कि कर्त्तव्य की आवश्यकता अधिक है किन्तु लेखक अपनी अतिरिक्त चेतना से कला-कर्त्तव्य के समन्वय पर बल देता रहता है। निहालसिंह, बोधन, अटल-लाखी वीरगति को प्राप्त हुए—पहले दो को तो बिना कारण वध किया गया है, नरवर का किला हाथ से चला गया; राज्य की सीमाएँ अभी तक सुरक्षित नहीं हुई और अन्त में भी लाखी की मोतियों की माला 'प्रजा के सुख और देश की स्वाधीनता की' ओर संकेत कर रही है, फिर भी उपन्यासकार यही कहलवाये जा रहा है कि कला-कर्त्तव्य का समन्वय इस कसर को पूरा करेगा। इस त्रुटि की ओर

ध्यान न जाता यदि कथा से कला की माँग का पक्ष भी उतना ही प्रबल रहता। किन्तु यहाँ कथा, कर्त्तव्य की ओर संकेत करती है और लेखक कला-कर्त्तव्य के समन्वय पर बल देता रहता है। ऐसा दिखाई देता है कि लेखक ने समझ लिया है कि एक बात को बार-बार दुहराने से काम चल जाएगा। जो बात कथा व्यञ्जित नहीं कर सकती थी उसको कुछ सीमा तक कला-कर्त्तव्य के समन्वय विषयक गहन विचारों से पूरा किया जा सकता था, किन्तु इस दिशा में हमें संतोष नहीं होता। लेखक इस सामञ्जस्य के भीतरी मनोवैज्ञानिक धरातल पर कम पहुँचा है। वह संकल्प, भावना आदि का नाम लेकर रह गया है।

मृगनयनी की तीसरी तथा विशिष्ट मौलिकता स्थापत्य कला को महत्त्व देने में है। इस सम्बन्ध में डा० सत्येन्द्र लिखते हैं—"मृगनयनी के सम्बन्ध में सब से विशिष्ट बात यह है कि यह हिन्दी साहित्य में पहला उपन्यास है जिसमें स्थापत्य कला के मूर्त्त अभिप्रायों की प्रेरणा के मूल में जीवन-स्रोत का सरस सिंचन ऐसी मनोहरता से प्रवाहित हुआ है, जिसके जड़ स्थापत्य में संगीत की तरल-लहरियों को ही उत्कीर्ण नहीं किया, उन्हें नृत्य और चित्र में भी अनूदित किया गया है।"*

मृगनयनी में स्थापत्य कला के महत्त्व के सम्बन्ध में प्रश्न बाद में उठता है, पहले यही जाँच अपेक्षित है कि स्थापत्य कला, कला है भी या नहीं? हिन्दी में साहित्यालोचन की सभी पुस्तकों में पाँच ललित कलाओं में स्थापत्य कला को भी स्वीकार किया गया है। पहले पहल डा० श्यामसुन्दर दास ने हेगिल के विवेचन के आधार पर कलाओं का वर्गीकरण किया और बाद में यही प्रायः अन्य पुस्तकों में स्वीकृत हो गया। यथा, बाबू गुलाबराय के अनुसार—"जिस कला में बाह्य सामग्री का प्रयोग जितना कम हो और आत्मा के भावों की अभिव्यक्ति जितनी अधिक हो उस अंश में वही श्रेष्ठ कला है। इस दृष्टि से सबसे नीचे वस्तु कला है। उसमें सामग्री का आधिक्य रहता है और भावों

---

* मृगनयनीः कला और कृतित्व, पृ० १३०-३१

की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत कम होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर मूर्ति कला, चित्रकला, संगीत और काव्य में बाह्य सामग्री कम होती जाती है और भावाभिव्यक्ति का आधिक्य होता है।[१] पं० रामदहन मिश्र भी ललित कलाओं में स्थापत्य या वास्तु कला की गणना करते है किन्तु यहाँ उस पर किंचित शंका बढ़ गई दिखाई देती है—"वास्तु कला वा शिल्पकला स्थूल कला है पर यह नहीं कहा जा सकता कि इसमे भावनाओं का अभाव होता है। रूपों में जो अभिव्यक्ति होती है वह तो भावना ही है।"[२] वस्तुतः यहाँ 'वास्तुकला वा शिल्प (मूर्ति) कला' दोनों के लिए कहा गया है। यदि केवल वास्तुकला के लिए कहना होता तो मिश्र जी को कुछ अधिक सोचना पड़ता। कुछ पाश्चात्य आचार्यों, अरस्तु, प्लेटो ने वास्तुकला को कला नहीं माना।† हिन्दी की काव्य शास्त्रीय पुस्तकें इनके मतों का उल्लेख नहीं करतीं।

---

[१]'सिद्धान्त और अध्ययन' (१९५१ संस्करण) पृ० ३९

[२]काव्य दर्पण (तृतीय संस्करण) पृ० २९

†His (Aristotle's) ommision of architecture from the list of fine arts may also cause surprise to modern readers ;for here, as in sculpture, the artistic greatness of Greece stands undisputed. In this, however, he is merely following the usage of his countrymen who reckoned architecture among the useful arts. It was linked to the practical world. It sprang out of the needs of civic and religious life, and the greatest triumphs of the art were connected with public faith and worship.

("Aristotle's theory of poetry and fine art'; Fourth edition, S.H. Bustcher, p.: 148) (शेष आगे)

अरस्तु का अनुकरण सिद्धांत स्थापत्य कला पर चरितार्थ नहीं होता क्योंकि इससे भावाभिव्यक्ति सम्भव नहीं। गुलाबराय जी लिखते हैं— "वास्तुकला को किसी अंग्रेजी लेखक ने जमा हुआ संगीत (Frozen music) कहा है। संगीत की भाँति वास्तुकला की भी भाषा सार्वजनिक है। यदि उसमें गहराई की कमी है तो व्यापकता का आधिक्य है। ताज के सौन्दर्य से सभी लोग प्रभावित होते हैं। वास्तुकला में मानव की आकृति न रहते हुए भी वह मानवी भावों की द्योतक होती है। मूर्ति और चित्र में भावों के साथ आकृति भी रहती है।"* गुलाबराय जी को बात समझ में आ गई है कि वास्तुकला का अन्य कलाओं से यह भेद है कि इसमें अन्य कलाओं की तरह आकृति नहीं होती। पर 'वास्तुकला आकृति के बिना भी मानवी भावों की द्योतक होती है', इसका स्पष्टी-

---

Be the origin of architecture what it may, it is certain that the Greeks did not find its primitive type and model in the outward universe. A building as an organic whole did not call up any image of world outside itself, though the method of architecture does remind Aristotle of the structural method of nature. Even if architecture had seemed to him to reproduce the appearance of the physical universe it would not have satisfied his idea of artistic imitation; for all the arts imitate human life in some of its manifestations and imitate material objects only so far as these serve to interpret spiritual and mental processes. (pp: 149)

*सिद्धान्त और अध्ययन (पृ० ३६)

करण उन्होंने नहीं किया। अवश्य ही ताजमहल अपने असीम सौंदर्य से प्रभावित करता है पर लुहार, बढ़ई आदि की सुन्दर चीजें भी प्रभावित करती हैं। सुन्दर भवनों या अन्य सुन्दर वस्तुओं में, सामग्री के न्यास, अनुपात, अनुक्रम, आकार, औचित्य आदि के कारण सौन्दर्य होता है। भावाभिव्यक्ति का सौंदर्य नहीं। 'मृगनयनी' में आचार्य विजय कायक श्रम पर बल देता है। वह मानसिंह से कहता है—"उसको भवन निर्माण में कैसे व्यस्त किया जायगा ?"

मानसिंह—"उसकी विशालता से कायक धर्म का मर्म प्रकट हो जावेगा।"

विजय—"उसकी विशालता, देखने वालों को आतंकित न करेगी?"

"सौन्दर्य की विशालता सीधे लम्बे ताड़ वृक्ष की जैसी विशालता नहीं।"

"देखने वाले को जीवन में श्रम को गौरव का पद देने की प्रेरणा भी मिलेगी क्या उसके सौन्दर्य से ?"

"चाहता तो हूँ कि हम सब और आगे आने वाले लोग भी उसको देख-देखकर आल्हादित हों, गाने के लिए लहरा उठें और उस लहर से कर्मठ बनने की स्फूर्ति और शक्ति को पाकर जीवन को अपने श्रम से भर दें।"

"सोचूँगा किस प्रकार यह कल्पना पत्थरों की योजना द्वारा प्रकट हो सकेगी, आप तो सोच ही रहे हैं।" (३३८-३९)

विजय का मानसिंह से उक्त प्रश्न, मृगनयनीकार से हमारा प्रश्न भी है। वर्मा जी ने इसे सुलझा लिया है और उन्होंने बैजू बावरा जैसे संगीतज्ञ को भी स्थापत्य से प्रेरणा दिलवा दी है, जो हमें नहीं जँचती। देखिए—"फिर उसने वीणा के ऊपर उन्हीं तानों को उतारने का प्रयास किया। कई बार असफल हुआ। वीणा को एक तरफ रखकर झरोखे से मान-मन्दिर की एक कोर को देखने लगा। कँगूरों के नीचे पत्थरों में बनी हुई बन्दनवारों की उमेठी और मुरकी हुई बेलों के बीच में चौकोर झिझिरियाँ और सूँड उठाये हुए हाथी पर रिपटी हुई रवि-रश्मियों पर

आँख जम गई। एकाध क्षण पीछे पत्थरों की जालियों में बने पुष्पों और हंसों पर जा अटकी।

"अरे! यह मन्दिर भी टोड़ी की इसी तान को ले रहा है! वीणा पर तान और गमक अब यों निकल आवेगी।' वह उल्लास के साथ बोला।" (४२)

ताजमहल हमें भावाभिव्यक्ति करता जान पड़ता है क्योंकि हमें इसका मार्मिक इतिहास ज्ञात है। भारत के जिन कलात्मक मन्दिरों की बात की जाती है वे वास्तुकला से नहीं अपनी अन्य कलाओं से—उन में बनी मूर्तियों और चित्रों के माध्यम से— भावाभिव्यक्ति करते जान पड़ते हैं। वर्मा जी की स्थापत्य कला की चर्चा में भी यही बात देखी जा सकती है। बैजू बावरा ने स्थापत्य के जिस भाग से प्रेरणा ली वहाँ भी पशु-पक्षियों की आकृतियाँ हैं। तैल मन्दिर में भी मूर्तियों का आश्रय लिया गया है। "मन्दिर के चारों ओर गणेश और मयूरगामी कार्तिकेय की मूर्तियाँ भी हैं।" (३३७)

मानसिंह जिन भावों को स्थापत्य में मूर्त्त करना चाहता है वह भवन से अभिव्यक्त नहीं हो सकते, मात्र लेखक के द्वारा वर्णित ही हो सकते हैं। मानसिंह मृगनयनी से कहता है—"जिस समय, भाँवर पड़ने की घड़ी, मुकुट बाँधे, हरे-हरे पत्तों के लता-वितान वाले मण्डप के नीचे तुम उस आँगन में आईं—वह छवि, मान-मन्दिर का द्वार उस घड़ी की छवि को मूर्त्त करेगा। ......ऐसे बड़े और छोटे द्वार बनाऊँगा जिनमें होकर आने वाला प्रकाश तुम्हारी हँसी और मुस्कानों को व्यक्त करे। तुम्हारे केश-कुन्तल, कपोलों की दोनों ओर छूट-छूट जाने वाली लटें उन द्वारों की बन्दनवारी सजावटों में उतर आयेंगी। तुम्हारी मुस्कानों के पीछे जो मोती से दमक जाते हैं वे बेलबूटेदार झिझिरियों की आभा द्वारा व्यक्त हो जायेंगे। ऊपर के खण्ड के आँगन मे निकली हुई गोखें, बारजें और उनकी पतली सुहावनी बड़ेरियाँ तुम्हारी चितवन और भौंहों

को प्रकट करती रहेंगी···बाहर की विशालता और भीतर का सौन्दर्य हमारी तुम्हारी उपासना और विष्णु की आराधना को मूर्त करेगी ।"

हम स्थापत्य पर अपने भावों का आरोप करके उससे अभिव्यक्त होता हुआ चाहे जो जान लें, वैसे वह किसी सुन्दरी के इन सब हाव-भावों या छवियों को उतारने में समर्थ नहीं हो सकता । स्थापत्य पर मूर्ति और चित्रकला आदि का आश्रय लेकर ही यह सम्भव है, वैसे नहीं । सारतः स्थापत्य अपने आप में पूर्ण कला नहीं ।

अन्य कलाओं में कलाकार स्वयं आत्माभिव्यक्ति करता है, स्थापत्य में उसे किसी माध्यम का आश्रय लेना पड़ता है । कोई मूर्तिकार या चित्रकार स्वयं मूर्ति या चित्र निर्मित करता है किन्तु स्थापत्यकार प्रेरणा दे सकता है, या अधिक से अधिक अनेक भवन-निर्माता कारीगरों के साथ वह भी एक हो सकता है; अतएव यहाँ अनुभूति second hand हो जाती है । वृन्दावनलाल वर्मा को इस बात का ध्यान था इसलिए एक विशेष प्रसंग में उन्होंने इसके स्पष्टीकरण का प्रयास किया है । देखिये—

मानसिंह—"मैं तो टाँकी-हथौड़े की कविता और संगीत के ताल और ज्ञान को मूर्त करना चाहता हूँ इस भवन में । किन उपादानों और साधनों से हों, यह आप सरीखे विद्वान बतलावें; मैं भी कुछ सोच रहा हूँ परन्तु निर्णय नहीं कर पाया हूँ ।"

विजयजंगम—'शिल्पी और कारीगर बतलावेंगे यहाँ के ?'

मानसिंह—'शिल्पी और कारीगर निर्माण कला के शब्द और व्याकरण हैं । उनकी योजना, शब्दन्यास, पदलालित्य और अनुपात को कविता तथा मंजुल-मंगल की फुरफुरी देना हमारा आपका काम है ।' (३३८)

यही second hand अनुभूति मृगनयनी-मानसिंह के निम्न वार्तालाप से भी स्पष्ट है:—मृगनयनी ने कहा "बहुत ललित और सुन्दर है । आपकी कल्पना में जो कविता रही है वह मानमन्दिर में अपने पूरे वैभव और शृंगार के साथ आ बैठी ।"

मानसिंह—'मेरी कविता नहीं तुम्हारी कविता। और कारीगरों के ध्यान की कविता। मेरे शब्द कारीगरों को जो सूझ नही दे सके उसको तुम्हारे दिये हुए मेरे भाव ने उनको दिया। कारीगरों ने योग साधा, उनके ध्यान में वह भाव मूर्त हुआ और टाँकी हथौड़े ने तुम्हारी कविता और मेरे भाव को पत्थरों में उतार कर बसा दिया।" (४०८-४०९)

कलाओं के अनुकरण सिद्धांत के चरितार्थ न हो सकने की कठिनाई उपर्युक्त वार्तालापों में स्पष्ट है।

मृगनयनी का महत्त्व इसमें है कि इसमे काव्य को छोड़ इतर कलाओं—मूर्ति, चित्र, संगीत को पहली बार इतना स्थान मिला है। साथ ही यह बात भी स्पष्ट होती है कि अन्य कलाओं के संयोग से स्थापत्य भी कलात्मक रूप में खिल सकती है। 'मृगनयनी' में इन कलाओं तथा कलाकारों के सिद्धान्त पक्ष तथा गुणों की भी जो चर्चा हुई है वह युक्ति संगत होने से उपन्यास के कलात्मक वातावरण को तार्किक संगति प्रदान करती है अतएव महत्त्वपूर्ण है। स्थापत्य कला (?) विषयक वर्मा जी के कुछ विचारों से हम परिचित हो चुके हैं, मृगनयनी और मानसिंह में मूर्तिकला के विषय में निम्न वार्तालाप भी स्वाभाविक-संगत है—

"......सुना है किसी कलाकार ने चन्देरी के निकटवर्ती देवगढ़ में विष्णुगढ़ की प्रतिमा को ऐसी मुस्कान दी है कि देखने वालों के विकारों को शान्त करके शक्ति के साथ ध्यान को एकाग्र कर देती है। क्या कभी उस मूर्ति के दर्शन कर सकूँगी?...अपने यहाँ के कलावन्त कारीगर नहीं ला सकते उस मुस्कान को वहाँ से आपने हृदय की गाँठों में बाँधकर?"

"कदाचित ला सकें। कलाकार के भीतर पूरी उपासना, आस्था, श्रद्धा और भक्ति, योग द्वारा जाग पड़ें, तभी वह उस वरद मुस्कान को टाँकी-हथोड़े के द्वारा पत्थर में उकसा कर पिरो सकता है।" (३८९)

गूजरी टोड़ी, मंगल गूजरी आदि रागों का किस प्रकार आविर्भाव हुआ यह भी संगीतशास्त्रानुमोदित है।

आभूषणों के सम्बन्ध में मानसिह का कथन है 'सिघाई पर आभूषण और आभूषणों के भीतर सिघाई।' (३६२)

मृगनयनी के कथा विधान में अनेक त्रुटियाँ हैं। 'मृगनयनी' पढ़ लेने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि मृगनयनी सम्बन्धी जीवनी का क्षेत्र संकुचित था। इसलिए वर्मा जी को लाखी-अटल के कथानक तथा ग़ियासुद्दीन, नासिरुद्दीन, बघर्रा आदि के कथासूत्रों के विस्तार से काम चलाना पड़ा है। मृगनयनी की अपेक्षा लाखी-अटल की कथा अधिक मार्मिक हो गई है। विवाह-पूर्व लाखी की अपेक्षा मृगनयनी का शौर्य अधिक खिलता है किन्तु बाद में लेखक की कल्पना ने लाखी की वीरता को जो घटनात्मक उत्कर्ष दिया है वह मृगनयनी को नहीं मिल सका। मृगनयनी का शौर्य मानसिक होकर रह गया है। आपत्ति इस बात पर नहीं कि अटल-लाखी के कथानक में मार्मिकता क्यों आई, वरन इस बात पर है कि मृगनयनी के कथानक में लाखी के समतुल्य कोई मार्मिक कल्पना क्यों न की जा सकी? ऐसा आवश्यक था क्योंकि मृगनयनी की कथा मुख्य है और लाखी की प्रासंगिक। प्रासंगिक कथा में एक 'कथावस्तु' के तत्त्व—तारतम्य, विरोध, कौतूहल आदि—मुख्य कथा से अधिक हैं।

आलोचकों को मृगनयनी के कथासूत्र में एक च्युति दिखाई दी है कि लाखी की नटकला सिखाने के लिए वर्मा जी ने इतना समय व्यर्थ नष्ट किया है। उनका तर्क है कि लेखक लाखी की इस कुशलता का बाद में उपयोग नहीं कर सका—'यह अनुमान किया जा सकता है कि पहली कल्पना में लेखक लाखी के द्वारा नरवर के घेरे के अवसर पर पत्रादि ले जाने का कार्य कराना चाहता था, बाद में उसने अपना यह विचार बदल दिया' * या 'लेखक के मस्तिष्क में यह बात पहले से थी कि उसे (लाखी को) नरवर के किले से रस्से पर चढ़ा कर निकालना होगा,

* डा० सत्येन्द्र, 'मृगनयनी: कला और कृतित्व' पृ० ५८

जिसके लिए पहले से ही अभ्यास करा लेना आवश्यक है, परन्तु जब समय आया तो बात ध्यान से हट गई। रस्से का प्रसंग तो आया और 'लाखी' ने उसे काटकर 'पिल्ली' की जान भी ले ली परन्तु लेखक पूर्व प्रसंग की यथार्थता की रक्षा करने के लिए उसे रस्से पर चढ़ने का अवसर नहीं दे पाया।'†

हम उक्त दोनों मतों से सहमत नही हैं, क्योंकि वर्मा जी ने लाखी के नटकौशल का उपयोग किया है। लाखी की योजना सफल न हो पाती यदि वह नट वर्ग में यह विश्वास न उत्पन्न कर सकती कि वह रस्सी के काम में इतनी कुशल है कि नटवर्ग के जाने के बाद वह अटल को साथ लिए रस्सी पर नटवर्ग का सफलता से अनुकरण कर सकती है। पिल्ली का अनुरोध था कि पोटा के जाने के बाद लाखी जाए और सबसे अन्त में रस्सी-कार्य-कुशल वह रस्सी-कार्य-अनभिज्ञ अटल को लिए हुए किले से उतरे। पर लाखी अपनी योजनानुसार 'दृढ़ता से' कहती है: 'मैं तो जानती रस्सी का काम अन्त में अटल को लेती आऊँगी साथ।' (२८६)

'मृगनयनी' उपन्यास के कथा-विधान में त्रुटि की चर्चा करते हुए डा० सत्येन्द्र लिखते हैं—"उपन्यास में आये विविध पात्रों का उपन्यासकार कैसा उपयोग करता है यह एक महत्त्वपूर्ण बात होती है। प्रत्येक कार्य प्रत्येक पात्र नहीं कर सकता। पात्र के स्वभाव के अनुकूल ही उसका कार्य होना चाहिए अथवा प्रत्येक कार्य के लिए उचित कारण हो सकना चाहिए। ऐसे अनौचित्य इस उपन्यास में कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होते हैं जैसे मृगनयनी का सुमनमोहिनी के आभूषणों को छिपा देना। लेखक मनोविश्लेषण का ज्ञाता है उसके आभूषण को मृगनयनी की मनोवस्था के प्रतीक के रूप में उसने प्रस्तुत किया है; पर उस छिपाने के दिखाने न दिखाने से कोई हानि अथवा बाधा नहीं थी। न तो मृगनयनी का चरित्र इतना दिव्य है कि उसको मानवीय धरातल पर लाने के लिए उसके द्वारा

---

† त्रिभुवनसिंह, 'हिन्दी उपन्यासकार और यथार्थवाद' पृ० १५४

कोई अशोभनीय काम कराया जाय।"* पर अन्यत्र डा० सत्येन्द्र ने ही आभूषण छिपाने की सार्थकता स्पष्ट कर दी है—"...अन्तर्व्यास कला की शक्ति कलुष पर धीरे-धीरे विजयिनी होती है। सुमन मोहिनी के आभूषण को लौटाने का साहस उसी कला की विजय का प्रथम संकेत है।"† अतएव डा० सत्येन्द्र की उक्ति के सिद्धान्त पक्ष से तो हम सहमत हैं पर 'मृगनयनी' पर उनके आक्षेप से नहीं; क्योंकि दूसरी उक्ति में स्वयं उन्होने अपनी पहली उक्ति का खंडन कर दिया है और यही ठीक है। उक्त सिद्धान्त के अनुसार डा० साहब के इस कथन से हम सहमत हैं कि बैजू बावरा के द्वारा कला के षड्यंत्र का भण्डाफोड़ समुचित नहीं माना जा सकता।"‡

उपन्यासकार को भी प्रबन्धकाव्यकार के समान मार्मिक स्थलों की पहचान होनी चाहिए। विभिन्न प्रसंगों का अपना-अपना महत्त्व होता है और उपन्यास में इनकी महत्ता के अनुकूल यथार्थ प्रभाव पड़ना भी आवश्यक है। लाखी-अटल की वीर मृत्यु (४६५-६६-६६), नरवर बचाने के अवसर पर लाखी के गले में राजा का पुरस्कार का हार डालना (२६६), मानसिंह का मृगनयनी को प्रणय-निवेदन (१६६) आदि स्थल मार्मिक हैं, अभीष्ट प्रभाव डालते हैं, किन्तु वर्मा जी सिकन्दर द्वारा निहालसिंह तथा बोधन पुजारी के वध का यथार्थ प्रभाव डालने में अक्षम रहे हैं।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से वर्मा जी सफल नहीं कहे जा सकते। इस सम्बन्ध में डा० सत्येन्द्र का कथन उल्लेखनीय है—"उपन्यासकार ने महती संभावनाओं के बीजारोपण करके अपने चरित्रों को स्वाभाविक रूप से विकसित नहीं होने दिया, उन्हें बौना कर दिया है। हम यह भी देख सकते हैं कि इन चरित्रों के स्वाभाविक विकास में इतिहास बाधक

* मृगनयनी : कला और कृतित्व (पृ० ५८-५६)

† वही पृ० ७७

‡ वही पृ० ५६

नहीं हो सकता था, केवल उपन्यासकार की अपनी धारणा और उसका अपने व्यक्तित्व का आतंक ही इसमें बाधक हुआ है।†

"मानसिंह···का जो रूप इतिहास के संकेतों से खड़ा होता है, वर्मा जी ने उसे बौना कर दिया है। सिकन्दर के पहले आक्रमण के पश्चात् वह धनुर्विद्या में हमें नौसिखुआ-सा लगता है। मृगनयनी के शौर्य के समक्ष हतप्रभ, उसकी मंत्रणा के समक्ष दीन, बोधन के समक्ष असमर्थ, विजय जंगम के समक्ष प्रेरणारहित-कुंठित, सुमन मोहिनी के समक्ष व्यस्त, मृगनयनी की कला के समक्ष मुग्ध, मृगनयनी के संकल्पों के समक्ष जड़, यहाँ तक कि अपने लिए प्राण न्योछावर करने वाले के प्रति वह कृतघ्न भी है; निहालसिंह की बलि का वह उचित सम्मान नहीं कर सका। न राजनीति में हम उसका चमत्कार देख पाते हैं, न उसमें उचित सतर्कता पाते हैं—तीन बार महलों में मृगनयनी को विष देने का षड़यंत्र हुआ और एक बार भी उसे भेद नहीं मिल सका, नरवर आदि पर होने वाली चढ़ाई का वृत्त भी वह अपनी ओर से नहीं जान पाता फलतः मानसिंह के व्यक्तित्व का यथावत विकास नहीं हो सका।"*

यही अवस्था प्रायः अन्य पात्रों की भी है; पात्र जैसे लेखक के आदर्शों के अनुसार निर्मित निश्चित प्रतिमाएँ हैं। उनमें स्थापत्य है, संगीत नहीं; सुगढ़न है, स्पन्दन नहीं। उनके आकार के बाह्य रेखाचित्र विशेष सुन्दर हैं पर अन्तर जैसे विलुप्त हो गया है। वर्मा जी के अधिकांश चित्र एकांगी हैं—उनके निश्चित उद्देश्यों को पूरा करने वाले। उनमें मानवोचित द्वन्द्व नहीं। कोई विलासी है तो वज्र विलासी है, वहाँ संयम का द्वन्द्व नहीं और कोई संयमी है तो सम्पूर्ण संयमी है वहाँ वासना का चांचल्य नहीं। और ये निर्द्वन्द्वता भी लाखी की स्वाभाविक निर्द्वन्द्वता नहीं, रानी मृगनयनी की आरोपित निर्द्वन्द्वता है। हमारा

† 'मृगनयनी : कला और कृतित्व' पृ० १०९

* डा० सत्येन्द्र, 'मृगनयनी : कला और कृतित्व' पृ० १०८

विरोध आदर्श चरित्रों से नहीं चित्रण की आदर्शात्मकता से है। आदर्श पात्रों का भी यथार्थ—संतुलित-मनोवैज्ञानिक—चित्रण हो सकता है। 'मृगनयनी' में इसकी कमी खटकती है।

लाखी के चरित्र-चित्रण में लेखक अपेक्षाकृत अधिक सफल है। कला का चरित्र अस्पष्ट ही नहीं, असंगत भी है। हमारा यह आशय नही कि एक कलावती में क्षुद्रता हो ही नहीं सकती। उसके चित्रांकन की रेखाएँ अपर्याप्त हैं, अतएव उसके चरित्र की विषमता स्पष्ट नही हो पाती।

मुसलमानों में, मानसिंह के सर्वाधिक युद्ध सिकन्दर से हुए, वही उसका प्रमुख शत्रु है। किन्तु यह विचित्र बात है कि अन्य मुसलमानों का तो अतिरंजित चित्रण हुआ है पर सिकन्दर का चरित्र-चित्रण ही नहीं हुआ।

कथोपकथन पात्रानुकूल तथा स्वाभाविक हैं। उनकी नाटकीयता प्रशंसनीय है। निन्नी-लाखी की नोक-झोंक, मटरू की चाटुकारिता, ग़यास की सुरा के सरूर में नाज़ुक बयानियाँ तथा मुल्लाओं पर व्यंग्योक्तियाँ, सुमन मोहिनी की कण्टकोक्तियाँ, मृगनयनी-मानसिंह के प्रथम मिलन पर इन दोनों तथा लाखी के संलाप में अपना-अपना सौन्दर्य है।* उक्त संलाप में वर्मा जी के सुन्दर कथोपकथनों की सभी विशेषताएँ—अवसरानुकूलता, पात्रानुकूलता, नाटकीयता, हार्दिकता,—मिल जाएँगी। 'मृगनयनी' के कथोपकथनों मे उक्त गुण होते हुए भी, उनमें इतना सौन्दर्य नहीं कि ये उपन्यास की विशिष्टता कहे जा सकते हों।

वर्मा जी की भाषा-शैली साधारण है। वे प्रेमचन्द, प्रसाद, जैनेन्द्र अज्ञेय आदि के समान शैलीकार नहीं। उपन्यास में भाषा-शैली का भी अपना सौन्दर्य हो सकता है जो वर्मा जी में नही। 'मृगनयनी' में जिस कलात्मक वातावरण का सृजन किया गया है, लेखक की शैली उस कलात्मक स्तर पर नहीं पहुँच सकी। वर्मा जी की शैली में अपेक्षित कवित्व की कमी है। आलोचकों ने उनकी भाषा में शब्द-भंडार की

*देखिए 'मृगनयनी' पृ० १९५-१९७

कमी, अप्रचलित शब्दों का प्रयोग, वाक्य शिथिलता, व्याकरण सम्बन्धी अव्यवस्था आदि अनेक दोष देखे हैं। आलोचकों के इन निष्कर्षों से हम सहमत हैं। उन के दो शब्दों को एक साथ प्रयोग कर कथन को बलशाली बनाने की प्रवृत्ति की भी आलोचना हुई है। हम इसके आगे कुछ और कहना चाहते हैं। वर्मा जी का यह मोह उनकी अपनी शैली तक ही सीमित नहीं, ये दोहरे शब्द सभी पात्रों से भी बार-बार कहलवाए गए हैं। अधिक उद्धरण 'लिख-लिख कर' हम पाठकों को परेशान नहीं करेंगे, ये कुछ ही पर्याप्त होंगे—

"······सूखे पत्ते उड़-उड़ कर निन्नी के तपे हुए गोरे और लाखी के साँवले गालों पर पड़-पड़ जा रहे थे।' (४९) 'ऊँची छातियाँ पत्थरों और करघई के मोटे काँटों से टकरा-टकरा जा रही थीं······करघई की टेढ़ी-मेढ़ी डालें सिर से बाँधी हुई ओढ़नी में अटक-अटक जा रही थीं, गोरी सलोनी भुजाओं में काँटे खरोंचे कर-कर रक्त की पतली लीकें निकाल रहे थे।' (५१) 'झींकते-झींकते होली खेलती थी।' (४) 'पुराने स्थानों पर चौंकते-चौंकते से आ गए' (२)†

लाखी—"······वह मेरी और तुम्हारी तरफ बार-बार देख रहा था। कभी-कभी भीग-भीग कर रीझ-रीझ कर।" (२१)

मृगनयनी—"हम कलाओं को अधिक समय देंगे तो वे अवसर पाते ही अपनी वासनाओं पर उतर-उतर आयेंगे।" (४२२)

ग़यास—"रास्ते में बे-हिसाब कीचड़, बड़ी-बड़ी नदियों के पूर वग़ैरह-वग़ैरह जान खा जायेंगे।" (६९) "बिचारियों के फफोले पड़-पड़ आते होंगे।" (६८) "उस को देखते ही आप लोगों को अपनी कमी डस डस लेगी।" (७२)

अटल—"लड़की ने अपनी जान जोखों में डाल डाल कर इतना बड़ा पराक्रम किया······"(६३)

---

†'मृगनयनी' के पृ० १५ पर ऐसे शब्दों का जमघट हो गया है।

वर्मा जी ने ध्वन्यात्मक युग्मों का बड़ा प्रयोग किया है। ऐसे शब्दों में सार्थक शब्द पहले तथा निरर्थक शब्द बाद में आया करता है। किन्तु वर्मा जी ने अनेक युग्मों में इसका विचार नहीं रखा है; जैसे उर्क-तुर्क (२१७) आवरा-बावरा। (३९४) उन्होंने ध्वन्यात्मक या अनुकरणात्मक तथा दृश्यात्मक शब्दों से बहुत काम लिया है। इससे भाषा का सौन्दर्य बढ़ा हैं।

युद्ध और शिकार के वर्णनों में तो वर्मा जी अत्यंत सिद्धहस्त हैं। हमारा विश्वास है कि यदि वे शिकार सम्बन्धी अलग उपन्यास लिखें तो यह उनकी हिन्दी साहित्य को सुन्दर, नूतन तथा अद्वितीय देन होगी।

आचार्य शुक्ल की 'चिन्तामणि'

१. विचारधारा

२. वर्गीकरण

३. गद्यशैली

(पृष्ठ संदर्भादि 'चिन्तामणि', भाग १, संवत २००३ के संस्करण पर आधृत हैं)

शुक्ल जी की विचारधारा
——सिद्धान्त तथा समाज-समीक्षा

शुक्ल जी साहित्य के आलोचक ही नहीं, समाज के समीक्षक भी थे। चिन्तामणि के निबन्धों में मानव जीवन के प्रवर्त्तक अरूप भाव या मनोविकारों का विवेचन ही नहीं, जीवन के रूप का, समाज की व्यवस्था का, काल-दशा का दर्शन भी है। शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक तथा आलोचनात्मक निबन्धों का आधार मनोविज्ञान के ग्रंथ तथा सृजनात्मक साहित्य ही नहीं, प्रत्यक्ष जीवनध्ययन प्रसूत तत्त्व भी हैं। 'शब्द-काव्य की सिद्धि के लिए वस्तु काव्य का अध्ययन आवश्यक है'—उनका यह साहित्यिक सिद्धान्त, सिद्धान्त ही बन कर नहीं रह गया, जीवन का व्यवहार भी बना, विश्वास भी। निबन्धों में व्यक्तित्व-निहिति की अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्दना होने के कारण, शुक्ल जी का जीवन दर्शन यहाँ भली भाँति व्यक्त हुआ है। इन निबन्धों में निहित जीवन-सिद्धान्त उनके समग्र साहित्यिक कृतित्व को संगठित-समन्वित किए हुए हैं। अतएव इनका अध्ययन शुक्ल जी के शेष साहित्य के लिए एक ठोस भूमिका का काम दे सकता है।

परम्परा और प्रभाव

शुक्ल जी के जीवन-दृष्टिकोण तथा समाज-समीक्षा के स्वरूप को समझने के लिए उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्मायक अन्तर्बाह्य प्रभावों का किन्चित अवलोकन आवश्यक है। चिंतामणि का प्रकाशन द्विवेदी युग की संध्या में सन् १९१९ में हुआ। उस समय तक भारत में अंग्रेजों की शोषक व्यापार-नीति स्पष्ट हो चुकी थी, 'अंग्रेज राज' के भारी

'सुख साज' की पोल खुल चुकी थी। भारत की स्वतन्त्रता का आन्दोलन तीव्र से तीव्रतर होता जा रहा था। फिर भी राष्ट्र के सत्य स्वरूप का ज्ञान बहुत कम को था। दूसरी ओर अंग्रेजों की सभ्यता-संस्कृति का प्रसार भी हो चुका था। अंग्रेज राज्य को सफल बनाने में सहायक, आत्मगौरवशून्य, परानुकरण-प्रिय राज-भक्त सरकारी कर्मचारियों, विलायती भाषा-प्रवीण खुशामदी बाबुओं तथा क्रूर पुलिसमैनों का एक वर्ग भी तैयार हो चुका था। अपरिग्रह प्रधान भारतीय संस्कृति के स्थान पर अर्थ-प्रधान व्यावसायिक विदेशी संस्कृति की स्थापना हो रही थी।

धार्मिक क्षेत्र में प्राचीन वैराग्य प्रधान अध्यात्म के स्थान पर समग्र विश्व की सेवा करने वाले प्रवृत्ति प्रधान अध्यात्म की स्थापना हो चुकी थी। भक्ति के रूढ़ पूजा-अर्चना के स्थान पर श्रम पूजा का महत्त्व स्थापित हो चुका था। बुद्धिवादी प्रवृत्तियों के प्रसार के कारण प्राचीन रूढ़ियों के आगे प्रश्न चिन्ह लग चुका था तथा सभी क्षेत्रों में नाना प्रकार के पाखंडों के उत्पाटन के प्रयास हो रहे थे। मानववादी तथा जनवादी प्रवृत्तियों के फलस्वरूप पीड़ित-शोषित मानव की ओर जागरूकता बढ़ गई थी।

साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से, भारतेन्दुयुगीन निबन्धकार सामयिक भारत की सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियों की ओर विशेष जागरूक रहे। तत्कालीन भारत इन में पूर्ण पतिबिम्बित हुआ। द्विवेदी युग में यह परम्परा कुछ मंद पड़ गई। इसमें वह 'सामाजिक सजीवता' नहीं मिलती जो भारतेन्दु युगीन निबन्धकारों में थी। फिर भी स्थूल दृष्टि से कहा जा सकता है कि सामयिक भारत की दशाओं का ज्ञान कराने और उनके प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं का परिचय देने की दृष्टि से शुक्ल जी के निबन्ध पूर्व-परम्परा का विकास हैं। परन्तु इस परम्परा में शुक्ल जी का अपना योग भी स्पष्ट है द्विवेदी युग के निबन्धों को शुक्ल जी ने 'बातों के संग्रह' कहा है क्योंकि उनमें लेखकों की 'अन्तःप्रयास से निकली विचारधारा'

नहीं मिलती। † अतएव पहली बात, शुक्ल जी के निबन्ध 'संग्रह' नहीं, स्रोत हैं। ये वह 'स्थायी निबन्ध' हैं जिनकी द्विवेदी युग में कमी थी। दूसरे, गम्भीर मनोवैज्ञानिक विषयों में सामाजिक-राजनैतिक प्रतिक्रियाओं का परिचय देना भी नई बात है। तीसरे, इनको अधिक व्यंजक विधि से व्यक्त किया गया है—द्विवेदी युग का स्थूल प्रचारवाद नही मिलता तथा ये प्रतिक्रियाएँ प्रायः निबन्धगत मूल विषय से सम्बन्धित रहती हैं। चौथे, ये प्रतिक्रियाएँ गहन चिन्तन तथा व्यक्तिगत विशेषता को लिए हैं।

युगीन परिस्थितियों तथा साहित्यिक परम्परा के अतिरिक्त शुक्ल जी के स्वभाव-संस्कार ने भी इनके जीवन-दर्शन को स्वरूप दिया है। इस सम्बन्ध में ये बातें उल्लेखनीय हैं—

१. राम भक्ति तथा तुलसी-प्रेम के संस्कार[1]

---

† 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृ० ५०८

[1] स्वयं शुक्ल जी लिखते हैं—"मेरे पिताजी...प्रायः रात को 'रामचरितमानस', 'रामचन्द्रिका' या भारतेन्दु जी के नाटक बड़े चित्ताकर्षक ढंग से पढ़ा करते थे।"—('आलोचक रामचन्द्र शुक्ल'—गुलाबराय, विजयेन्द्र स्नातक, पृ० ३) श्यामसुन्दरदास लिखते हैं कि बाल्यकाल में "अपनी दादी से 'रामायण' और 'सूरसागर' तथा अपने पिता से 'रामचन्द्रिका'...बड़ी रुचि से सुनते थे।" (वही पृ० ७) शुक्ल जी के पुत्र पं० केशवचन्द्र शुक्ल के अनुसार:"इन (शुक्ल जी) की माता गाना के एक पुनीत मिश्र घराने की कन्या थीं। इसी गाना के मिश्र भक्त-शिरोमणि प्रातः स्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास जी थे। इस प्रकार गोस्वामी जी पं० रामचन्द्र शुक्ल के सीधे मातुलवर्ग में आते हैं; पं० रामचन्द्र शुक्ल को अपने जीवन-काल में जितनी शक्ति तथा शान्ति गोस्वामी जी की पावन निर्मल वाणी द्वारा प्राप्त हुई उतनी उन्हें और किसी भाव-भूमि में जाकर नहीं मिली।" (वही पृ० १२)

२. जन्मभूमि प्रेम[1]

३. प्रकृति प्रेम[1]

४. स्वाभिमानी स्वभाव तथा देशभक्ति[2]

५. शुक्ल जी का कवि होना

---

[1]मृत्यु के प्रायः १॥ मास पूर्व उनका भाषण था: "यद्यपि मैं काशी में रहता हूँ और आप लोगों का यह विश्वास है कि वहाँ मरने से मुक्ति मिलती है तथापि मेरी हार्दिक इच्छा तो यही है कि जब मेरे प्राण निकलें तब मेरे सामने मिर्ज़ापुर का यही भूखंड रहे । मैं यहाँ के एक-एक नाले से परिचित हूँ—यहाँ की नदियों, काँटों, पत्थरों तथा जंगली पौधों में एक-एक को जानता हूँ ।"(१४) 'लोभ और प्रीति' निबन्ध में भी इसीसे मिलता-जुलता कथन है । 'मिर्जापुर प्रकृति की अनुपम क्रीड़ा-स्थली है ।' (वही पृ० १३)

[2]इस सम्बन्ध में उनके सुपुत्र लिखते हैं—"इनके पिताने बड़ा प्रयत्न करके इनका नाम नायब तहसीलदारी के लिए मि० Wyndhom के द्वारा, जो उस समय मिर्ज़ापुर का कलक्टर था, गवर्नमेंट में भिजवाया । पं० रामचन्द्र शुक्ल अपने पिता के साथ कई बार कलक्टर के बँगले पर गये । उस कलक्टर को प्रसन्न करने के लिए 'हूजूर' कहना परमावश्यक था । संभवतः पं० रामचन्द्र शुक्ल को भी इस अपमानजनक विधि का प्रतिपालन करना पड़ा । तदुपरान्त इनके आत्म-बल को इतनी ठेस लगी तथा इनके चित्त में इतनी ग्लानि का संचार हुआ कि चट इन्होंने अंग्रेज कर्मचारियों की नव्वाबी तथा हिन्दुस्तानियों की खुशामदी जी-हजूरी की तीव्र आलोचना Hindustan Review में अंग्रेज़ी में एक लेख 'What has India to do ?' लिखकर की । ......उस दिन से कभी सरकारी नौकरी का नाम इन्होंने नहीं लिया ।" (वही पृ० १७)

६. हिन्दी-प्रेम*

शुक्ल जी प्रवृत्तिवादी थे—जीवन में भी, साहित्य में भी। उनके जीवन और साहित्य का एक ही लक्ष्य था—शेष सृष्टि के साथ अधिक से अधिक तादात्म्य करना, अहं का अधिक से अधिक विसर्जन करना।† इसी के आलोक में उनके लोकोन्मुखी मनोविज्ञान, कर्म-भक्ति मार्ग, राम प्रेम, तुलसी प्रेम, प्रकृति प्रेम, विश्व प्रेम, अतीत प्रेम, धार्मिक उदारता तथा काव्य में भावयोग के प्रतिपादन को समझा जा सकता है।

शुक्ल जी मानव जीवन की सजीवता भावों के प्रसार में देखते हैं। उन्होंने ये भली-भाँति समझ लिया था कि मानव जीवन के प्रवर्तक इन भाव या मनोविकारों पर ही लोक-रक्षा और लोकरञ्जन की सारी व्यवस्था का ढाँचा आधारित है। (४) वस्तुतः "अन्तःकरण की जितनी वृत्तियाँ हैं उनमें से कोई निरर्थक नहीं—सबका उपयोग है।···यदि

---

*स्वयं शुक्ल जी लिखते हैं—"मेरे मुहल्ले में एक मुसलमान सबजज आ गये थे। एक दिन मेरे पिता जी खड़े-खड़े उनके साथ कुछ बातचीत कर रहे थे। बीच में मैं उधर जा निकला। पिताजी ने मेरा परिचय देते हुए कहा—"इन्हें हिन्दी का बड़ा शौक है।" चट जवाब मिला 'आपको बताने की जरूरत नहीं, मैं तो इनकी सूरत देखते ही इस बात से वाकिफ हो गया।' मेरी सूरत में ऐसी क्या बात थी ? यह इस समय नहीं कहा जा सकता ? आज से चालीस वर्ष पहले की बात है।" (वही पृ० ५)

† 'चिन्तामणि के पहले निबन्ध के अन्तिम पैरा में निष्कर्ष रूप में शुक्ल जी ने जीवन तथा काव्य के लक्ष्य की घोषणा की है कि "जब मनुष्य के सुख और आनन्द का मेल शेष प्रकृति के सुख-सौन्दर्य के साथ हो जाएगा, जब उसकी रक्षा का भाव तृण-गुल्म, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, सबकी रक्षा के भाव के साथ समन्वित हो जायगा, तब उसके अवतार का उद्देश्य पूर्ण हो जायगा और वह जगत का सच्चा प्रतिनिधि हो जायगा। काव्य योग की साधना इसी भूमि पर पहुँचने के लिए है।" (पृ० ५)

मनुष्य इनमें से किसी को निष्क्रिया के कार्य में अभ्यास डालेगा तो अपनी पूर्णता को खोएगा और अपनी स्थिति को जोखिम में डालेगा।" (३८) शुक्ल जी ने नीतिपरायण के समान कहीं लोभ-क्रोध आदि को छोड़ने को नहीं कहा। एक तो सामाजिक जीवन में इन दोनों की ज़रूरत बराबर पड़ती है (१३१) दूसरे "रागों के सम्पूर्ण दमन की अपेक्षा रागों का परिष्कार ज़्यादा काम में आने वाली बात है।" (४२) इनके दमन का प्रयास करना मनुष्य को जड़ बनाता है। अतएव शुक्लजी के अनुसार "नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाखंड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर सान नहीं चढ़ाते बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त सम्बन्ध निर्वाह पर जोर देते हैं। यदि मनोवेग न हों तो स्मृति, अनुमान बुद्धि आदि के रहते भी मनुष्य बिल्कुल जड़ है। प्रचलित सभ्यता और जीवन की कठिनता से मनुष्य अपने इन मनोवेगों को मारने और अशक्त करने पर विवश होता है, इनका पूर्ण और सच्चा निर्वाह उसके लिए कठिन होता है। और इस प्रकार उसके जीवन का स्वाद निकल जाता है। वन, नदी, पर्वत आदि को देख आनन्दित होने के लिए अब उसके हृदय में इतनी जगह नहीं। दुराचार पर उसे क्रोध या घृणा होती है पर झूठे शिष्टाचार के अनुसार उसे दुराचारी की भी मुँह पर प्रशंसा करनी पड़ती है। जीवन-निर्वाह की कठिनता से उत्पन्न स्वार्थ की शुष्क प्रेरणा के कारण उसे दूसरे के दुःख की ओर ध्यान देने, उस पर दया करने और उसके दुःख की निवृत्ति का सुख प्राप्त करने की फ़ुरसत नहीं। इस प्रकार मनुष्य दया को दबाकर केवल क्रूर आवश्यकता और कृत्रिम नियमों के अनुसार ही चलने पर विवश और कठपुतली-सा जड़ होता जाता है। उसकी आवश्यकता का नाश होता जाता है। पाखंडी लोग मनोवेगों का सच्चा निर्वाह न देख, हताश हो मुँह बनाकर कहने लगे हैं—"करुणा छोड़ो, प्रेम छोड़ो, बस हाथ-पैर हिलाओ काम करो।"

स्पष्ट है कि शुक्ल जी का लोकहित, कर्म मार्ग, मानववाद तथा मनुष्य को उसके स्वाभाविक अकृतिम रूप में देखने का आग्रह, भाव या मनोविकारों की सजीवता या प्रसार पर आश्रित है।

शुक्ल जी ज्ञान और भक्ति में, भक्ति के प्रबल समर्थक थे। क्योंकि भक्ति का स्थान मानव हृदय है—वहीं श्रद्धा और प्रेम के संयोग से इसका प्रादुर्भाव होता है—अतएव यह हृदय द्वारा अर्थात् आनन्द अनुभव करते हुए धर्म में प्रवृत्त होने का सुगम मार्ग है।(४०) दूसरे शब्दों में "भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति हैं।"(५,२०७) भक्ति में प्रवृत्ति है और ज्ञान में निवृत्ति। "ज्ञान हमारी आत्मा के तटस्थ (Transcend) स्वरूप का संकेत है; (भक्तिपूर्ण) रागात्मक हृदय उसके व्यापक (Immanent) स्वरूप का। ज्ञान ब्रह्म है तो हृदय ईश्वर है। किसी व्यक्ति या वस्तु को जानना ही वह शक्ति नहीं है, जो उस व्यक्ति या वस्तु को हमारी अन्तस्सत्ता में सम्मिलित कर दे। वह शक्ति है राग या प्रेम (२५५) ज्ञानियों ने आत्मबोध और जगद्बोध में गहरी खाई खोदी है किन्तु भावनापूर्ण भक्त हृदय जगद्बोध के साथ ही आत्मबोध की कल्पना कर सकता है। —"लोक के बीच नर में नारायण की दिव्य कला का सम्यक् दर्शन और उसके प्रति हृदय का पूर्ण निवेदन भारतीय भक्ति मार्ग में ही दिखाई पड़ा।" (२१३)

भक्त हृदय शुक्ल जी के आदर्श थे राम और आदर्श भक्त तुलसीदास। "न भक्तों के राम और कृष्ण उपदेशक थे न उनके अनन्य भक्त तुलसी और सूर।" इसी के अनुकूल शुक्ल जी 'हिन्दू धर्म' के उस 'प्राचीन भक्ति मार्ग' के प्रबल समर्थक थे जो संसार से तटस्थ रहकर शाति-सुखपूर्वक लोक व्यवहार-सम्बन्धी उपदेश देने वालों को उतना अधिक महत्त्व नहीं देता जितना संसार के भीतर घुस कर उसके व्यवहारों के बीच सात्त्विक विभूति की ज्योति जगाने वालों को देता है—यहाँ उपदेशक ईश्वर के अवतार नहीं कहे गए, कर्म सौन्दर्य संघटित करने वाले अवतार कहे गए। (४२ तथा २०१) तुलसीदास ने हृदय-मर्म को न छूने वाले 'वाक्य

ज्ञान' की अपेक्षा अनुभूति को, चरित्र कीर्तन तथा चरित्र श्रवण को, ही अधिक महत्त्व दिया जिससे जीव-कल्याण का लक्ष्य अधिक से अधिक पूरा हो सकता है। (२०१-२) वस्तुतः ज्ञान स्वयं संचार है संचारक नहीं, संचारण का कार्य हृदय पद्धति से ही सम्भव है। दूसरे राम-कृष्ण का आकर्षण उनके सिद्धांतों में नहीं, आचरण में है—व्यक्ति के चरित्र-भवन की आधार शिला उसकी भोगतृत्व पद्धति में है। तुलसीदास के आदर्श, इसी आधार पर राम के आदर्श हो सके हैं। रास के आदर्शानुकूल तुलसीदास की भक्ति किसी तटस्थता या वैराग्य का दम्भ नहीं दिखाती, लोक-मंगल की प्रेरणा द्वारा समग्र संसार से 'नेह का नाता' जोड़ती है—सारे जगत को सियाराम मय जान कर प्रणाम करता है।

शुक्ल जी भी इसी आदर्शानुकूल लोकमंगलात्मक भक्ति तथा भक्त के आदर्शों का स्पष्टीकरण करते हैं—"जब कोई राम भक्त पुत्रकलत्र, भाई-बन्धु का राग छोड़ने, कर्म पथ से मुँह मोड़ने और जगत् से नाता तोड़ने का उपदेश देता है तब मेरी समझ जवाब देने लगती है। मेरे देखने में तो वही राम भक्त-सा लगता है जो अपने पुत्र-कलत्र, भाई-बहिन माता-पिता से स्नेह का व्यवहार करता है, रास्ते में चींटियाँ बचाता चलता है, किसी प्राणी का दुःख देख आँसू बहाता हुआ रुक जाता है, किसी दीन पर निष्ठुर अत्याचार होते देख क्रोध से तिलमिलाता हुआ अत्याचारी का हाथ थामने के लिए कूद पड़ता है, बालकों की क्रीड़ा देख विनोद से पूर्ण हो जाता है, लहलहाती हुई हरियाली देख लहलहा उठता है और खिले हुए फूलों को देख खिल जाता है। जो यह सब देख 'मुझसे क्या प्रयोजन ?' कह कर विरक्त या उदासीन रहेगा—क्रोध, करुणा, स्नेह, आनन्द आदि को पास तक न फटकने देगा—उसे मैं ज्ञानी, ध्यानी, संयमी चाहे जो कहूँ भक्त कदापि न कह सकूँगा।" (९१-९२) यहाँ स्पष्ट है कि शुक्ल जी का भक्तिमार्ग भी सेवा-मार्ग या कर्म-मार्ग के लिए है, उनकी भक्ति मंदिर में बैठकर पत्थर की मूर्ति की पूजा-अर्चना की नहीं बल्कि खुले संसार में विचरते प्राणी मात्र की सक्रिय भक्ति है।

यही नहीं इसका स्वरूप इतना व्यापक है कि प्राणी ही नहीं प्राणेतर, चराचर जगत् भी इसमें आ जाता है। शुक्ल जी के अनुसार "भक्ति राग की वह दिव्य भूमि है जिसके भीतर सारा चराचर जगत् आ जाता है।" (६१) इसी के अनुसार शुक्ल जी रागात्मक प्रसार में मानवों के साथ पशु-पक्षियों तथा पेड़-पौदों का उल्लेख अवश्य करते हैं। इस दृष्टि से 'कविता क्या है' निबन्ध पठनीय है।

कर्म पथ में भक्ति का विशेष महत्त्व है। श्रद्धालु और भक्त के महत्त्व में अन्तर का स्पष्टीकरण करते हुए शुक्ल जी भक्ति के सक्रिय सामाजिक महत्त्व को स्पष्ट करते हैं। वे लिखते हैं—"अपने आचरण द्वारा दूसरों की भक्ति के अधिकारी होकर ही संसार के बड़े बड़े महात्मा समाज के कल्याण-साधन में समर्थ हुए हैं। गुरु गोविंद सिंह को यदि केवल दण्डवत् करने वाले और गद्दी पर भेंट चढ़ाने वाले श्रद्धालु ही मिलते, दिन-रात साथ रहने वाले अपने सारे जीवन को अर्पित करने वाले भक्त न मिलते तो वे अन्याय-दमन में कभी समर्थ न होते। इससे भक्ति के सामाजिक महत्त्व को, इसकी लोकहितकारिणी शक्ति को स्वीकार करने में किसी को आगा-पीछा नहीं हो सकता। सामाजिक महत्त्व के लिए आवश्यक है कि या तो आकर्षित करो या आकर्षित हो।" (३४)

जो चरित्र जितना ही कर्मोन्मुख होगा, वह उतना ही प्राण-सौरभ-सम्पन्न होगा। मात्र सदेच्छा या अनुकूल मनोवेग उत्पन्न होना और बात है और मनोवेग के अनुसार व्यवहार करना और बात। (५४) शुक्ल जी सच्चा उत्साही उसे ही समझते हैं जिसमें कर्म सौन्दर्य हो (६) कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस में और आनन्दपूर्ण प्रयत्नोन्मुखता में बड़ा अन्तर है। सच्चे उत्साह ही में कष्ट-सहन दृढ़ता तथा कर्म-प्रवृत्ति के आनन्द का योग रहता है। (६, ७)

शुक्ल जी गीता के निष्काम कर्म योग में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार "कर्म-भावना-प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है। फल-भावना-प्रधान उत्साह तो लोभ ही का एक प्रच्छन्न रूप है।" (१२) "जब तक

फल तक पहुँचने वाला कर्मपथ अच्छा न लगेगा तब तक केवल फल का अच्छा लगना कुछ नहीं। फल की इच्छा मात्र हृदय में रखकर जो प्रयत्न किया जायगा वह अभावमय और आनन्दशून्य होने के कारण निर्जीव सा होगा।" (१३)

इसी प्रसंग में शुक्ल जी ने कर्मपथ से मुँह मोड़ने वाले भारतवर्ष के तथाकथित भक्त आलसियों की अच्छी खबर ली है। वे लिखते हैं—"फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है, चित्त में यही आता है कि कर्म बहुत कम या बहुत सरल करना पड़े और फल बहुत-सा मिल जाय। श्री कृष्ण ने कर्म मार्ग से फलाशक्ति की प्रबलता हटाने का बहुत ही स्पष्ट उपदेश दिया; पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदासीन हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गरमी में ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे; चार आने रोज़ का अनुष्ठान कराके व्यापार में लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धन-धान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या क्या चाहने लगे।" (१४)

कर्मपथ पर बल देने के कारण, और लोकहित की दृष्टि से शुक्ल जी काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले, कर्म-सौन्दर्य निदर्शक काव्यों की ही प्रशंसा कर रहे हैं। गीति काव्यों की अपेक्षा प्रबन्ध काव्यों पर बल देने का भी यही कारण है। प्रेम के प्रसंग में उन्होंने साहस-शौर्य-सम्पन्न प्रेम के कर्म-सौन्दर्य-दर्शक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"भारतीय प्रबन्ध काव्यों की मूल प्रवृत्ति लोक जीवन से संश्लिष्ट प्रेम के वर्णन की ओर ही रही। आदि कवि वाल्मीकि के राम और सीता के प्रेम का विकास मिथिला या अयोध्या के महलों और बगीचों में न दिखाकर दंडकारण्य के विस्तृत कर्म क्षेत्र के बीच दिखाया है। उनका प्रेम जीवन यात्रा के मार्ग में माधुर्य फैलाने वाला है; उसमें अलग किसी कोने में चौकड़ी या आहें भरने वाला नहीं, उसके प्रभाव से वनचर्य्या में एक अदभुत रमणीयता आ गई है। सारे

कँटीले पथ प्रसूनमय हो गये हैं, सम्पूर्ण कर्मक्षेत्र एक मधुर ज्योति से जगमगा उठा है।.........सीता हरण होने पर राम का वियोग जो सामने आता है वह भी चारपाई पर करवटें बदलने वाला नहीं है; समुद्र पार करा कर पृथ्वी का भार उतारने वाला है। (६०)

शुक्ल जी काव्य के भावयोग और जीवन के कर्मयोग दोनों का एक ही लक्ष्य मानते हैं—शेष सृष्टि के साथ अधिक से अधिक सामंजस्य, निजी स्वार्थों का अधिक से अधिक विसर्जन। लौकिक जीवन में भी कर्मोन्मुख व्यक्ति शुद्ध ज्ञान या विवेक द्वारा कर्म में प्रवृत्त नहीं होता, इसके लिए करुणा, क्रोध आदि मन के वेग का आना आवश्यक है। और कविता भी भाव प्रसार द्वारा मानव को सहृदय बनाती है, उसकी अन्तः प्रकृति में प्रवृत्ति-निवृत्ति को जागरित करती है, कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है। शुक्ल जी काव्य को व्यवहार में कितना साधक समझते हैं इसके लिए उनके ये शब्द पर्याप्त होंगे—"किसी महाक्रूर पुलिस कर्मचारी को जाकर देखिए, जिसका हृदय पत्थर के समान जड़ और कठोर हो गया है, जिसे दूसरे के दुःख और क्लेश की भावना स्वप्न में भी नहीं होती। ऐसों को सामने पाकर स्वभावतः यह मन में आता है कि क्या इनकी भी कोई दवा है? इनकी दवा कविता है।" (१६०) सारतः शुक्ल जी काव्य के भावयोग को कर्मयोग के समकक्ष मानते हैं। (१४१)

शुक्ल जी मात्र कोमल कर्म में ही सौन्दर्य नहीं देखते, उग्र तथा विकट कर्मों में भी उतना ही सौन्दर्य देखते हैं। वस्तुतः जैसे राम कुसुम कोमल तथा वज्र कठोर हैं (२२६) तथा उनके प्रिय कवि तुलसी में कोमल तथा परुष दोनों रसों का समतुल्य निर्वाह है, वैसे ही शुक्ल जी लोक-कल्याण के लिए कोमल-कठोर दोनों प्रकार के कर्मों को आवश्यक बताते हैं। शुक्ल जी के समय राजनीति तथा साहित्य में गाँधी जी और तोल्सतोय के प्रभाव से निष्क्रिय प्रतिरोध या विनत वि का जो प्रचार बढ़ा था, उस पर शुक्ल जी ने अनेक स्थलों पर व्यंग्य किए हैं। शुक्ल जी

ने गाँधी जी का नाम नहीं लिया किन्तु तोल्सतोय तथा कलावादियों को नहीं छोड़ा। मात्र प्रेम और भ्रातृ भाव की कोमल व्यंजना पर बल देने को वह तोल्सतोय के समय से चला 'नया फैशन' बताते हैं और उसे एकदेशीय (२२०) तथा साम्प्रदायिक (२२४) कहते हैं। शुक्ल जी का स्पष्ट मत है कि "मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं, वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्यकला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौन्दर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।" (२२१) शेली के काव्य "दि रिवोल्ट ऑफ इस्लाम" का उदाहरण देते हुए शुक्ल जी स्पष्ट करते हैं—"स्वतन्त्रता के उन्मत्त उपासक घोर परिवर्तनवादी शेली के महाकाव्य (The Revolt of Islam) के नायक-नायिका अत्याचारियों के पास जाकर उपदेश देने वाले, गिड़गिड़ाने वाले, अपनी साधुता, सहनशीलता और शांत वृत्ति का चमत्कार-पूर्ण प्रदर्शन करने वाले नहीं हैं, वे उत्साह की उमंग में वेग से युद्ध-क्षेत्र में बढ़ने वाले, पाखंड, लोकपीड़ा और अत्याचार देख पुनीत क्रोध के सात्विक तेज से तमतमाने वाले, भय या स्वार्थवश आततायियों की सेवा स्वीकार करने वाले के प्रति उपेक्षा प्रकट करने वाले हैं।" (२२४) शुक्ल जी उन्हें ही "पूर्ण कवि" कहते हैं जो जीवन की अनेक परिस्थितियों में 'सुख, माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेम व्यापार आदि तथा पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण में भी सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं। (२०४) शुक्ल जी उस क्रोध का समर्थन करते हैं जो "करुणा के आज्ञा-कारी सेवक" के रूप में सामने आता है। (१३७) जैसे "किसी अनाथ अबला पर अत्याचार करने पर एक क्रूर पिशाच को हम उद्यत देख रहे हैं। समझाना बुझाना या तो व्यर्थ है अथवा उसका समय ही नहीं है। ऐसी दशा में यदि उस अबला की रक्षा इष्ट है, तो हमें चटपट उस कर्म में प्रवृत्त होना होगा जिससे उस दुष्ट को बाधा पहुँचे। उस समय का

हमारा क्रोध कितना सुन्दर और अक्रोध कितना गर्हित होगा!" (४३) अत्याचारी के विरुद्ध कालाग्नि सदृश क्रोध में सात्विक तेज होगा, तामस ताप नहीं। (१३७-३८) इसी आधार पर शुक्ल जी सामाजिक जीवन में क्रोध की आवश्यकता का स्पष्टीकरण करते हैं। (१३१) लोक मंगल की साधना में उग्र भावों के साथ कोमल भाव—क्रोध के साथ करुणा, प्रचण्डता के साथ आर्द्रता, आदि—साथ लगे रहते हैं। शुक्ल जी ने विरुद्धों के इस सामंजस्य को कर्मक्षेत्र का सौन्दर्य बताया है जिस की ओर आकर्षित हुए बिना मनुष्य का हृदय नहीं रह सकता। (२१६)

विरुद्धों का चरम सौन्दर्य क्षात्र धर्म में अपने पूर्ण वैभव पर पहुँचता है और इससे असीम लोकहित होता है। अतएव शुक्लजी ने क्षात्र धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा पर विशेष बल दिया है। वे लिखते हैं–"जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला क्षात्र-धर्म हैं। क्षात्र-धर्म के इसी व्यापकत्व के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय हैं। क्षात्र-धर्म एकांतिक नहीं है। उसका सम्बन्ध लोक रक्षा से है। ······कर्म-सौन्दर्य की योजना क्षात्र जीवन में जितने रूप में सम्भव है, उतने रूपों में और किसी जीवन में नहीं। शक्ति के साथ क्षमा, वैभव के साथ विनय, पराक्रम के साथ रूप माधुर्य, तेज के साथ कोमलता, सुख-भोग के साथ पर-दुःख-कातरता, प्रताप के साथ कठिन धर्म-पथ का अवलम्बन इत्यादि कर्म-सौन्दर्य के इतने अधिक प्रकार के उत्कर्ष-योग और कहाँ घट सकते हैं? इसी से क्षात्र धर्म के सौन्दर्य में जो मधुर आकर्षण है वह अधिक व्यापक, अधिक मर्म-स्पर्शी और अधिक स्पष्ट है। मनुष्य की सम्पूर्ण रागात्मिका वृत्तियों को उत्कर्ष पर ले जाने और विशुद्ध करने की सामर्थ्य उसमें है।" (४३)

इस युग में बड़े-बड़े राज्य माल की बिकरी के लिए लड़ने वाले सौदागर होगए हैं और व्यापार नीति राजनीति का प्रधान अंग होगई है। "कोई-कोई देश लोभवश इतना माल तैयार करते हैं कि उसे किसी देश के गले मढ़ने की फ़िक्र में दिन रात मरते रहते हैं"। चुपचाप दबे

षांव की इस शोषण वृत्ति को शुक्ल जी 'चोरी' कहते हैं जिससे संसार की शांति भंग होती रहती है। उनका विचार है कि 'चोरी' का बदला 'डकैती' से लेने के लिए संसार में क्षात्र-धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा आवश्यक है।(७४) वस्तुतः इस युग में क्षात्र-धर्म 'धर्म' नहीं रहा। अतएव शुक्ल जी इसका शुद्धीकरण चाहते हैं। धर्म से समाज की स्थिति है (१८) और धर्म वह व्यवस्था है जिससे लोक में मंगल का विधान होता है।(२१७) किन्तु आज इस क्षात्र वृत्ति का दुरुपयोग हो रहा है। सार्वभौम वणिक-वृत्ति—सबल और सबल देशों के बीच अर्थ-संघर्ष की, सबल और निर्बल देशों के बीच अर्थ-शोषण की प्रक्रिया—तथा क्षात्र वृत्ति का सहयोग हो गया है और इसलिए अनर्थ भी बढ़ गया है। साम्राज्यवादी देश विशाल सेनाओं तथा अस्त्र-शस्त्र का भय दिखाकर अपने व्यापारिक बाज़ार स्थिर रखते हैं। अतएव शांति-व्यवस्था के लिए शुक्ल जी का मत है कि "वर्तमान अर्थोन्माद को शासन के भीतर रखने के लिए क्षात्र धर्म के उच्च और पवित्र आदर्श को लेकर क्षात्र संघ की प्रतिष्ठा आवश्यक है।"(१३०)

शुक्ल जी क्षात्र धर्म का पूरा और ठीक उपयोग चाहते थे। उनके अनुसार "राज-दंड राजकोप है, जहाँ कोप लोक-कोप और लोक-कोष धर्म-कोप है। जहाँ राज-कोप धर्मकोप से एकदम भिन्न दिखाई पड़े, वहाँ उसे राज-कोप न समझकर कुछ विशेष मनुष्यों का कोप समझना चाहिए। ऐसा कोप राजकोप के महत्त्व और पवित्रता का अधिकारी नहीं हो सकता। उसका सम्मान जनता अपने लिए आवश्यक नहीं समझ सकती।"(१३८)शुक्ल जी ने यहाँ स्पष्ट कहा है कि कोप लोकानुमोदित होना चाहिए। लोकानुमोदित कोप वही हो सकता है जो लोकहितार्थ हो—विशिष्ट व्यक्तियों के स्वार्थार्थ न हो। उसमें समबुद्धि अनिवार्य है। कौटिल्य नीति के अनुसार भी यही है—

> दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति।
> राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथादोषं समं धृतः ॥†

† अर्थशास्त्र ३।१।५४

"पाप का फल छिपाने वाला पाप छिपाने वाले से अधिक अपराधी है।...दुराचारियों के जीवन का सामाजिक उपयोग करने के लिए ही—संसार में धर्म की मर्यादा स्थापित करने के लिए ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त किया। यदि अधर्म में तत्पर कौरवों का नाश न होता और पांडव जीवन भर मारे-मारे ही फिरते तो संसार में अन्याय और अधर्म की ऐसी लीक खिंच जाती जो मिटाये न मिटती।......भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् !!

यदि कहीं पाप है, अन्याय है, अत्याचार है तो उनका आशुफल उत्पन्न करना और संसार के समक्ष रखना, लोक रक्षा का कार्य है। अपने ऊपर किये जाने वाले अत्याचार और अन्याय का फल ईश्वर के ऊपर छोड़ना व्यक्तिगत आत्मोन्नति के लिए चाहे श्रेष्ठ हो, पर यदि अन्यायी या अत्याचारी अपना हाथ नहीं खींचता है तो लोक-संग्रह की दृष्टि से वे उसी प्रकार आलस्य या कायरपन हैं जिस प्रकार अपने ऊपर किये हुए उपकार का कुछ भी बदला न देना कृतघ्नता है।" (३७) उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि शुक्ल जी की दृष्टि सदैव लोक-संग्रह की ओर रही है। दूसरे वे अर्थोन्माद के लिए युद्ध नहीं चाहते किन्तु धर्म की रक्षा के लिए महाभारत जैसे भीषण युद्ध को भी उचित ठहरा सकते हैं। तीसरे व्यक्तिगत आत्मोन्नति का विचार भी लोक-संग्रह की दृष्टि से ही किया जा सकता है। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी ने क्षात्र धर्म तथा उग्र कामों पर विभिन्न स्थितियों में विचार कर उनके औचित्य तथा महत्त्व की स्थापना की है। वे दृढ़ता-पूर्वक कह सके हैं कि—"क्षात्र धर्म पालन की आवश्यकता संसार में सब दिन बनी रहेगी, कोई व्यापार युग उसे नही हटा सकता।" (४३) शुक्ल जी नीतिशास्त्र के अनुकूल अहिंसा को महत्त्व देकर, किसी काल्पनिक आदर्शवाद में खो नहीं गए, उन्होंने व्यावहारिक आदर्श

के अनुकूल परपीड़न-मुक्ति, पाप-शमनार्थ तथा स्वाधिकार-रक्षा हेतु—लोक-रक्षा के साधक कर्त्तव्यों में—हिंसा को धर्म माना है। मनु ने भी दण्ड को धर्म कहा था—'दंड धर्मं विदुर्बुधाः।' (मनुस्मृति ७/१८)

यह ध्यान रहे कि क्षात्र धर्म को महत्त्व देकर तथा विशेष अवस्थाओं में युद्ध, हिंसा, क्रोध आदि का समर्थन करके शुक्ल जी इनको नियमरूप में स्वीकार नहीं करते। वह 'जीवो जीवस्य जीवनम्' या 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' (सर्वाइवल आफ़ दी फ़िटेस्ट) के सिद्धान्त का घोर विरोध करते हैं। शुक्ल जी समझते हैं कि मनुष्य जाति की स्थिति इन बर्बर या जंगली नियमों से बहुत आगे बढ़ी हुई है।

आज के कुछ योरोपीय राष्ट्रों ने इन्हीं असभ्य सिद्धान्तों को दुहाई देकर विश्व को युद्धों में झोंका। इन्ही की सभ्यता को दृष्टि में रखकर शुक्ल जी लिखते हैं—"कुछ दिनों पहले की सभ्यता मनुष्य-जीवन को देव-तुल्य बनाने में थी; अब मर्कट-तुल्य और मत्स्य-तुल्य बनाने में समझी जाने लगी है। पर यह सभ्यता जड़त्व और नाश की ओर ले जाने वाली है। जब हृदय की कुछ उदात्त प्रवृत्तियाँ बोझ मालूम होने लगी हैं तब और प्राणियों की अपेक्षा अपने अन्तःकरण की पूर्णता का गर्व मनुष्य जाति कब तक कर सकती है? उसके मार्मिक अंग की व्यापकता के ह्रास और स्तब्धता की वृद्धि के भयंकर परिणाम का आभास योरप दे रहा है।" (३८) शुक्ल जी सहयोग और भाईचारे में ही मानव-समाज की शान्ति, व्यवस्था और विकास देखते थे। इस दृष्टि से परोक्ष रूप में वे सभ्य देशों से अहिंसात्मक आचरण की ही अपेक्षा रखते थे।

ऊपर हम शुक्ल जी के अनुसार यह बता चुके हैं कि वे आदर्श क्षात्र धर्म चाहते हैं। इस आदर्श के मूर्तिमान प्रतिनिधि प्रतीक राम और कृष्ण हुए हैं। शुक्ल जी अवतारों में क्षत्रिय अवतारों को ही श्रेष्ठतम समझते है क्योंकि 'जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला क्षात्र धर्म है।' उनके विचारानुसार "क्षात्र धर्म के इसी व्यापकत्व के कारण हमारे मुख्य

अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय हैं।" (४२-४३) शुक्ल जी ने रामलीला और कृष्णलीलाओं के आयोजन को बड़ा कल्याणकारी बताया है। आज के तथाकथित मानववादी चाहे रावण को हर वर्ष जलाने की मनोवृत्ति को हिन्दू जाति की संकीर्णता बताएँ किन्तु शुक्ल जी लोक-हितार्थ इसका महत्त्व भली भाँति समझते थे। वे लिखते हैं—"रामलीला द्वारा लोग वर्ष में एक बार अपने पूज्यदेव की आदर्श मानव लीला का माधुर्य देखते हैं। जिस समय दूर-दूर के गाँवों के लोग एक मैदान में आकर इकट्ठे होते हैं तथा एक ओर जटा-मुकुट-धारी विजयी राम-लक्ष्मण की मधुर मूर्ति देखते हैं···दूसरी ओर तीरों से बिंधा रावण का विशाल शरीर जलता देखते हैं, उस समय वे धर्म के सौंदर्य पर लुब्ध और अधर्म की घोरता पर क्षुब्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार जब हम कृष्णलीला में जीवन की प्रफुल्लता के साथ धर्म-रक्षा के अलौकिक बल का विकास देखते हैं, तब हमारी जीवन-धारणा की अभिलाषा दूनी-चौगुनी हो जाती है।" शुक्ल जी की राम-कृष्ण भक्ति भगवान्-भक्ति नहीं, आदर्श-मानव-भक्ति है। यह अन्धी भावुकता नहीं, गम्भीर विश्वास है, जो साधना की दृष्टि से व्यक्तिगत पर प्रसार की दृष्टि से समष्टिगत है। यही उनकी आलोचना का बल है। शुक्ल जी ने उन अवतारों का अवलम्ब लिया जिन की भक्ति से हिन्दू जाति "प्रतिकूल अवस्थाओं के बीच अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बचाती चली आई है—उन्हीं की अद्भुत आकर्षण शक्ति से वह इधर-उधर टलने नहीं पाई है।" अतएव "राम और कृष्ण को बिना आँसू बहाए छोड़ना हिन्दू-जाति के लिए सहज नहीं था···" (४१) और न है।

राम-कृष्ण की जीवन-लीला में मानवता सम्पोषक शाश्वत तत्त्व हैं। अतएव शुक्ल जी राम-कृष्ण की मर्यादा रखनी आवश्यक समझते थे। अपने समय में उठी हुई किसी हवा की झोंक में, विदेशी शिक्षा से प्रभावित होकर पुरानी धारणा तोड़ने की बहादुरी दिखाने के लिए, प्राचीन आर्ष काव्यों के पर्णतया निर्दिष्ट स्वरूप वाले राम-कृष्ण आदि आदर्श

पात्रों को एक दम कोई नया रूप देने वाले कवियों को शुक्ल जी ने भारती के पवित्र मन्दिर में व्यर्थ गड़बड़ मचाने वाला कहा है। (२२०)

शुक्ल जी की मर्यादा-प्रियता, लोकहित की रक्षा का प्रयत्न है जो आधुनिकता के अंधानुकरण का निराकरण करती है। अपने सिद्धान्तों के पालन में भी उनकी सजग-दृष्टि रहती थी। उन्होंने क्षात्र धर्म की बड़ी प्रशंसा की है किन्तु यदि कोई इसी आधार पर वर्ग-बुद्धि से प्रेरित होकर भेदभाव की सृष्टि करनेलगे तो शुक्लजी उसे कभी क्षमा नहीं कर सकते। उन्होंने बंग भाषा के कवि नवीनचन्द्र पर व्यंग्य किया है जिसने 'कुरूक्षेत्र' नामक काव्य में कृष्ण का आदर्श ही बदल दिया है। "उसमें वे ब्राह्मणों के अत्याचारों से पीड़ित जनता के उद्धार के लिए उठ खड़े हुए एक क्षत्रिय महात्मा के रूप में अंकित किए गए हैं।" शुक्ल जी का क्षात्र-धर्म प्रेम, धर्म या लोक मंगल की वृत्ति से प्रेम है किसी वर्ग या जाति विशेष से प्रेम नहीं।

हम यह बता आए हैं कि शुक्ल जी ने कर्मक्षेत्र तथा साहित्य में कठोर और तीक्ष्ण भावों में तब सौन्दर्य देखा है जब इनके साथ करुणा हो। 'करुणा के आज्ञाकारी सेवक' के रूप में उग्र भाव भी अच्छे लगते हैं अन्यथा नहीं। शुक्ल जी ने भाव या मनोविकारों में करुणा को विशेष महत्त्व दिया है क्योंकि यह "मनुष्य की प्रकृति में शक्ति और सात्विकता का आदि संस्थापक मनोविकार" है। (४६) अतएव "सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है।"(५१) लोक में मानव के लिए रक्षा और रंजन दोनों आवश्यक हैं। फिर भी रक्षा अनिवार्य है—रक्षा के बाद ही रंजन का अवसर मिल सकता है। करुणा की गति रक्षा की ओर तथा प्रेम की गति रंजन की ओर होती है। "अतः साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों का बीज भाव करुणा ही ठहरता है। इसी से शायद अपने दो नाटकों में रामचरित को लेकर चलने वाले महाकवि भवभूति ने 'करुणा' को ही एक मात्र रस कह दिया।" (२२३) सारतः शुक्ल जी ने अपने

लोकहितवाद के अनुकूल प्रेम से करुणा को अधिक महत्त्व दिया है। इस दृष्टि से उनके आदर्श भवभूति तो हैं ही तुलसीदास और वाल्मीकि भी हैं, क्योंकि रामायण का मूल बीजभाव करुणा है।

करुणा के मनोवैज्ञानिक आधार के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों तथा समाज शास्त्रियों से मतभेद प्रकट किया है। वे लिखते हैं—"समाज शास्त्र के पश्चिमी ग्रंथकार कहा करें कि समाज में एक दूसरे की सहायता अपनी-अपनी रक्षा के विचार से की जाती है; यदि ध्यान से देखा जाय तो कर्म-क्षेत्र में परस्पर की सहायता की सच्ची उत्तेजना देने वाली किसी न किसी रूप में करुणा ही दिखाई देगी। मेरा यह कहना नहीं है कि परस्पर की सहायता का परिणाम प्रत्येक का कल्याण नहीं है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि संसार में एक दूसरे की सहायता विवेचना द्वारा निश्चित इस प्रकार के दूरस्थ परिणाम पर दृष्टि रखकर नही की जाती, बल्कि मन की स्वतः प्रवृत्त करने वाली प्रेरणा से की जाती है। दूसरे की सहायता करने से अपनी रक्षा की सम्भावना है, इस बात या उद्देश्य का ध्यान प्रत्येक, विशेषकर सच्चे, सहायक को तो नहीरहता।···किस युग में और किस प्रकार मनुष्यों ने समाज रक्षा के लिए दूसरे की सहायता करने की गोष्ठी की होगी, यह समाज शास्त्र के बहुत से वक्ता लोग ही जानते होंगे। यदि परस्पर सहायता की प्रवृत्ति पुरखों की उस पुरानी पंचायत ही के कारण होती और यदि उस का उद्देश्य वही तक होता जहाँ तक समाज शास्त्र के वक्ता बतलाते हैं, तो हमारी दया मोटे,मुस्टण्डे और समर्थ लोगों पर जितनी होती उतनी दीन, अशक्त और अपाहिज लोगों पर नहीं, जिनसे समाज को उतना लाभ नहीं।" (५१) करुणा करने में शुक्ल जी क्योंकि स्वार्थ नहीं, देना ही देना देखते हैं—वैसे आंतरिक सुखोपलब्धि को स्वीकार करते हैं—इसलिए वे सचेत करते हैं कि "करुणा सेंत का सौदा नहीं।" (५२) उपर्युक्त अवतरण से स्पष्ट है कि समाज शास्त्र के पश्चिमी विद्वान मनुष्य की स्वार्थपरता तथा शुक्ल जी स्वयं प्रेरणा के आधार पर

समाज में करुणा की स्थिति की व्याख्या करते हैं। शुक्ल जी की 'स्वतः प्रेरणा' वाली बात अपरिग्रह प्रधान भारतीय संस्कृति के अनुसार है जो पश्चिमी संस्कृति से भिन्न है। इस भारतीय संस्कृति का आध्यात्मिक आधार है जिस का स्पष्टीकरण शुक्ल जी ने इस प्रसंग में किया है। उक्त प्रसंग के सारांश रूप में उनका मत है कि "परस्पर सहायता के जो व्यापक उद्देश्य हैं उनका धारण करने वाला मनुष्य का छोटा-सा अन्तःकरण नहीं, विश्वात्मा है।" (५१) इससे पहले भी वे लिखते हैं कि "दूसरों की सहायता करने से अपनी रक्षा की सम्भावना है' ऐसे विस्तृत उद्देश्यों का ध्यान सेवा करने वाला मनुष्य नहीं, विश्वात्मा स्वयं रखती है; वह उसे प्राणियों की बुद्धि ऐसी चंचल और मुण्डे-मुण्डे भिन्न वस्तु के भरोसे नहीं छोड़ती।" (५१) यह 'विश्वात्मा' शब्द परमात्मा के स्थान पर आया लगता है। जब वे लिखते हैं—"जिसने अपनी कमाई के १०००) अलग किए, या अपराध द्वारा जो क्षति-ग्रस्त हुआ, विश्वात्मा उसी के हाथ करुणा ऐसी उच्च सद्वृत्ति के पालन का शुभ अवसर देती है।" (५५) तो इस से भी परमात्मा का बोध होता है। शुक्ल जी का आध्यात्मिक दृष्टिकोण अधोऽवतरण से भी सिद्ध है; देखिए:—"जो केवल अपने विलास या सुख की सामग्री ढूँढा करते हैं उनमें उस रागात्मक 'सत्त्व' की कमी है जो व्यक्त सत्ता मात्र के साथ एकता की अनुभूति में लीन करके हृदय के व्यापकत्व का आभास देता है। सम्पूर्ण सत्ताएँ एक ही परम सत्ता और सम्पूर्ण भाव एक ही परम भाव के अन्तर्भूत हैं। अतः बुद्धि की क्रिया से हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि पर पहुँचता है। उसी भूमि तक हमारा भावात्मक हृदय भी इस सत्त्व रसके प्रभाव से पहुँचता है। इस प्रकार अन्त में जाकर दोनों पक्षों की वृत्तियों का समन्वय हो जाता है। इस समन्वय के बिना मनुष्य की साधना पूरी नहीं हो सकती है" (१५१) शुक्ल जी ने स्पष्ट किया है कि मानव जीवन की साधना का चरम लक्ष्य परम सत्ता के साथ एकीकरण है, या दो से अद्वैत भूमि पर पहुँचना है। दूसरे रूप में यह

शेष विश्व के साथ पूर्ण रूप से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना है, जिसकी शुक्ल जी ने अनेक स्थलों पर चर्चा की है। सृष्टि के साथ पूर्ण रागात्मक सम्बन्ध या परम भाव या परम सत्ता के साथ एकीकरण का एक ही अर्थ है परम सत्ता के साथ सम्बन्ध स्थापित करना, एक एक सत्ता से सम्बन्धित होना। क्योंकि सम्पूर्ण सत्ताएँ एक ही परम सत्ता के अन्तर्भूत हैं। यह भारतीय एकात्मवाद या वेदांत का शुद्धाद्वैत है जिसमें एक ही तत्त्व की प्रधानता या प्रकृति-पुरुष में अभेद माना जाता है। शुक्ल जी जगत् को ब्रह्म की ही व्यक्त सत्ता या विभूति समझते हैं। (९१) अतएव उनका यह कहना स्वाभाविक है कि "राम तक पहुँचने का रास्ता इसी संसार के भीतर से गया है।" 'विश्वात्मा' तक पहुँचना मानो सम्पूर्ण विश्व के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेना ही है। विश्वात्मा से विश्व का ग्रहण होता है और साधक विश्व को भूलकर या उससे तटस्थ रहकर परमात्मा को पाने का पाखंड नहीं रच सकता।

दया (करुणा) और दान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शुक्ल जी के अनुसार "सच्चा दान दो प्रकार का होता है—एक वह जो श्रद्धावश दिया जाता है। पण्डितों, विद्वानों और धार्मिकों को जो दान दिया जाता है वह श्रद्धावश दिया जाता है, अन्धों, लूलों और लँगड़ों को जो दान दिया जाता है दयावश दिया जाता है। श्रद्धा सामर्थ्य के प्रति होती है और दया असामर्थ्य के प्रति।" (९२) शुक्ल जी दान के विषय में पात्रता-सम्बन्धी विवेक का होना आवश्यक बताते हैं। अनुकूल पात्र को दान देने में, विशेष रूप से श्रद्धावश दान में उपयोगिता का तत्त्व छिपा है, किन्तु अनुचित व्यक्ति को दान देने से समाज का अपकार भी हो सकता है। जैसे विद्या दान में रत विद्वानों, परोपकार में रत कर्मवीरों आदि को अभाव में जो श्रद्धावश दिया जाता है वह ठीक समाज के दुरुस्त पेट में जाता है, जहाँ से रस-रूप में उसका संचार अंग-अंग में होता है। इसके विरुद्ध स्वार्थियों, अन्यायियों आदि को जो कुछ दिया जाता है वह समाज के अंग उसी

प्रकार नहीं लगता जिस प्रकार अतिसार या संग्रहणी वाले को खिलाया हुआ अन्न। (३२) इसी प्रकार शुक्ल जी सचेत करते हैं—"यदि किसी पहलवान के बल पर प्रसन्न होकर कोई उसे हलवा पूरी खाने के लिए कुछ महीना बाँधता है तो उसके गुण्डेपन के कारण लोगों को पहुँची हुई पीड़ा के दोष का वह कम से कम उतना भाग अवश्य पा सकता है जितना इन्द्र कृत्य हत्या की बँटाई के समय बहुतों को मिला था।" (२७) सारतः मनोविकार के उपयुक्त विषय के निश्चय में बुद्धि से काम लेने की थोड़ी बहुत आवश्यकता अवश्य होती है।

शुक्ल जी ने विरोधी गुणों के सामंजस्य को कर्मक्षेत्र का सौन्दर्य कहा है। स्वयं उन्होंने अपने विरोधी गुणों—करुणा तथा क्रोध—का पूरा उपयोग किया हैं। करुणा से उन्होंने पीड़ित-शोषित मानवता को वाणी दी और सात्विक क्रोध का उपयोग पाखंड-खंडन में किया। कुछ पर उनकी आँखें बरसीं कुछ पर व्यंग्यबाण। कहीं वे छलछलाए, कहीं तिलमिलाए। निश्छल-निर्भीक सहृदयों का यही स्वभाव होता है। एक ओर शुक्ल जी की करुण दृष्टि निर्धनों के धूल भरे पैरों (७७), शोषित 'ठठड़ियों' (७७), किसानों की झोंपड़ियों (७६), अनाथ विधवाओं (८४) आदि पीड़ित-शोषित लघुता या उदास-उन्मन मानवता की ओर संकेत कर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करती है दूसरी ओर समाज-घातक दुराचारियों को डाँटती फटकारती, पाठकों को सावधान करती है। कहीं शुक्ल जी समाज सुधार के वर्तमान आन्दोलनों में भाग लेने वाले नीचाशय छिछोरों-लम्पटों को विधवाओं की दयनीय दशा पर आँसू बहाने के बहाने काम कथाओं से सन्तोष-प्राप्ति की पोल खोलते हैं (९), कही ब्रह्मज्ञानियों के वाक्यों में उपदेश देकर अपना उल्लू सीधा करने वाले 'दुकानदार जी' की (२८), कहीं परश्रद्धाभिलाषियों के मानसिक दुर्व्यसन की (२९), कहीं 'सहानुभूति' दिखाने वाले छद्म-शिष्टकों की (५२), कहीं सार्वजनिक उद्योगों में निराहार परोपकार-व्रत करते सुने जाने वालों की (२९), कहीं लम्बा चोगा पहने देशोद्धारकों की (२८), कहीं मात्र गेरुआ

वस्त्र लपेट कर धर्म का डंका पीटने वालों की (२८) और कहीं कर्म-पंगु जिह्वा-तीव्र वाग्वीरों (१०) का पर्दाफ़ाश करते हैं। कभी वे पेट्ट 'चौबे जी' (७०) की चुटकी लेते हैं,कभी 'स्वकार्य साधयेत्' के अनुयायी काशी के ज्योतिषी और कर्मकाण्डी, कानपुर के बनिये और दलालों, कहचरियों के अमले और मुख्तारों (१५८-५९) पर व्यंग्य करते हैं। कभी पाश्चात्य सभ्यता में पगे नागरिक बाबुओं (७८), या विलायती बोली में ज़बानी जमा खर्च करने वाले तथाकथित नेताओं पर चोट करते हैं (७६-७७) और कभी अर्वाचीन राष्ट्रनीति के शोषक 'गुरुघण्टालों' की खबर लेते हैं। जो अनाथ विधवा का सर्वस्वहरण करने के लिए कुर्क अमीन लेकर चढ़ाई करते हैं, जो मिट्टी में रुपया गाढ़ कर न आप खाते हैं न दूसरों को खाने देते हैं, जो परिजनों का कष्ट-क्रन्दन सुनकर भी रुपये गिनने में लगे रहते हैं(८४-८५) ऐसे कृपण नर-पिशाच भी शुक्ल जी की व्यापक कोमल कृपा से नहीं बच सके। मोटे-मोटे व्यक्तित्व वाले पूँजीपति, तथा निरन्तर तपस्या में रत लोभी तो शुक्ल जी की खरी-खरी डाँट-फटकार के सहज शिकार रहे है। ब्रिटिश तानाशाही के हथियार पुलिस कर्मचारी (११४,१६०) तथा माल के अफ़सर (११४) आदि को भी कुछ न कुछ पुरस्कार मिला है। शुक्ल जी की दृष्टि साहित्यिकों तक भी गई है। विधवा-वेश्या आदि समस्याओं को लेकर उनके सुधार-समाधान के नाम पर स्वयं रस लेने वाले साहित्यकारों (९) तथा वेश-भूषा या केश-भूषा की कोरी नकल से प्रतिभाशाली साहित्यकार बनने वालों पर भी व्यंग्य हुआ है। (२८)

शुक्ल जी युगधर्म के प्रति ईमानदार रहे हैं, यह स्पष्ट है। उन्होंने राजनीतिक दलों द्वारा प्रचारित बातों या आन्दोलनों तक ही अपनी दृष्टि सीमित नहीं रखी। यहाँ समाज की वस्तुस्थिति पर व्यापक दृष्टि का आभास मिलता है। दूसरे ये बातें वाद या प्रचार की दृष्टि से नहीं, शुक्ल जी की अनुभूति का अंग बनकर आई हैं।

शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में वर्तमान आन्दोलनों पर

जो विचार प्रकट किये हैं, उनमें उनकी दूर दृष्टि का परिचय मिलता है। उनकी दृष्टि विशेष रूप से शोषक ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद पर रही। वे लिखते हैं—"···निपुण उपन्यासकारों को···यह भी देखना चाहिए कि अँगरेज़ी राज्य जमने पर भूमि की उपज या आमदनी पर जीवन निर्वाह करनेवालों (किसानों और ज़मींदारों) की और नगर के रोजगारियों या महाजनों की परस्पर क्या स्थिति हुई। उन्हें यह भी देखना चाहिए कि राज कर्मचारियों का इतना बड़ा चक्र ग्रामवासियों के सिर पर ही चला करता है, व्यापारियों का वर्ग उस से प्रायः बचा रहता है। भूमि ही यहाँ सरकारी आय का प्रधान उद्‌गम बना दी गई है। व्यापार-श्रेणियों को यह सुभीता विदेशी व्यापार को फूलता-फलता रखने के लिए दिया गया था जिससे उनकी दशा उन्नत होती आई और भूमि से सम्बन्ध रखने वाले सब वर्गों—क्या ज़मींदार, क्या किसान, क्या मज़दूर—गिरती गई।"[1]

दूसरे शब्दों में शुक्ल जी भारतवर्ष की गिरती हुई दशा के मूल में अँग्रेज़ों की व्यापारिक राजनीति को देखते थे। उनका विश्वास था कि जबतक विदेशी साम्राज्यशाही का उत्पाटन नहीं होता तब तक किसान-मज़दूर आदि की दशा सुधर नहीं सकती। चिंतामणि में अंग्रेज़ों द्वारा भारत के दारुण शोषण का सामान्यीकरण करते हुए शुक्ल जी ने योरोपीय शोषण वृत्ति तथा उसके भयंकर परिणामों का मार्मिक परिचय दिया है। वे लिखते हैं—"अर्थ शास्त्र के प्रभाव से अर्थोन्माद का उनके साथ संयोग हुआ और व्यापार, राजनीति या राष्ट्रनीति का प्रधान अंग हो गया। योरप के देश के देश इस धुन में लगे कि व्यापार के बहाने दूसरे देशों से जहाँ तक धन खींचा जा सके, बराबर खींचा जाता रहे। पुरानी चढ़ाइयों की लूटमार का सिलसिला आक्रमण-काल तक ही—जो बहुत दीर्घ नहीं हुआ करता था—रहता था। पर योरप के अर्थोन्मादियों ने ऐसी गूढ़, जटिल और स्थायी प्रणालियाँ प्रतिष्ठित कीं जिनके द्वारा

---

[1] हिन्दी सा० का इति०, पृ० ५३५ सं०, २००३

भूमंडल की न जाने कितनी जनता का क्रम-क्रम से रक्त चुसता चला आ रहा है—न जाने कितने देश चलते-फिरते कंकालों के कारागार हो रहे हैं।" (१२६) यह भारतवर्ष की दुर्दशा का सामान्यीकरण है, और कुछ नहीं। शुक्ल जी भली-भाँति समझते थे कि विश्व की अशांति का उत्तरदायित्व इन्हीं व्यापारोन्मादी बड़े बड़े राज्यों पर है जो अपने माल की बिक्री के लिए लड़ने वाले सौदागर हो गए हैं। और ये ठीक रास्ते पर तब आ सकते हैं जब इनकी दबे पाँव धन हरण करने वाली चोरी का बदला डकैती से लिया जाएगा। हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि इसी लिए शुक्ल जी ने क्षात्रधर्म की पुनर्प्रतिष्ठा का दृढ़ विश्वास प्रकट किया है। (७४)

पूँजीवादी तथा साम्राज्यवादी देशों की अर्थोन्मादिनी दुर्नीति का ही नहीं, शुक्ल जी ने दैनन्दिन के धरातल पर आधुनिक अर्थ प्रधान या पूँजीवादी सभ्यता का भी घोर विरोध किया है। शुक्ल जी के अनुसार यह 'व्यापार युग' है (३०) जिसमें सबकी 'टकटकी टके की ओर लगगई है'। (७३) आर्थिक मूल्यों या पूँजी के आधार पर ही किसी की सफलता तथा महत्ता निश्चित होती है अतएव सब प्रकार के सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक व्यापार-व्यवहार धातु के ठीकरों पर ठहरा दिये गये है'। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में व्यक्ति का प्राधान्य अनिवार्य है क्योंकि इसका आधार व्यक्तिगत एकाधिकार है, ऐसी अवस्था में जनहित की अपेक्षा व्यक्तिगत सफलता पर दृष्टि केन्द्रित हो गई है। समाजहित इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि आधार ही ग़लत है—शील या योग्यता के स्थान पर पैसे से राज-सम्मान, विद्या और न्याय की प्राप्ति होती है। 'जो बातें पहले पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से धर्म की दृष्टि से की जाती थीं वे भी रुपये-पैसे की दृष्टि से होने लगीं।' धर्म बिकता है, ज्ञान बिकता है। जिसके पास कुछ रुपया है बड़े-बड़े विद्यालयों में अपने लड़के भेज सकते हैं, न्यायालयों में फ़ीस देकर अपने मुकदमे दाखिल कर सकते हैं और महँगे वकील-बैरिस्टर करके बढ़िया निर्णय करा सकते हैं, अत्यंत भीरु

और कायर होकर बहादुर कहला सकते हैं। राज धर्म, आचार्य धर्म, वीर धर्म सब पर सोने का पानी फिर गया; सब टकाधर्म हो गए। धन की पैठ मनुष्य के सब कार्यक्षेत्रों में करा देने से, उसके प्रभाव को इतना विस्तृत कर देने से, ब्राह्मण धर्म और क्षात्र धर्म का लोप गया है; केवल वणिग्धर्म रह गया है। (७३-७४)

समाज के कार्य विभाग तथा श्रेणी या वर्ग विभाग पर इस वणिक वृत्ति से घातक प्रभाव पड़ा है। क्योंकि एक का धनवान होना मानों अधिक शक्ति सम्पन्न हो जाना है जिसका वह दुरुपयोग कर सकता है। एक धनी माने जाना वाला व्यक्ति अपने पास के निर्धन को धनवान होते देख कर कुढ़ सकता है। (११५) एक अवध का ताअल्लुकेदार अपनी बड़ाई का स्वाँग दिखाने के लिए जब मन में आए तब कामदार टोपी सिर पर रख, हाथी पर चढ़ गरीबों को पिटवा सकता है। (११५) इससे आज 'अभिमानालय' यथा 'खुशामदखाने' खुले हुए हैं। एक श्रेणी के लोग अभिमान करते हुए, खुशामद से आनन्द लेते है, दूसरे अपनी रक्षा के लिए खुशामद करते हैं।

धन और शक्ति के मेल से समाज के कार्य विभाग में घोर असंतुलन आ गया है। वस्तुतः विभिन्न कार्य-विभाग समाज-व्यवस्था की दृष्टि से समान महत्त्व रखते हैं। जैसे न्यायाधीश न्याय करता है, कारीगर इंटें जोड़ता है। समाज कल्याण के विचार से न्यायाधीश के साधारण व्यवहार में कारीगर के प्रति यह प्रकट करना उचित नहीं कि तुम हमसे छोटे हो। जिस जाति में इस छोटाई-बड़ाई का अभिमान जगह-जगह दृढ़ होता जाता है उसके भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच स्थायी ईर्ष्या स्थापित हो जाती है और संघ शक्ति का विकास बहुत कम अवसरों पर देखा जाता है। यदि समाज में उन कार्यों की, जिनके द्वारा भिन्न प्राणी जीवन निर्वाह करते हैं, परस्पर छोटाई-बड़ाई का ढिंढोरा न पीटा जाय, बल्कि उनकी विभिन्नता ही स्वीकार की जाय, तो बहुत-सा असंतोष दूर हो जाय, राजनीतिक स्वत्व की आकांक्षा से स्त्रियों को पुरुष की हद में न जाना

पड़े, सब पढ़े-लिखे आदमियों को सरकारी नौकरियों ही के पीछे न दौड़ना पड़े।" ऐसा भी न हो कि कुछ विभाग सूने पड़ जायँ और कुछ आवश्यकता से अधिक भर जायँ। (११३-११४) यहाँ शुक्ल जी ने एक और सुझाव दिया था जिस की ओर आज समाज प्रवृत्त हो रहा है। वे लिखते है—"यहाँ कृषि, विज्ञान, शिल्प, वाणिज्य आदि की ओर तब तक पढ़े- लिखे लोग ध्यान न देंगे जब तक कुछ पेशों और नौकरियों की शान लोगों की नज़रों में समाई रहेगी। (११४)

इस वणिग्वृत्ति या लोलुपता से व्यक्ति हृदय खो देता है, उसके कोमल मनोवेग मर जाते है—उसे न रक्त चूसने में दया आती है न मक्खी चूसने में घृणा। वह न किसी के धूल भरे पैरों पर रीझता है न किसी के अन्याय-अत्याचार पर खीझता है। इस लिए शुक्ल जी अर्थ की क्रीड़ा को 'निष्ठुर क्रीड़ा' कहते हैं जिसमें सहृदयता और भावुकता का भंग हो जाता है, व्यक्ति अपने वृत्त में ही सीमित हो कर जीवन की अखंडता और व्यापकता की अनुभूति का विसर्जन कर देता है। (२५०) ऐसा व्यक्ति और किसी का नहीं होता केवल पैसे का होता है। शुक्ल जी ने स्थान-स्थान पर स्वार्थी या हृदय-हीनों को 'अर्थ परायण' ही कहा है। उन्होंने अर्थ परायण का अर्थ ही 'अपने काम से काम रखने वाला' लिया है। (१५९) अतएव जो व्यक्ति अपने सहज स्वभाव से हँस-रो न सके, स्वार्थ की शुष्क प्रेरणा से ही कार्य करे उसे शुक्ल जी जड़ कहते हैं। (५३) इस सभ्यता ने मनुष्य को कृत्रिम बना दिया है। प्रचलित सभ्यता और जीवन की कठिनता से मनुष्य अपने स्वाभाविक मनोवेगों को मारने और अशान्त करने पर विवश होता है, इन का पूर्ण और सच्चा निर्वाह उसके लिए कठिन होता है और इस प्रकार उसके जीवन का स्वाद निकल जाता है। उसे अनेक काम अपने सहज स्वभाव के विरुद्ध झूठे शिष्टाचार के नाते करने पड़ते हैं। ऐसा बार बार होने से सद्भाव का अभ्यास कम हो जाता है जिससे उसकी मनोवृत्ति भी दूषित हो जाती है और स्वभाव में असत्य घर कर जाता है। (५३-५४)

भारतीयों ने पुरुषार्थ चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—को जीवन-साध्य माना है। भारतीय महाकाव्यों में भी इनकी प्राप्ति को तत्त्व-रूप में ग्रहण किया गया है। अर्थ भी जीवन-निर्वाह या जीवन के सुख के लिए अनिवार्य है। शुक्ल जी ने भी पूँजीवाद या अर्थवाद का विरोध किया है, अर्थ का नहीं। हम पहले लिख चुके है शुक्ल जी निवृत्तिमार्गी नहीं। वे 'इस दुःखमय संसार में सुख की इच्छा और प्रयत्न प्राणियों का लक्षण' बताते हैं। (२६४) इस सुखप्राप्ति में, ऐहिक जीवन की समृद्धि में अर्थ और काम दोनों अनिवार्य हैं। शुक्ल जी अर्थ को काम या सुख का साधन बताते हैं। वे इन दोनों में संतुलन अनिवार्य समझते हैं। वे लिखते हैं—"अर्थ है संचय, आयोजन और तैयारी की भूमि; काम भोग-भूमि है। मनुष्य कभी अर्थ-भूमि पर रहता है, कभी काम-भूमि पर। अर्थ और काम के बीच जीवन बाँटता हुआ वह चला चलता है। दोनों का ठीक सामञ्जस्य सफल जीवन का लक्षण है। जो अनन्य भाव से अर्थ-साधना में ही लीन रहेगा वह हृदय खो देगा; जो आँख मूँदकर कामचर्य्या में ही लिप्त रहेगा, वह किसी अर्थ का न रहेगा। औरंगज़ेब बराबर अर्थ भूमि पर ही रहा। मुहम्मदशाह सदा कामभूमि पर ही रह कर रंग बरसाता रहा।" (२६४)

भारतीयों के अनुसार जीवन का लक्ष्य है अभ्युदय और निश्रेयस्। धर्म, अर्थ और काम अभ्युदय के अन्तर्गत तथा मोक्ष निःश्रेयस् में आता है। शुक्ल जी ने अपनी धर्म की परिभाषा में उस व्यवस्था या वृत्ति को जिससे लोक में मंगल का विधान होता है, 'अभ्युदय' की सिद्धि होती है, धर्म कहा है। (२१७) अतएव उनके धर्म में अर्थ और काम तो आ ही जाते हैं और यह ध्वनि भी मिल जाती है कि लोकमंगल के लिए अर्थ और काम पर भी धर्म का नियंत्रण आवश्यक है—मनुष्य धर्मानुसार अर्थ और काम का सेवन करे। ये भी भारतीय परम्परा के अनुकूल है। इसी प्रसंग से यह ध्वनि भी निकलती है कि शुक्ल जी भोग और त्याग में संतुलन चाहते थे।

ऊपर हमने यह स्पष्ट किया है कि शुक्ल जी ने आधुनिक पूंजीवादी सभ्यता तथा व्यक्तिवाद का विरोध किया है। उनकी दृष्टि समाज के धनी-निर्धन वर्गों पर भी रही। उन्होंने लघुता को विशेष सहानुभूति दी है और परशोषण-पुष्ट पूंजीपतियों पर व्यंग्य विद्रूप भी किया है:— "मोटे आदमियो ! तुम ज़रा-सा दुबले हो जाते—अपने अंदेशे से ही सही —तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।" यहाँ प्रगतिवादियों की सी बात उन्हीं की खरी-खरी भाषा में कही गई है। इन सभी बातों से ऐसा लगता है कि शुक्ल जी विश्व भर में समानता चाहते थे। उनका भारतीय एकात्मवाद में विश्वास, शेष सृष्टि के साथ सामंजस्य स्थापना वाला रस-सिद्धान्त सभी इस बात की पुष्टि करते हैं। फिर भी समानता की अधिक से अधिक कल्पना करते हुए भी मानवीय मनोवृत्तियों के वैविध्य के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को नहीं भूले, अपितु इसी आधार पर वे समानता को असम्भव बताते हैं। उन्होंने स्पष्ट उद्घोष किया है—"एक एक व्यक्ति के दूसरे दूसरे व्यक्तियों के लिए सुखद और दुःखद दोनों रूप बराबर रहे हैं और रहेंगे। किसी प्रकार की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था—एकशाही से लेकर साम्यवाद तक इस दोरंगी झलक को दूर नहीं कर सकती। मानवी प्रकृति की अनेकरूपता शेष प्रकृति की अनेक-रूपता के साथ चलती रहेगी। ऐसे समाज की कल्पना, ऐसी परिस्थिति का स्वप्न, जिसमें सुख ही सुख और प्रेम ही प्रेम हो, या तो लम्बी-चौड़ी बात बनाने के लिए अथवा अपने को या दूसरों को फुसलाने के लिए ही समझा जा सकता है।" (१२६) वस्तुतः शुक्ल जी व्यक्तिवाद का विरोध करते हैं किन्तु व्यक्तिगत वैषम्य को सत्य मानते हैं। अन्यत्र भी उन्होंने दो स्थलों पर अपनी बात को कहा है। यही नहीं वे कहते हैं—"संसार में मनुष्य मात्र की समान वृत्ति कभी नहीं हो सकती। इस बात को भूल कर जो उपदेश दिए जाया करते हैं वे पाखण्ड के अन्तर्गत आते हैं।" (४३) शुक्ल जी अपनी बात को दृढ़ता से कहते हैं फिर चाहे उन्हें कितनों का ही विरोध क्यों न करना पड़े। यह अपने प्रति ईमानदारी उनका

बड़ा गुण है, बड़ी शक्ति है। आगे अपने मार्ग को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"वृत्तियों की भिन्नता के बीच से जो मार्ग निकल सकेगा वही लोक-रक्षा का मार्ग होगा वही धर्म का चलता हुआ मार्ग होगा। जिसमें शिष्टों के आदर, दीनों पर दया, दुष्टों के दमन आदि जीवन के अनेक रूपों का सौन्दर्य दिखाई पड़ेगा, वही सर्वांगपूर्ण लोक-धर्म का मार्ग होगा।" (४३) ‡

'लोभ और प्रीति' में शुक्ल जी ने देशभक्ति की भी विशेष चर्चा की है। वे लिखते हैं—"किसी को कोई स्थान बहुत प्रिय हो जाता है और वह हानि और कष्ट उठाकर भी वहाँ से नहीं जाना चाहता। हम कह सकते हैं कि उसे उस स्थान का पूरा लोभ है। जन्म भूमि का प्रेम, स्वदेश प्रेम यदि वास्तव में अन्तःकरण का कोई भाव है तो स्थान के लोभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस लोभ के लक्षणों से शून्य देश-प्रेम कोरी बकवाद या फैशन के लिए गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म··· सबसे प्रेम होगा,···सबकी सुध करके विदेश में आँसू बहाएगा। जो ये भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है······जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोंपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश-प्रेम का दावा करें, तो उनसे पूछना चाहिए कि "भाइयो! बिना परिचय का यह प्रेम कैसा? जिनके सुख-दुख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह समझते नहीं बनता।···" उपोयुक्त अवतरण से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी भूमि, भूमिवासी जन तथा अन्य प्राणियों के प्रति रागात्मक उत्साह को देशभक्ति समझते हैं।

---

‡ पृ० १०२ पर भी उन्होंने यही विश्वास प्रकट किया है—"दृढ़ता और हठ, धीरता और आलस्य, सहनशीलता और भीरुता, उदारता और फ़ज़ूल खर्ची, किफ़ायत और कंजूसी आदि के बीच की सीमाएँ मनुष्यों के हृदय में न एक हैं और न एक होंगी।"

इसलिए वे देशभक्ति को भी एक प्रकार का लोभ कहते हैं। मनोवेग-वर्जित हिसाब-किताब में देश के प्रति आवश्यक त्याग का उत्साह नहीं हो सकता। दूसरे शुक्ल जी ने अपने देश से, उसकी प्रकृति तथा समस्याओं से, घनिष्ठ परिचय को आवश्यक बताया है क्योंकि 'परिचय प्रेम का प्रवर्तक है।' (७७) घनिष्ठ परिचय से तात्पर्य है अनुभूत्यात्मक या साक्षात परिचय से। इसलिए वे कहते हैं: "बाहर निकलो तो आँखें खोल कर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं···अमराइयों के बीच में गाँव झाँक रहे हैं। उनमें घुसो, देखो तो क्या हो रहा है। जो मिलें उनसे दो दो बातें करो, उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी-आध-घड़ी बैठ जाओ और समझो कि ये सब हमारे हैं।" (७८) अधिक क्या, इस प्रसंग में जैसे शुक्ल जी का हृदय रम रहा है, भावुकता फूट रही है। देश से इसी प्रकार का हार्दिक सम्बन्ध आवश्यक है। स्पष्टीकरण के लिए कहें तो यदि किसी को देश-प्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित ही नहीं 'अभ्यस्त' होना आवश्यक है। तब ही किसी में ऐसी इच्छा का उदय हो सकता है कि वह देश न छूटे, सदा हरा-भरा, फला-फूला रहे, उसके धनधान्य की वृद्धि हो, और उसके सब प्राणी सुखी रहें। (७८)

शुक्ल जी ने कालिदास के 'मेघदूत' की प्रशंसा कल्पना की उत्कृष्टता आदि किसी परम्परागत आधार पर नहीं की। शुक्ल जी ने देशभक्ति के कारण उसे महत्त्व दिया है। वे लिखते हैं—'पूर्वमेघ' तो यहाँ से वहाँ तक प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी या भारतभूमि के स्वरूप का ही मधुर ध्यान है। जो इस स्वरूप के ध्यान में अपने को भूलकर कभी-कभी मग्न हुआ करता है, वह घूम घूम कर वक्तृता दे या न दे, चन्दा इकट्ठा करे या न करे, देशवासियों की आमदनी का औसत निकाले या न निकाले, सच्चा देशप्रेमी है। मेघदूत न कल्पना की क्रीड़ा है, न कला की विचित्रता। वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूप-माधुरी पर सीधी-सादी प्रेम दृष्टि।" (१४९) यहाँ

कालिदास की उत्कृष्ट कल्पना का आधार भी स्पष्ट हुआ है और शुक्ल जी का आलोचनात्मक दृष्टिकोण तथा आधार भी—कालिदास की कल्पना की समृद्धि का मूल अपनी भूमि से घनिष्ठ परिचय है और यही शुक्ल जी की आलोचना को भी शक्ति दे सका है। मेघदूत का उदाहरण देकर शुक्ल जी ने बौद्धिक या शाब्दिक देश भक्ति पर व्यंग्य भी किया है और अपनी भूमि से प्रगाढ़ रागात्मक सम्बन्ध का द्रवित समर्थन भी।

शुक्लजी इस परिचय को भी विस्तृत अर्थ में लेते हैं—देश के वर्तमान स्वरूप से तो अनुभूत्यात्मक परिचय होना ही चाहिए, देश की परम्पराओं, संस्कृति के निर्माता महापुरुषों से भी परिचय होना आवश्यक है। इसलिए शुक्लजी कहते हैं: "अतीत की ओर दृष्टि फैलाओ, राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन, विक्रम, कालिदास, भवभूति इत्यादि का स्मरण करो जिससे ये सब नाम तुम्हारे प्यारे हो जायें। इनके नाते भी यह भूमि और इस भूमि के निवासी तुम्हें प्रिय होंगे। (७८) दुख है कि अधिकांश हिन्दू-इतर सम्प्रदाय इस महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय दृष्टिकोण को हृदयंगम नहीं कर पाए।

देश के प्रति रागात्मक उत्साह का मूल्यांकन, उसके प्रति किए गए त्याग के आधार पर किया जा सकता है। शुक्ल जी देश के प्रति उस प्रेम और त्याग को आदर्श मानते हैं जैसा रसखान का ब्रजभूमि के प्रति था। रसखान ने कहा था—

> नैनन सौं रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं
> केतिक ये कलधौत के धाम करील के कुञ्जन ऊपर वारौं

'करील के कुंजों' पर 'कलधौत के धाम' और 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्याग सकने वाले ही देशभक्तों के आदर्श हो सकते हैं। (७७) रसखान की सी व्यापक दृष्टि रखने वाले देश की रक्षा के लिए अवसर पड़ने पर घर का लोभ क्या प्राण तक का लोभ छोड़ देते हैं। (८०)

शुक्ल जी की देशभक्ति स्वस्थ है—विश्व प्रेम की साधक है, बाधक नहीं। वे प्राचीन काल के यूनान के उस स्वदेश प्रेम की निंदा करते हैं

जिस ने आगे चल कर समग्र योरप को अशांत किया था। वे उस देश-प्रेम का भी घोर विरोध करते हैं जो अपना पोषण करने के लिये दूसरे देशों को चलते-फिरते कंकालों के कारागार बना देता है। (१२६) शुक्ल जी उन आत्माओं को अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँची मान सकते हैं जो समस्त भेदभाव भेद कर सारे संसार की रक्षा चाहती है—जिस स्थिति में भूमण्डल के समस्त प्राणी, कीट-पतंग से लेकर मनुष्य तक सुख पूर्वक रह सकते है, उनकी अभिलाषिनी होती है। और ऐसी परार्थी आत्माओं से जो विरोध करते हैं उन्हें शुक्ल जी 'सारे संसार के विरोधी' तथा 'लोक कण्टक' मानते हैं। (८१)

विश्व-प्रेम के सम्बन्ध में भी शुक्ल जी का व्यावहारिक दृष्टिकोण है। एक देश के लिए आतंक-मुक्त होने के लिए यही पर्याप्त नहीं कि वह दूसरे देश पर आक्रमण न करे, किसी की बुराई न सोचे; यह भी आवश्यक है कि कोई अन्य देश उसे किसी प्रकार कष्ट पहुँचाने का साहस न कर सके। पहले का सम्बन्ध शील से है दूसरे का शक्ति और पुरुषार्थ से। अतएव एक देश के लिए शील-सम्पन्न होने के साथ शक्ति-सम्पन्न होना भी आवश्यक है ताकि न वह किसी को भय दिखाए और न किसी से भय खाए। (१३०)

पहले महायुद्ध के बाद समग्र संसार में युद्धों की प्रतिक्रिया स्वरूप जो विश्व-प्रेम तथा आध्यात्मिकता का बोल बाला दिखाई दिया, इसके पीछे कोई स्थाई आधार नहीं था, महज़ प्रतिक्रिया थी—शुक्ल जी ने इस बात को भली-भाँति समझा था जो आगे ठीक साबित हुई। शुक्ल जी ने लिखा—"जब तक योरप की जातियों ने आपस में लड़कर रक्त नहीं बहाया तब तक उन का ध्यान अपनी इस (अर्थोन्माद वाली) अंध-नीति के अनर्थ की ओर नहीं गया। गत महायुद्ध के पीछे जगह-जगह स्वदेश-प्रेम के साथ-साथ विश्व प्रेम उमड़ता दिखलाई देने लगा। आध्यात्मिकता की भी बहुत कुछ पूछ होने लगी। पर इस विश्व प्रेम और आध्यात्मिकता का शाब्दिक प्रचार ही अभी तो देखने में आया

है। इस फैशन की लहर भारतवर्ष में भी आई। पर कोई फैशन के रूप में गृहीत इस 'विश्व प्रेम' का और अध्यात्म की चर्चा का कोई स्थायी मूल्य नहीं, इसे हवा का एक झोंका ही समझना चाहिए।" (१३०)

हम समझते हैं कि दूसरे महायुद्ध के बाद भी शुक्ल जी की बात अपना महत्त्व रखती है। आज भी योरप आदि में युद्ध प्रेम की प्रतिक्रिया स्वरूप तथा नए विध्वंसक अस्त्रों के भय के कारण विश्व प्रेम या विश्व-शांति का उमड़ता स्वरूप दिखाई देता है। उसका कोई गम्भीर आध्यात्मिक आधार नहीं। दूसरे देशों पर आर्थिक प्रभुत्व स्थापित करने की अंधनीति तथा पूँजीप्रधान सभ्यता-संस्कृति को जब तक तिलांजलि नहीं दी जाती विश्वप्रेम की दुहाई देना व्यर्थ है। शुक्ल जी ने मानो भारतवर्ष जैसे शांतिप्रिय देश को योरप के ऊपरी विश्वप्रेम से सचेत किया है। हम शांतिकामी रहें, विश्वशांति के प्रसार के लिए प्रयासरत भी रहें किन्तु इसके भुलावे में अपने को सबल बनाना न भूल जाएँ।

सारतः शुक्ल जी की आलोचना के समान उनके विचार भी महत्त्वपूर्ण हैं। शुक्ल जी का रचनात्मक कृतित्व सिद्ध करता है कि एक आलोचक आलोच्य साहित्य तक सीमित रहकर सफल नहीं हो सकता, उसका समाज तथा समस्याओं से भली भाँति परिचित होना आवश्यक है। जीवन और आलोचना में ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध उनकी आलोचना की शक्ति है। उनकी आलोचनाओं की दृढ़ता में उनके भली भाँति समझे हुए जीवन-सिद्धांत बोल रहे हैं। इसलिए वे रचनात्मक आलोचक हो सके।

शुक्ल जी के विचारों में प्रगति और परम्परा का अपूर्व समन्वय मिलता है। उन्होंने आज की नूतन विचारधाराओं का ग्रहण वहीं तक किया जहाँ तक वह इस देश की संचित संस्कृति और मौलिकता के भीतर समाहित हो सके। इस बात का निषेध भी नहीं किया जा सकता कि उनका मूल आधार हमारा प्राचीन समृद्ध साहित्य, अमर महापुरुष लचीली संस्कृति तथा वर्तमान जीवन के अनुभव रहे और इसलिए वे किसी सामयिक फ़ैशन की लहर में न बहते हुए भी अपने युग-धर्म का निर्वाह कर सके।

शुक्ल जी के निबंधों का वर्गीकरण

साहित्यिक वर्गीकरण आत्यन्तिक नहीं हो सकते, ये स्पष्टीकरण की सुविधा को लक्ष्य में रखकर किये जाते हैं। व्यक्ति में विचार, भावना तथा कल्पना के अलग-अलग खाने नहीं होते—ये सभी समन्वित हैं। इसी प्रकार उस के अभिव्यक्त साहित्यिक रूपों का भी विलगीकरण असम्भव है। निबन्ध की भी यही स्थिति है। निबन्ध के विचारात्मक, भावात्मक, व्यक्तिपरक (personal), वर्णनात्मक, विवरणात्मक आदि भेदों का लक्ष्य भी निबन्ध में प्रधान तत्त्वों के आधार पर स्पष्टीकरण है, वैसे न्यूनाधिक मात्रा में, संयुक्त रूप में सभी तत्त्व विद्यमान रहते हैं और उनका पृथक-पृथक खण्डशः विभाजन असम्भव है।

निबन्ध के उपर्युक्त प्रकारों में शुक्ल जी ने अपने निबन्धों को विचारात्मक कहा है। 'चिन्तामणि' में 'क्या है?' के स्पष्टीकरण के लिए मुख पृष्ठ पर वर्गाकार कोष्ठक में ही लिखा है "विचारात्मक निबन्ध।"

शुक्ल जी ने विचारात्मक निबन्धों को विशेष महत्त्व दिया है। वे लिखते हैं—"विश्वविद्यालयों के उच्च शिक्षा-क्रम के भीतर हिन्दी-साहित्य का समावेश हो जाने के कारण उत्कृष्ट कोटि के निबन्धों की—ऐसे निबन्धों की जिनकी असाधारण शैली या गहन विचारधारा पाठकों को मानसिक श्रम-साध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े—जितनी आवश्यकता है, उतने ही कम वे हमारे सामने आ रहे हैं।"[†] 'चिन्तामणि' के निबन्ध मानो इसी पूर्ति-प्रयास के पगे पग हैं जिस पर चलने के लिए शुक्ल जी और भी यात्रियों की कामना करते हैं। 'चिन्तामणि' नाम भी निबन्धों के विचारात्मक होने का परिचायक है।

[†] हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं० २००३ का संस्करण, पृ० ५५८

शुक्ल जी ने अपने 'निवेदन' में भी स्पष्ट लिखा है—"इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिये निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि, जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँचती है वहाँ हृदय थोड़ा बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धिपथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ-न-कुछ पाता रहा है।" इस से स्पष्ट है कि ये निबन्ध बुद्धि-तत्त्व-बहुल हैं और हृदय तत्त्व निबन्धों को बुद्धि-बोझिल होने से बचाता रहा है। अतएव इनमें विचार तत्त्व प्रधान है, भाव तत्त्व सहायक मात्र है। ये निबन्ध विचारात्मक हैं, भावात्मक नही। चिन्तामणि के पहले दस निबन्ध 'भाव या मनोविकार' विषयक हैं तथा शुक्ल जी का दृष्टिकोण रसवादी है, इसलिए ही इन्हें भावात्मक नहीं कहा जा सकता—इसमें रसवादी दृष्टिकोण से (फिर भी रस शास्त्री की तरह नहीं) भावों की व्यावहारिक व्याख्या-विवेचना है, उनके स्वरूप का विचारात्मक प्रतिपादन है, किसी आलम्बन से उद्‌बुद्ध-उद्दीप्त भावों का विकास या प्रकाशन नहीं। निबन्ध शैली में तर्क-युक्ति, कार्य-कारण खण्डन-मण्डन विचारात्मक निबन्धों के अनुकूल है। अवश्य ही इन निबन्धों में यत्र-तत्र शुक्ल जी का हृदय रमा है, और वहाँ पाठक का हृदय भी रमता है, भावों का मूर्तिकरण भी कहीं-कहीं मार्मिक है, पर इसी से तो ये आदर्श विचारात्मक निबन्ध बन सके हैं—हृदय-हीनता या भाव-विहीनता तथा विचार-भार से पाठक के लिए लोहे के चने नहीं बनते। वस्तुतः कहीं-कहीं आए भावात्मक स्थलों में पाठकों की वृत्तियों को विश्राम मिलता है और उन्हें मानसिक श्रम-साध्य नूतन उपलब्धि में सुगमता होती है।† सारतः शुक्ल जी के निबन्ध विचारात्मक हैं, भावात्मक नहीं।

---

† इस सम्बन्ध में दो आलोचक विद्वानों ने चरम विरोधी मत प्रकट किए हैं, एक इन्हें 'भावात्मक निबन्ध' कहना 'अधिक सार्थक' समझते हैं, दूसरे इनकी शैली में पूरी नीरसता देखते हैं। दोनों चरम विरोधों से

इन विचारात्मक निबन्धों के भी विषय के आधार पर दो भेद किए जा सकते हैं—मनोविज्ञान विषयक तथा आलोचनात्मक। पहले प्रकार में

परोक्ष रूप में उक्त मत की पुष्टि होती है कि ये न तो भावात्मक हैं, न नीरस। दोनों मत लीजिए—

(क) "...अनेक निबन्ध ऐसे हैं जिनमें विचार संतुलन, विचार-संगठन और विचारोत्पादन की क्षमता के स्थान में किसी आलम्बन के सहयोग से भाव का विकास करने की प्रवृत्ति अधिक है, जिससे उन्हें भावात्मक निबन्ध कहना ही अधिक सार्थक होगा।"
('समीक्षक-प्रवर श्री रामचन्द्र शुक्ल' पृ० ५९, गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश')

* * * *

"......इनमें से कुछ में लेखक ने जहाँ-तहाँ अपने साहित्यिक व्यक्तित्व से सम्बन्धित चर्चाएँ छेड़ी हैं, मूर्त्ति विधान द्वारा अमूर्त्त विचारों और भावों को ग्राह्य बनाया है, दृष्टान्तों के प्रयोगों द्वारा रोचकता उत्पन्न की है और कहीं-कहीं रसात्मकता की धारा प्रवाहित करके पाठकों को उन में स्नान कराया है साथ ही यह भी पायेंगे कि कुछ में इन सब विशेषाताओं का अभाव है। जिन निबन्धों में उक्त विशेषताएँ सर्वांश में नहीं हैं अथवा स्वल्पांश में हैं उन्हें विचारात्मक मानना चाहिए और जिनमें वे अधिकांश में विद्यमान हैं उन्हें भावात्मक समझना चाहिए।" (वही पृ० ५९-६०)

(ख) "...रामचन्द्र शुक्ल ने आचार्यों की गुरु गम्भीरता का अनुकरण किया। उनकी शैली बड़ी गम्भीर है और ऐसा जान पड़ता है मानो कोई बहुत ही विद्वान, अनुभवी और अध्ययनशील पुरुष अच्छी तरह खाँस खूँस कर अपने शुष्क पांडित्य का प्रदर्शन कर रहा है, यथा : 'वैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है।'

* * * *

"रामचन्द्र शुक्ल की शैली में शुष्कता और नीरसता अधिक है।"
('आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' पृ० १८०, डा० श्रीकृष्णलाल)

भाव या मनोविकार सन्बन्धी चिन्तामणि के प्रथम दस निबन्ध आते हैं, दूसरे में अन्तिम सात। यह वर्गीकरण भी स्थूल है—मात्र समझने की सुविधा के लिए—क्योंकि दोनों विभाग भी परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। एक ही व्यक्तित्व, एक ही दृष्टिकोण सभी में मिलता है। शुक्ल जी का लोकहित समन्वित रसवादी दृष्टिकोण सर्वत्र लक्षित होता हैं। अब हम इसी का स्पष्टीकरण करेंगे। भाव या मनोविकार विषयक तथा आलोचनात्मक निबन्धों के सैद्धांतिक निबन्धों—जैसे 'भाव या मनोविकार' तथा 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्धों—का तुलनात्मक अध्ययन करने पर एक ही सिद्धान्त दोनों में मिलता है। समस्त मानव जीवन के प्रवर्तक भाव-मनोविकार हैं। इन्हीं में जीवन की सजीवता है। लोक-रक्षा तथा लोक-रंजन की सारी व्यवस्था का ढाँचा इन्हीं पर ठहराया गया है। इन का सदुपयोग भी हुआ है दुरुपयोग भी (४), इनका वास्तविक सदुपयोग इसी में है कि इनके प्रासर से शेष सृष्टि के साथ सामंजस्य स्थापित किया जाय—समाज के सुख-दुःखों से तादात्म्य स्थापित किया जाए। भाव तत्त्व प्रधान कविता मानव को स्वार्थों से मुक्त कर समाज तथा प्रकृति के साथ सामंजस्य-साधना में सर्वाधिक सहायक सिद्ध हो सकती है क्योंकि कविता की पहुँच आंतरिक है, बाह्य नहीं—यह उपदेश नही देती, अन्तःकरण में प्रवृत्ति-निवृत्ति को उद्‌बुद्ध करती है। (५) ये उपर्युक्त विचार प्रथम निबन्ध के हैं। शुक्लजी ने साहित्य की विधाओं में कविता को सर्वाधिक महत्त्व दिया है और अपनी आलोचनाओं को भी प्रधानतया इसी तक सीमित रखा है। आगे के निबन्धों में उनकी यही रुचि मिलती है। भावों के प्रसार से व्यष्टि-समष्टि की सामंजस्य-साधना प्रकारांतर से शुक्ल जी का रसवादी दृष्टिकोण है। इसी आधार पर उन्होंने 'कविता क्या है' का स्पष्टीकरण किया है। (२४१-४२) पहले निबन्ध में शुक्ल जी लिखते हैं—'भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।' (५) भक्त क्योंकि संसार में रहता है और ज्ञानी उससे तटस्थ या विरक्त हो जाता है अतएव अपने रसवादी दृष्टिकोण के अनुकूल उन्होंने भक्ति तथा भक्त कवियों को विशेष महत्त्व

दिया है। काव्य में लोक-मंगल की 'साधनावस्था' के प्रथम प्रघटक में इसी का प्रतिपादन है। 'मानस की धर्म भूमि' का प्रथम वाक्य ही यही है (२०७) और इसी आधार पर मानस की धर्म भूमि को स्पष्ट किया गया है। वैसे चिन्तामणि के निबन्ध एक पुस्तक की योजना के अनुसार न लिखे जाकर समय समय पर लिखे गए और इसीलिए ये अपने आपमें पूर्ण भी हैं। कहीं-कहीं एक ही निबन्ध की बात दूसरे निबन्ध में भी आ गई है। फिर भी कहीं-कहीं आलोचनात्मक निबन्धों में आलोचना करते समय शुक्ल जी उन सिद्धान्तों का उल्लेख करते हैं जो वे भाव या मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में निर्धारित कर चुके हैं, जैसे 'मानस की धर्म भूमि' में लिखते हैं—'धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है, यह हम कहीं कह चुके हैं' (२०७) या 'कविता क्या है' में लिखते हैं कि भावों या मनोविकारों के विवेचन में हम कह चुके हैं कि मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करने वाली मूल प्रवृत्ति भावात्मिका है।" (२५७) पहले निबन्ध के समान अन्य भाव-मनोविकार विषयक निबन्धों में व्यक्त शुक्ल जी के जीवन-सिद्धान्त आलोचनात्मक निबन्धों में काव्य के सिद्धान्त बन गए हैं। राम प्रेम, तुलसी प्रेम, प्रकृति प्रेम, आसीत प्रेम, क्षात्र धर्म प्रेम सभी निबन्धों में समान रूप से मिलता है। 'भय' निबन्ध में फैशन के रूप में गृहीत 'अध्यात्म' शब्द से अरुचि प्रकट की गई है (१३०) और यही बात काव्य के लिए 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' निबन्ध में कही गई है। (२२५) करुणा के आज्ञाकारी सात्विक क्रोध (१३७) तथा क्षात्र-धर्म के महत्त्व पर (१३०) पहले निबन्धों में चर्चा है और इसी को शुक्ल जी काव्य में लोक-मंगल की व्यवस्था की दृष्टि से महत्त्व देते हैं। जीवन में जो भाव-मनोविकार हैं वही काव्य में स्थायी भाव या संचारी भावों की संज्ञा प्राप्त किये हैं—यह भाव-मनोविकार जीवन तथा साहित्य दोनों का आधार है। अतएव जीवन और साहित्य का जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है वही सम्बन्ध भाव-मनोविकार विषयक निबन्धों तथा साहित्यिक (आलोचनात्मक) निबन्धों में है।

ये सभी निबन्ध विवेचनात्मक हैं फिर भी विषय-भेद से इनमें कतिपय अन्तर भी लक्षित होते हैं। पहले निबन्धों में दूसरे निबन्धों की अपेक्षा व्यक्तित्व का आवेश, आत्म चरित-मूलक अभिव्यक्ति, व्यंग्य विनोद के छींटे, जन-जीवन के क्षेत्र से रोचक उदाहरण अधिक हैं अतएव सरसता भी अधिक है। आलोचनात्मक निबन्धों में साहित्य-सिद्धांतों की प्रौढ़ स्थापना से अधिक गम्भीरता आ गई है। गद्य शैली में भी कुछ अन्तर हैं। पहले निबन्धों में वाक्य अपेक्षाकृत छोटे तथा वाक्य-रचना सरल है, दूसरे निबन्धों में वाक्य लम्बे तथा वाक्य-रचना जटिल है। पहले निबन्धों में दूसरे निबन्धों से तद्भव तथा देशज शब्द तथा मुहावरे-लोकोक्तियाँ अपेक्षाकृत अधिक हैं। गम्भीर साहित्यिक निबन्धों में भी सरसता की दृष्टि से 'कवित क्या है' तथा सरलता की दृष्टि से 'भारतेन्दु' हरिश्चन्द्र' पहले निबन्धों के अधिक निकट हैं।

अब हम इन दोनों विभागों का स्पष्टीकरण के लिए अन्तर्विभाग करेंगे।

भाव या मनोविकार विषयक निबन्धों में पहला निबन्ध 'भाव या मनोविकार' सैद्धांतिक है तथा दूसरे नौ निबन्ध उत्साह, श्रद्धा-भक्ति आदि व्यावहारिक हैं। पहले निबन्ध में मानव जीवन में भाव-मनोविकारों की स्थिति का परिचय और शेष निबन्धों में विशिष्ट भाव-मनोविकारों को लिया गया है। पहले निबन्ध में भावों के प्रसार-परिष्कार की जिस आचारात्मक मनोवैज्ञानिकता तथा लोकहित समन्वित रसवादी दृष्टिकोण की स्थापना है उसी के आधार पर 'उत्साह', 'श्रद्धा-भक्ति' आदि में भाव-मनोविकारों की उत्पत्ति-स्थिति प्रभाव-परिष्कृति आदि का विवेचन हुआ है। उदाहरणतया 'भाव या मनाविकार' निबन्ध में माना है कि मानव जीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं·········लोक रक्षा और लोक-रंजन की सारी व्यवस्था का ढाँचा इन्हीं पर ठहराया गया है।' यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि है और इसी के अनुसार आगे के निबन्धों में किसी भाव-मनोविकार—क्रोध-लोभ आदि—को न बुरा बताया है न

उसके दमन पर बल दिया है। वे सर्वत्र यही कहते हैं—"रागों के सम्पूर्ण दमन की अपेक्षा, रागों का परिष्कार ज्यादा काम में आने वाली बात है" (४२) या "मनोवेग वर्जित सदाचार दम्भ या झूठी कवायद है।" (४८) पहले निबन्ध में वे कहते हैं इन भाव-मनोविकारों का "सदुपयोग भी हुआ है, दुरुपयोग भी।" (४) शुक्ल जी ने आगे भी प्रत्येक भाव-मनोविकार के विवचेन में इस नैतिक दृष्टि या उपयोगिता-अनुपयोगिता या सदुपयोगिता-दुरुपयोगिता की दृष्टि से काम लिया है। जैसे शुक्ल जी करुणा के लिए लिखते हैं—"सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है।" (५१)

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, स्पष्टीकरण के लिए, इन भाव-मनोविकारों का विभाजन सम्भव है। भाव या मनोविकारों के विवेचन में शुक्ल जी ने सुख-दुःख-अनुभूति की विभाजक रेखा से भी काम लिया है। भाव या मनोविकार किन परिस्थितियों में सुख का रूप धारण करके उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, लोभ-प्रीति आदि तथा दुख रूप में लज्जा-ग्लानि, घृणा ईर्ष्या, क्रोध आदि में विभक्त हो जाता है, यह प्रायः सभी निबन्धों में स्पष्ट हुआ है। पहले सैद्धांतिक निबन्ध में इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए शुक्ल जी लिखते हैं—"·········सुख और दुःख की मूल अनुभूति ही विषय-भेद के अनुसार, प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, घृणा आदि मनोविकारों का जटिल रूप धारण करती है। †× × मनोविकार या भावों की अनुभूतियाँ परस्पर तथा सुख या दुख की मूल अनुभूति से ऐसी ही भिन्न होनी हैं जैसे रासायनिक मिश्रण परस्पर तथा अपने संयोजक द्रव्यों से भिन्न होते हैं। विषयबोध की विभिन्नता तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली इच्छाओं की विभिन्नता के अनुसार मनोविकारों की अनेकरूपता का विकास होता है।" * जैसे क्रोध-भय दोनों दुःख की मूल अनुभूति से उत्पन्न होकर भिन्न-भिन्न विपरीत

†चिंतामणि पृ० १. *चिंतामणि पृ० २. शुक्लजी ने 'रस मीमांसा' शीर्षक पुस्तक में भी इसी को स्पष्ट किया है। देखिए १९१-२०१

चेष्टाओं या अनुभावों वाला रूप धारण कर लेते हैं। दुःखकारक वस्तु आलम्बन के प्रतिकार या निराकरण की शक्ति में आश्वस्त आश्रय में क्रोध उत्पन्न होगा और उसके प्रतिकार में अक्षम आश्रय में भय। दुख के एक रूप में वह आगे बढ़ेगा, दूसरे रूप में वह पीछे भागेगा। इसी तरह शुक्ल जी स्पष्ट कहते हैं—"दुःख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उल्टा क्रोध है। क्रोध जिस के प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिस के प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है।" (४४) सारतः एक ही सुख-दुःख की अनुभूति विषयभेद से भिन्न-भिन्न भाव या मनोविकारों का रूप धारण कर लेती है।

सुख-दुख के अतिरिक्त मनोविकारों को स्पष्ट करने के लिए शुक्लजी उनको प्रेष्य-अप्रेष्य दो प्रकारों में विभक्त करते हैं—"प्रेष्य वे हैं जो एक के हृदय में पहले के प्रति उत्पन्न होकर दूसरे के हृदय में भी पहले के प्रति उत्पन्न हो सकते हैं, जैसे क्रोध, घृणा, प्रेम इत्यादि। जिस पर हम क्रोध करेंगे वह (हमारे क्रोध के कारण) हम पर भी क्रोध कर सकता है। जिससे हम प्रेम करेंगे वह हमारे प्रेम को देख हमसे भी प्रेम कर सकता है। अप्रेष्य मनोविकार जिसके प्रति उत्पन्न होते हैं उसके हृदय में यदि करेंगे तो सदा दूसरे भावों की सृष्टि करेंगे। इनके अन्तर्गत भय, दया, ईर्ष्या आदि है। जिससे हम भय करेंगे वह हमसे हमारे भय के प्रभाव से भय नहीं करेगा बल्कि हम पर दया करेगा। जिस पर हम दया करेंगे वह दया के कारण हम पर दया नहीं करेगा बल्कि श्रद्धा करेगा।" (१०२-३)

आगे शुक्ल जी प्रेष्य मनोवेगों से सावधान रहने के लिए कहते हैं क्योंकि ये सजातीय संयोग पाकर बहुत जल्दी बढ़ते हैं। किन्तु अप्रेष्य मनोवेग का विजातीय मनोवेगों से संयोग होने से वृद्धि नहीं हो सकती, जैसे "एक के क्रोध को देखकर दूसरा क्रोध करेगा, दूसरे का क्रोध बढ़ते देख पहले का क्रोध बढ़ेगा। पहले का बढ़ते देख दूसरे का क्रोध और बढ़ेगा, इस प्रकार एक अत्यन्त भीषण क्रोध का दृश्य उपस्थित हो सकता

है।" किन्तु "जिससे हम भय करेंगे वह हम पर दया करेगा। उसकी दया को देख हमारा भय बढ़ेगा नहीं।" (१०३)

शुक्ल जी साहित्यिक हैं मनोवैज्ञानिक नहीं और साहित्यिकों का सारा भाव-निरूपण रस की दृष्टि से है। निबन्धों से तो यह बात व्यक्त होती ही है, शुक्ल जी ने अपनी 'रस मीमांसा'* पुस्तक में भी 'भाव' की व्याख्या में इसी दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया है।

शुक्ल जी ने पहले निबन्ध का शीर्षक मात्र 'भाव' न लिखकर 'भाव या मनोविकार' इसलिए लिखा क्योंकि (साहित्य-दर्पणकार के अनुसार) जन्म से निर्विकार चित्त में उद्बुद्ध मात्र काम विकार को भाव कहते हैं।† 'भाव या मनोविकार' स्पष्टीकरण के लिए लिखा गया है, नहीं तो 'या' के स्थान पर 'और' हो सकता था।

शुक्ल जी ने 'वासनाओं' पर नहीं, 'भावों' पर लिखा है। भाव, वासना में आगे की स्थिति हैं—'सुख और दुख की इन्द्रियज वेदना के अनुसार पहले पहल राग और द्वेष आदिम प्राणियों में प्रकट हुए जिनसे दीर्घ परम्परा के अभ्यास द्वारा आगे चल कर वासनाओं और प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ। रति, शोक, क्रोध, भय आदि पहले वासना के रूप में थे, पीछे भाव-रूप में आए।···इन्द्रियज संवेदन वेदना-प्रधान होता है, वासना प्रवृत्ति-प्रधान होती है और भाव वेद्य-प्रधान (आलंबन-प्रधान) होता है। वासनात्मक प्रवृत्ति में 'लक्ष्य' और 'आलम्बन' भावना या प्रत्यय-रूप में निर्दिष्ट नहीं होते,···'प्रत्यय बोध' की ओर लक्ष्य करके ही साहित्यिकों ने 'भाव' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है चित्त की चेतन दशा विशेष। रति, क्रोध, भय आदि की वासनात्मक अवस्था में किसी चेतन दशा की अपेक्षा नहीं।"[1] आगे भाव को परिभाषित-

* देखिए 'भाव' तथा 'भाव का वर्गीकरण'—पृ० १५६-२२६.

† 'निर्विकारात्मके चित्ते भाव प्रथमविक्रया'।—साहित्यदर्पण परि० ३, ६३।

[1] रस मीमांसा—पृ० १६१-६२

करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं—"भाव उस विशेष रूप के चित्त-विकार को कहते हैं जिसके अन्तर्गत विषय के स्वरूप की धारणा, सुखात्मक या दुखात्मक अनुभूति का बोध और प्रवृत्ति के उत्तेजन से विशेष कर्मों की प्रेरणा पूर्वापर सम्बद्ध संघटित हों। संक्षेप में—प्रत्यय बोध, अनुभूति और वेग-युक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम 'भाव' है।"[1] इसी आधार पर शुक्ल जी ने साहित्य में भावों की तीन दशाएँ मानी हैं जिनका चिन्तामणि में विवेचन भी हुआ है। वे हैं—भाव दशा, स्थायी दशा और शील दशा। शुक्ल जी ने सारिणी द्वारा इसका स्पष्टीकरण भी किया है[2]—

एक अवसर पर एक आलम्बन के प्रति	अनेक अवसरों पर एक आलम्बन के प्रति	अनेक अवसरों पर अनेक आलम्बनों के प्रति
भाव दशा	स्थायी दशा	शील दशा*
राग	रति	स्नेहशीलता, रसिकता, लोभ, तृष्णा, लम्पटता
......	......	......
उत्साह	×	वीरता, तत्परता
......	......	... ...
शोक	संताप	खिन्नता
क्रोध	वैर	क्रोधशीलता, उग्रता, चिड़चिड़ापन
भय	आशंका	भीरुता
जुगुप्सा	विरति	तुनक मिज़ाजी

[1]रसमीमांसा—पृ० १६८ [2]रसमीमांसा—पृ० १८६

*भाव के प्रकृतिस्थ हो जाने की अवस्था को शील दशा कहते हैं। किसी एक ही वस्तु से नहीं, अनेक अवसरों पर अनेक व्यक्तियों या वस्तुओं से डरने वाले को भीरु या डरपोक, बात बात पर हरएक आदमी को देख कर हँसनेवाले को हँसोड़ या ठट्ठेबाज कहते हैं। (रस मीमांसा पृ० ५८३)

शुक्लजी आगे लिखते हैं–"मनोवैज्ञानिकों ने 'स्थायी' दशा और शील दशा के भेद की ओर ध्यान न देकर दोनों प्रकार की मानसिक दशाओं को एक ही में गिना दिया है। उन्होंने रति, वैर, धन-तृष्णा, इन्द्रिय-परायणता, अभिमान इत्यादि सबको स्थायी भावों की कोटि में डाल दिया है। पर मैंने जिस आधार पर भेद करना आवश्यक समझा है उसका विवरण ऊपर दिया जा चुका है।"*

शुक्ल जी ने रसवादी दृष्टिकोण से भावों के विवेचन में चिन्तामणि में आलम्बन-आश्रय आदि की कायिक-सात्विक चेष्टाओं तथा इच्छाओं-संकल्पों का वर्णन भी किया है। 'भाव या मनोविकार' निबन्ध में उन्होंने लिखा है—"अपने मूल रूपों में सुख और दुःख दोनों की अनुभूतियाँ कुछ बँधी हुई शारीरिक क्रियाओं की ही प्रेरणा प्रवृत्ति के रूप में करती हैं, उनमें भावना, इच्छा और प्रयत्न की अनेक रूपता का स्फुरण नहीं होता। विशुद्ध सुख की अनुभूति होने पर हम बहुत करेंगे—दाँत निकालकर हंसेंगे, कूदेंगे या सुख पहुँचाने वाली वस्तु से लगे रहेंगे···पर हम चाहे कितना ही उछल कूद कर हँसें···ये सुख···के अनिवार्य लक्षण मात्र हैं जो किसी प्रकार की इच्छा का पता नहीं देते। इच्छा के बिना कोई शारीरिक क्रिया प्रयत्न नहीं कहला सकती।" (चिन्तामणि २-३) इसलिए शुक्ल जी इच्छा या प्रयत्न का पता देने वाले आश्रय के वचनों या उक्तियों के उल्लेख पर विशेष बल देते हैं। (चिन्तामणि ३) इस प्रक्रिया को समझने के लिए शुक्ल जी ने विभिन्न भावों का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है†—

(कृपया सारिणी अगले पृष्ठ पर देखिये)

---

*रस मीमांसा पृ० १८७

†रस मीमांसा पृ० १९२-३

चेतन धारणा (आलम्बन) Cognition	इच्छा या संकल्प Conation	गति या प्रवृति (कायिक) Tendency	लक्षण (सात्विक) Symptom	भाव Emotion
१. रूप-गुण-युक्त व्यक्ति या वस्तु	संयोग के आनन्द की प्राप्ति या उसे बना रहने देने की	स्पर्श, चुम्बन, आलिंगन	पुलक, स्वेद रोमांच, कंप स्तंभ	राग
२. चिर साहचर्य संबंध युक्त व्यक्ति या वस्तु				
रुचिकर कर्म	कार्य पूर्ण करने का	अस्त्र पर हाथ रखना, ताल ठोंकना, ललकारना, आगे बढ़ना	भुजा का फड़कना	उत्साह
अनिष्टकारी या दुख:द व्यक्ति	उसके नाश या शासन की	आक्रमण, प्रहार, हाथ या शस्त्र तानना, कटु और तीव्र शब्द कहना ...	लाल आँखें होना, भौं चढ़ाना ...	क्रोध
आनष्टकारी या दु:खद व्यक्ति	उससे दूर हटने की	भागना, छिपना, इधर-उधर ताकना	कंप, वैवर्ण्य, स्तंभ	भय

आश्रय-आलम्बन तथा अनुभावों के साथ शुक्ल जी संचारी भावों को नहीं भूले हैं ; 'चिन्तामणि' में 'लज्जा और ग्लानि' पर तो स्वतन्त्र रूप से लिखा हैं। संचारी के अन्तर्गत 'भाव' के पास तक पहुँचने वाले अर्थात् स्वतंत्र विषय युक्त और लक्ष्ययुक्त मनोविकार और मन के क्षणिक वेग ही नहीं बल्कि शारीरिक और मानसिक अवस्थाएँ तथा स्मरण, वितर्क आदि अन्तःकरण की और वृत्तियाँ भी आ गई हैं। इस आधार पर 'लज्जा' को स्वतंत्र विषययुक्त भावों के साथ और 'ग्लानि' को 'मानसिक अवस्था' के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

आलोचनात्मक निबन्धों को भी दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक। पहले वर्ग में 'कविता क्या है', साधारणीकरण तथा व्यक्ति-वैचित्र्यवाद,' 'काव्य में लोक मंगल की 'साधनावस्था' तथा 'रसात्मक बोध के विविध रूप'—ये चार निबन्ध आते हैं तथा दूसरे में शेष तीन। सैद्धांतिक निबन्धों में जिन सिद्धांतों की स्थापना की गई है उन्हीं के आधार पर तुलसीदास की व्याख्या-विवेचना है। ये निबन्ध भी परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। वस्तुतः शुक्ल जी ने सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक आलोचना को मिला दिया है। सैद्धांतिक निबन्धों में निरूपित सिद्धान्त व्यवहारिक आलोचनाओं के आधार या मानदण्ड हो गए और इन तक वे अपनी व्यवहारिक आलोचनाओं द्वारा पहुँचे—रामचरित मानस (लक्ष्य ग्रंथ) से उनके सिद्धांत (लक्ष्य) प्रेरित हैं। इस तरह शुक्लजी की आलोचनाएँ रचनात्मक साहित्य तथा आलोचनात्मक साहित्य के परस्पर प्रेरणा-प्रभाव को भली भाँति सिद्ध करती हैं। अन्त में 'चिन्तामणि' के निबन्धों का उपर्युक्त समस्त वर्गीकरण निम्न वृक्ष द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है:—

(कृपया वृक्ष अगले पृष्ठ पर देखिये)

निबन्ध

वर्णनात्मक

विवरणात्मक

भावात्मक

विचारात्मक

भाव या मनोविकार विषयक

आलोचनात्मक

१. सैद्धान्तिक
२. सुखात्मक
३. प्रेष्य
४. स्थायी
(उत्साह, क्रोध आदि)

व्यावहारिक
दुखात्मक
अप्रेष्य
संचारी
(लज्जा-ग्लानि)

सैद्धान्तिक

व्यावहारिक

स्वतन्त्र विषययुक्त भाव (लज्जा)

मन के वेग

अन्य अन्तःकरण वृत्ति

मानसिक अवस्था (ग्लानि)

शारीरिक अवस्था

(साहित्य में भाव दशा की दृष्टि से)

भाव दशा (उत्साह, क्रोध भय, जुगुप्सा)

स्थाई दशा (रति वैर, विरति)

शील दशा (लोभ, तृष्णा, लम्पटता, वीरता, तत्परता, खिन्नता, उग्रता, चिड़चिड़ापन आदि)
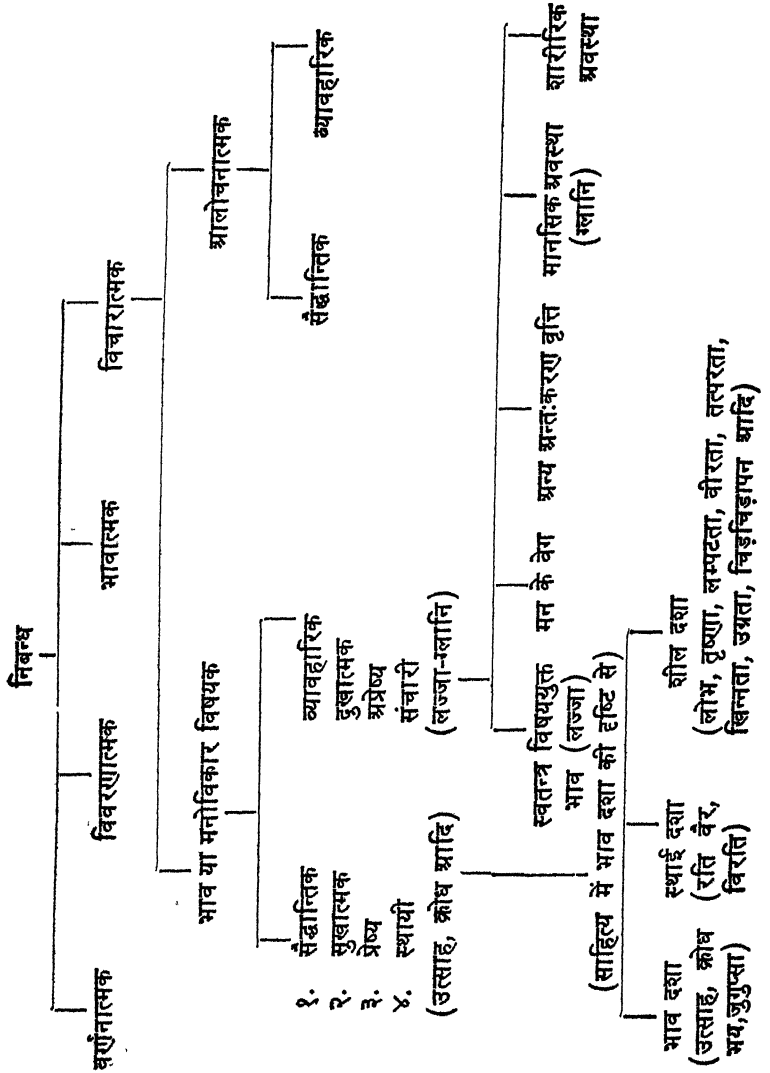
शुक्ल जी की गद्य-शैली

पिछले लेखों में हम शुक्ल जी के विषय-व्यक्तित्व की निरख-परख कर चुके हैं। यह विषय जिन साधनों से भाषा के रूप में व्यक्त या जिस कथन-विधि—शैली—से प्रकाशित हुआ, अब हम उसका विचार करेंगे। पहले हम शैली, निबन्ध में शैली, तथा तत्सम्बन्धी शुक्ल जी के दृष्टि-कोण को स्पष्ट करेंगे।

बात सभी कहते हैं, प्रभावित सभी नहीं करते। बात पहुँचती है, उतरती नहीं। बड़ी बात भी अनुकूल अभिव्यक्ति के बिना बलहीन और छोटी बात भी कुशल अभिव्यक्ति से प्रभावपूर्ण हो जाती है। साहित्य-कार की कला-क्षमता इसी में है कि वह भाषा की शक्ति को विविध साधनों—शब्द-समूह-संचयन, उनका विशेष अनुक्रम (arrange-ment), (सरल, मिश्र, संश्लिष्ट) वाक्य-योजना, लक्षणा-व्यंजना शक्तियों, लोकोक्ति-मुहावरों, अलंकृति, विराम चिन्हों आदि की समष्टि —के समुचित उपयोग से पाठकों के मानस-खण्ड पर अपने भाव-विचारों को अंकित कर सके या कुशल शैली से अपनी अनुभूति को दूसरों पर मुद्रित कर सके।

निबन्ध में शैली की विशेष साज-सँभाल होती है।† स्वयं शुक्ल जी भी इस ओर विशेष सजग हैं। उनका दृष्टिकोण है—"यदि गद्य कवियों

---

† वैसे तो साहित्य की समी विधाओं में शैली का महत्त्व है—यह एक पृथक तत्त्व के रूप में गृहीत है—फिर भी निबन्ध में व्यक्तित्व की विशेष निहति के कारण शैली की महत्ता सिद्ध हो जाती है। साहित्य है ही आत्माभिव्यक्ति या व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति। अतएव एक तत्त्व रूप में व्यक्तित्व-निहति के पृथक कथन की आवश्यकता नहीं रहती किन्तु

की कसौटी है। (गद्यं कविनाम निकषं वदन्ति) तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है।"इस शैली-जगरूकता के कारण शुक्ल जी अपने निबन्धों में गद्य-शैली की शक्ति का पूर्ण विकास कर सके हैं। शुक्लजी के उक्त कथन की शक्ति-परीक्षा उनके विचारात्मक निबन्धों के आधार पर और भी हो सकती है क्योंकि उनके अनुसार "शुद्ध बिचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक एक पैराग्राफ में विचार दबा दबाकर कसे गए हों और एक एक वाक्य किसी संबद्ध विचार-खंड को लिए हो।" उक्त कथन के अन्त में यह संकेतित है कि एक-एक प्रघटक में अधिक से अधिक विचारों का समाहार करने के लिए एक-एक वाक्य को घनीभूत-ध्वनिपूर्ण बनाने तथा शैली की समास शक्ति को समृद्ध करने की आवश्यकता पड़ती है। तदानुकूल ही शुक्ल जी की शैली— शब्द-विधान—के स्वरूप को समझा जा सकता है।

"शैली व्यक्ति है" और व्यक्तित्व की निहति निबन्ध का अनिवार्य तत्त्व। व्यक्ति (विषय के साथ) शैली में व्यक्त होता है और शैली निबन्ध को व्यक्तित्व देती है, सजीव बनाती है। जैसे व्यक्तित्ववान अनेक व्यक्तियों में पहचाना जाता है उसी तरह किसी की विशिष्ट शैली अनेक में अपने पृथक अस्तित्व का परिचय देती रहती है। स्कूल दृष्टि से तोयह कहा जा सकता है कि सभी व्यक्ति एक व्यक्तित्व रखते हैं और तदानुकूल अभि-व्यक्ति की शैली भी, पर व्यवहार में हम उसी को व्यक्तित्व-सम्पन्न कहते हैं जो अपनी निजी विशेषताएं रखता है। अतएव यही कहना ठीक होगा कि शैली भी किसी-किसी की होती है—लिखते अनेक हैं किन्तु कुछ एक के गुण ही शैली-स्तर पर पहुँच कर अपने पृथकत्व की पहचान कराते हैं। शुक्ल जी ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी हम अपनी 'शैली' कह सकते हैं और

निबन्ध में व्यक्तित्व की विशिष्टता रहती है, अतएव एक तत्त्व रूप में इसका उल्लेख भी होता है। 'शैली ही व्यक्तित्व है'—इस कथन के अनु-सार निबन्ध में शैली-वैशिष्ट्य प्रमाणित है।

जिस पर उनके विशिष्ट व्यक्तित्व की छाप है—उनकी शली की विशिष्टता निजी व्यक्तित्व की असाधारणता तथा निज की भाव-विचार पद्धति के अनुरूप अभिव्यञ्जना का स्वाभाविक विकास है, किसी बाह्यानुकरण का परिणाम नहीं।

साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से शुक्ल जी को एक विशेष उत्तरदायित्व का निर्वाह करना था। भारतेन्दु ने 'शिवप्रसाद' के उर्दूपन तथा लक्ष्मणसिंह के 'ख़ालिसपन' के स्थान पर हिन्दी गद्य को एक निश्चित दिशा देने का प्रयास किया था। उस युग के निबन्धकारों को वाणीविलास तथा शाब्दिक चमत्कार की विशेष रुचि थी। द्विवेदी युग भाषा संस्कार का युग था और द्विवेदी जी के स्तुत्य प्रत्यनों से भाषा को व्याकरण-व्यवस्थित, नियम-नियन्त्रित कर परिष्कृत-परिमार्जित किया गया। द्विवेदी जी ने अनेक प्रकार की शैलियों में लिखा भी। पर ये वे मार्ग थे जिन पर चलकर दूसरों को आगे बढ़ना था। समग्रतः उनकी शैली इतिवृत्तात्मक है। गोविन्द नारायण मिश्र की अनुप्रास-सज्जित, समस्तशब्द-प्रधान शैली व्यावहारिकता-शून्य, विलक्षण शैली है। अध्यापक पूर्णसिंह अपनी वैयक्तिक तथा विषय-प्रतिपादन-क्षम शैली के निर्माण में सफल हो सके; फिर भी इनकी शैली भावात्मक निबन्धों के अधिक उपयुक्त है। श्यामसुन्दर दास की शैली विचारात्मक निबन्धों के उपयुक्त है, उसमें प्रवाह भी है पर तरलता नहीं; मुख्यतः यह अवैयक्तिक ही बनी रही। इस शैली में शुक्ल जी के भाव-विचार घनीभूत प्रघटकों का निर्वाह नहीं हो सकता था। विचारात्मक विषयों की शुष्कता को दूर करने के लिए सरसता-संचार में भी यह अक्षम थी। वस्तुतः शुक्ल जी से पूर्व गम्भीर मनोवैज्ञानिक विषयों पर लिखा ही नहीं गया—ऐसे विषय लिए भी गए थे तो शुद्ध नैतिक दृष्टिकोण से। दूसरे निबन्ध सम्बन्धी कसा हुआ शृंखलाबद्ध दृष्टिकोण भी नहीं था। सारतः अपनी आवश्यकता के लिए शुक्ल जी को एक नूतन शैली का स्वयं निर्माण करना था। परम्परा से इनको यह लाभ अवश्य हुआ कि हिन्दी

भाषा एक निश्चित स्वरूप के साथ पर्याप्त परिष्कृत-परिमार्जित हो चुकी थी तथा विविध निबन्ध-शैलियों के प्रयोग भी उनके सामने थे।

उत्कृष्ट शैली वही है जो विषयानुकूल स्वरूप धारण करती रहती है। शुक्ल जी की गद्य शैली में यह विशेषता सर्वत्र लक्षित होती है। शुक्ल जी के समस्त निबन्धों में विवेचनात्मक शैली का आश्रय लिया गया है। इस शैली में अपने विचार-प्रतिपादन या स्वमत-मंडन तथा परमत-खंडन के लिए तर्क-वितर्क, विधि-निषेध, प्रमाण-पुष्टि, व्याख्या-निर्णय आदि का आश्रय लिया जाता है। शुक्ल जी के निम्न पैरे के आधार पर हम उपर्युक्त कुछ विशेषताओं को दिखाएँगे—" 'कल्पना' और 'व्यक्तित्व' की पाश्चात्य क्षेत्र में इतनी अधिक मुनादी हुई कि काव्य के और सब पक्षों से दृष्टि हटकर इन्हीं दो पर जा जमी। 'कल्पना' काव्य का बोध पक्ष है। कल्पना में आई हुई रूप-व्यापार-योजना का कवि या श्रोता को अन्तःसाक्षात्कार या बोध होता है। पर इस बोध पक्ष के अतिरिक्त काव्य का भाव पक्ष भी है। कल्पना को रूप-योजना के लिए प्रेरित करने वाले और कल्पना में आई हुई वस्तुओं में श्रोता या पाठक को रमाने वाले रति, करुणा, क्रोध, उत्साह, आश्चर्य इत्यादि भाव या मनोविकार होते हैं। इसीसे भारतीय दृष्टि ने भावपक्ष को प्रधानता दी और रस के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। पर पश्चिम में 'कल्पना' 'कल्पना' की पुकार के सामने धीरे-धीरे समीक्षकों का ध्यान भाव-पक्ष से हट गया और बोध पक्ष ही पर भिड़ गया। काव्य की रमणीयता उस हलके आनन्द के रूप में मानी जाने लगी, जिस आनन्द के लिए हम नई-नई सुन्दर, भड़कीली और विलक्षण वस्तुओं को देखने जाते हैं। इस प्रकार कवि तमाशा दिखाने वाले के रूप में और श्रोता या पाठक तटस्थ तमाशबीन के रूप में समझे जाने लगे। केवल देखने का आनन्द कुछ विलक्षण को देखने का कूतूहल मात्र है।" (२३९)

यह 'साधारणीकरण तथा व्यक्ति-वैचित्र्यवाद'—एक सैद्धांतिक निबन्ध—का गम्भीर पैरा है। तर्क-युक्ति से खंडन-मण्डन, संक्षिप्त व्याख्या

और अन्त में निर्णय भी है। विचार-घनत्व भी स्पष्ट है। इसी के अनुकूल वाक्य-योजना संगत-संयत, परिष्कृत तथा प्रौढ़ है। लम्बे-लघु दोनों प्रकार के वाक्य हैं, किन्तु कोई वाक्य व्यर्थ नहीं। प्रत्येक शब्द की अपनी सार्थकता है। विचार-भार के कारण किंचित दुरूहता चाहे हो, वाक्य-विन्यास या शब्द-योजना में कहीं उलझन-अस्पष्टता नहीं और न भाषा प्रवाह कुण्ठित है। तत्सम-प्रधान शास्त्रीय शब्दावली भी है, पर भाषा का व्यावहारिक चलतापन बना हुआ है। ऐसी गम्भीरता में व्यंग्य का निर्वाह भी हो गया है। अन्तिम वाक्य—'केवल देखने······होता है'—निर्णय के रूप में व्यञ्जक है। यह वाक्य तब पूरा हो यदि अन्त में 'काव्य का रस नहीं' जोड़ दिया जाय'। 'मुनादी', 'तमाशबीन', 'तमाशा दिखाने वाले', 'भिड़ गया' शब्दों से व्यंग्य का स्वरूप खड़ा होता है। 'बोध पक्ष', 'रूप-व्यापार योजना, 'अन्तः साक्षात्कार', 'भाव पक्ष' शब्द साभिप्राय हैं। दो शब्दों के भीतर 'या' भी व्यर्थ नहीं। 'सुन्दर', 'भड़कीली' तथा 'विलक्षण', ये तीन शब्द उस 'हल्के आनन्द' को व्यक्त करते हैं जो रमणीयता के 'गम्भीर आनन्द' से भिन्न है। वस्तुतः इन तीन शब्दों का सम्बन्ध 'कल्पना' से है और 'रमणीयता' का 'रस' से-रसपूर्ण स्थल में 'पाठक या श्रोता' की रमण वृत्ति से स्वमत-प्रतिपादन के तर्क-निर्वाह में शुक्ल जी की अध्यापक की स्पष्टता तथा गम्भीर उच्च आलोचक की दृढ़ता देखी जा सकती है। इसी से इनकी शैली सशक्त एवं प्रभावी बन जाती है। कदाचित इसी गुण को लक्षित कर हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं: "वे (शुक्ल जी) मानो तनकर कहते हैं कि मैं ऐसा मानता हूँ तुम ऐसा मानते हो या नहीं, इसकी मुझे परवाह नहीं। सुनिश्चित मत पर वे चट्टान की तरह दृढ़ थे,······। उनके सभी निबन्धों में उनकी यह दृढ़ता स्पष्ट हुई है।" †यह ध्यान रहे कि यह दृढ़ता किसी अंध-विश्वासी या हठी का दुराग्रह नहीं; एक सुचिंतक की अनुभूत आस्था है, जो भारतीय तथा पाश्चात्य मतों को आत्मसात करके व्यक्त हुई है।

---

†'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल' पृ० २५

शुक्ल जी की शैली की विषयानुकूलता का प्रमाण इसीसे मिलता है कि उनके काव्य-शास्त्रीय निबन्धों तथा भाव या मनोविकार विषयक निबन्धों में विवेचन के अनुरूप शैली-भेद आ गया है। 'लज्जा और ग्लानि' तथा 'साधारणीकरण तथा व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' शीर्षक निबन्धों की शैली के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

अब हम शुक्ल जी की समास शैली का विश्लेषण करेंगे। शुक्ल जी अपने विचार-सघन प्रघटकों के लिए इस समास शैली की ओर संकेत करते हैं, यह हम उनके दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण में लिख चुके हैं। उनकी विवेचनात्मक शैली के साथ ये समासपूर्ण शैली बहुत सहायक हुई है। शुक्ल जी प्रायः प्रघटकों के प्रारम्भ में सूत्ररूप में, भाषा-संकोच के साथ बात कहते हैं और फिर उसकी व्याख्या करते हैं या क्रम-विपर्यय कर पहले व्याख्या करते हुए अन्त में निष्कर्ष-सूत्र देते हैं। कसी हुई विचार-शृंखला का भार उनके घनीभूत ध्वनिपूर्ण तथा सार-गर्भित सूत्र वाक्यों, अल्पतम शब्दों में अधिकतम अभिव्यक्ति करने वाली शृंखलाबद्ध वाक्य-पद्धति—उनकी समास शैली—को उठाना पड़ता है। शुक्ल जी की भाषा या उनकी समास शैली में सहायक समस्त शब्द भी हैं पर इस दृष्टि से हमने उनकी शैली को समास-प्रधान नहीं कहा। ये समस्त शब्द तो भाषा की आकारगत विशेषता मात्र हैं। समास-शैली से हमारा अभिप्राय शैली की उस अर्थगत विशेषता को व्यक्त करना है जिसके अनुसार घनीभूत प्रघटकों के लिए एक-एक वाक्य सम्बद्ध विचार-खण्ड का अनिवार्य अंग बन कर आता है। उनकी विवेचनात्मक शैली की व्याख्या में हम जिस प्रघटक को उद्धृत कर आए हैं उसमें भी यही विशेषता देखी जा सकती है। श्यामसुन्दर दास की व्यास शैली से तुलना करने पर शुक्ल जी की समास शैली के गुण उभर कर सामने आ सकते हैं। शुक्ल जी अपने सूत्रों की व्याख्या में जिस व्यास शैली से काम लेते हैं वहाँ भी श्यामसुन्दर दास की एक ही बात को अनेक प्रकार से समझा कर कहने की प्रवृत्ति नहीं है।

सुगठित सारपूर्ण सूत्रों या ध्वनि पूर्ण वाक्यों के आधार पर शुक्ल जी की गद्य-शैली की अन्य विशेषताओं का स्पष्टीकरण भी सम्भव है। एक-एक वाक्य समासात्मक होते हुए भी, शैलीगत प्रसाधनों के विभिन्न उपकरण लिए हुए है। इनकी व्याख्या के लिए निम्नस्थ पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं—

१. 'वैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है।' (१३८) यहाँ दैनिक जीवन के शब्दों—मनोवैज्ञानिक नहीं—को लेकर वैर-क्रोध के अन्तर का सांकेतिक स्पष्टीकरण हुआ है।

२. 'भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।' (५)—अत्यन्त अर्थ-गर्भित पंक्ति है।

३. 'यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण' (१८) यहाँ 'स्वप्न' और 'जागरण' प्रतीकों से तुलनात्मक अर्थ-व्यंजना है। क्योंकि प्रिय का चिंतन आँखें मूँदे हुए, संसार को भुला कर करते हैं, पर श्रद्धेय का चिंतन आँखें खोले हुए, संसार का कुछ अंश सामने रखकर करते हैं।

४. 'ईर्ष्या अत्यंत लज्जावती वृत्ति है। वह अपने धारणकर्त्ता स्वामी के सामने मुँह खोलकर नहीं आती।' (१२२-२३)—यहाँ अमूर्त्त का मानवीकरण करने तथा प्राचीन भारतीय नारी की लज्जा के साथ अद्भुत समानता से शुक्ल जी की मूर्त्तिविधायिनी शैली का सौष्ठव आस्वादनीय हो उठा है।

५. 'ज्ञान ब्रह्म है तो हृदय ईश्वर।' (२५५)

उपर्युक्त सभी वाक्यों की ध्वनि बहुत दूर तक जाती है। निम्नस्थ वाक्यों में भी शुक्ल जी के प्रौढ़ चिंतन तथा अनुभूतिशील भावुकता का अपूर्व संयोग हुआ है। ये मानों उनकी शैली की विषयगत विशेषता को व्यक्त कर उसे मूल्यवान बना देते हैं। यथा—

१. "मनुष्य अपने पीछे होने वाले मनुष्यों को अपने लिए रुलाना चाहता है।" (२६२)—यह रागपूर्ण उक्ति है।

२. "हृदय के लिए अतीत एक मुक्तिलोक है जहाँ वह अनेक प्रकार के बन्धनों से छूटा रहता है और अपने शुद्ध रूप में विचरता है।"(२५९)

३. "शब्द-काव्य की सिद्धि के लिए वस्तु-काव्य का अध्ययन परम आवश्यक है।" (२५३) इस वाक्य में साहित्य-सिद्धान्त सम्बन्धी लोकोक्ति का रूप लेने की क्षमता है।

४. "जो अनन्य भाव से अर्थ-साधना में ही लीन रहेगा, वह हृदय खो देगा; जो आँख मूँद कर कामचर्य्या में ही लिप्त रहेगा वह किसी अर्थ का न रहेगा।" (२६४)

५. "कर्ता से बढ़कर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं।" (१८)

६. "अन्य का त्याग अनन्य और सच्चे लोभ की पहचान है।"(७५)

७. "दूसरों का भय हमें भगा सकता है, हमारी बुराइयों को नहीं।" (४९)

(६) और (७) आकर्षक शैलीगत प्रयोग हैं।

८. "बीती बिसारने का अभिप्राय है जीवन की अखंडता और व्यापकता की अनुभूति का विसर्जन; सहृदयता और भावुकता का भंग—केवल अर्थ की निष्ठुर क्रीड़ा।" (२६०) इस वाक्य में सिद्धान्त, भाव और व्यवहार का क्रमशः एक-दूसरे को स्पष्ट-पुष्ट करता तथा नूतन ज्ञान स्तरों को खोलता हुआ कथन है। यहाँ शुक्ल जी की अतीत से वर्तमान तथा शाश्वत से सामयिक तक पहुँचाने वाली गहन दृष्टि, अतीत प्रेम की भावुकता तथा गुम्फित,प्रभावी और प्रवाहपूर्ण शैली का सुसंयोग हुआ है।

९. " 'हमीं हम' वाले 'तुम भी' नहीं सह सकते, 'तुम्हीं तुम' की क्या बात है।" (३५)—यह सरल वक्रता का उदाहरण है। यही बात दसवें उदाहरण में है।

१०. " 'हम बुरे हैं' दूसरों के कान में पड़ते ही इसका अर्थ उलट जाता है।" (५९)

उपर्युक्त सारगर्भित वाक्य तो सुगठित हैं ही शुक्ल जी के सामान्य वाक्य भी सुगठित होते हैं। फिर भी परिभाषाओं में सुगठन, अनुक्रम,

एक-एक शब्द की अभिप्राय-पूर्णता का विचार विशेष वांछनीय है। यथा श्रद्धा की परिभाषा द्रष्टव्य है—"किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण वा शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनन्द पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते हैं।" (१७) यहाँ 'विशेष,' 'गुण वा शक्ति', 'स्थायी' आदि शब्दों का अपना-अपना महत्त्व है, एक शब्द को निकाल देने से परिभाषा अपूर्ण हो जाए।

तुलनात्मक शैली

विविध भाव-मनोविकारों में अन्तर भी सुगठित-संक्षिप्त शैली में स्पष्ट किया गया है। स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने ऐसी तुलनात्मक शैली से बहुत काम लिया है। ये उद्धरण दर्शनीय हैं—

१. "लोभ सामान्योन्मुख होता है, प्रेम विशेषोन्मुख।" (६९)

२. "श्रद्धा का व्यापार स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकांत। प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार।" (१८)

३. "ईर्ष्या व्यक्तिगत होती है और स्पर्द्धा वस्तुगत।" (१०८)

४. "घृणा निवृत्ति का मार्ग दिखाती है और क्रोध प्रवृत्ति का।"(९९)

५. "वैर का आधार व्यक्तिगत होता है,घृणा का सार्वजनिक।" (९९)

ये सूत्र भी या निष्कर्ष रूप में आते हैं या इन्हीं का स्पष्टीकरण और तुलना का विस्तार बाद में होता है।

भावात्मक शैली

भाव या मनोविकारों पर शुक्ल जी लिखते ही नहीं, इनका उपयोग भी करते हैं। वे साहित्य में ही रस-सिद्धांत के पोषक नहीं स्वयं भी सहृदय हैं। उनका हृदय कवि है जो मार्मिक स्थलों में रम कर मस्तिष्क की बुद्धियात्रा का श्रम-परिहार करता रहता है। निबन्धों की विचारात्मक गम्भीरता में रमणीय स्थल पाकर शुक्ल जी की वृत्तियाँ भावोन्मुख हो जाती हैं और उनकी उमड़ती भाव-धारा के साथ शैली में भी कवित्व और विशेष प्रवाह आ जाता है। उनके निम्न उद्धरण की काव्यमय

स्निग्धता आस्वादनीय है—"हम पेड़ पौदों और पशु-पक्षियों से सम्बन्ध तोड़कर बड़े-बड़े नगरों में आ बसे; पर उनके बिना रहा नहीं जाता।··· कबूतर हमारे घर के छज्जों के नीचे सुख से सोते हैं, गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं; बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याँव-म्याँव कर के माँगती है या चोरी से ले जाती है; कुत्ते घर की रखवाली करते हैं; और वासुदेव जी कभी-कभी दीवार फोड़ कर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों में जब सुर्खी-चूने की कड़ाई की परवाह न कर हरी हरी घास पुरानी छत पर निकलने लगती है, तब हमें उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानों हमें ढूँढती हुई आती है और कहती है कि "तुम हम से क्यों दूर दूर भागे फिरते हो ?" (१५१) हरी-हरी घास मानों ग्रामीण नायिका और नागरिक मानों वह नायक है जो अपनी प्रेमिका की गाँव में उपेक्षा करके नगर में आ गया है। बरसते सावन के मदन सरसावन मौसम में वह अपने मनभावन की प्रेमाकुलता में, पाउडर-लिपिस्टिक लगाने की परवाह किए बिना नगर में उसे ढूँढती हुई आती है और कहती है कि "तुम हम से क्यों दूर दूर भागे फिरते हो ?"—शुक्ल जी के कवि-हृदय ने अन्य पक्षियों को भी गिना मात्र नहीं दिया, उनकी क्रियाओं द्वारा मानव के प्रकृति या पशु-पक्षियों के साथ चिर सम्बन्ध की सरस व्यंजना की है। ऐसे सरस प्रसंग में चूहे के स्थान पर 'वासुदेवजी' लिखकर शुक्ल जी ने सुरुचि का परिचय दिया है, नहीं तो वीभत्सता आ जाती। शुक्ल जी की भावात्मक तरलता १४६, १४९, ७६-७७ आदि पृष्ठों पर देखी जा सकती है। ऐसे प्रसंग प्रायः शुक्ल जी के असीम प्रकृति-प्रेम से सम्बन्धित हैं। प्रकृति का स्मरण होते ही शुक्ल जी की भावुकता अनायास फूट पड़ती हैं।

व्याख्यानात्मक शैली

अब एक उद्धरण लीजिए जिसमें व्याख्यानात्मक शैली के आभास के साथ भावात्मक तरलता है—"यदि देश-प्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ। बाहर

निकलो तो आँखें खोल कर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच से कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, चौपायों के झुंड चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच में गाँव झाँक रहे हैं, उनमें घुसो, देखो तो क्या हो रहा है, जो मिलें उनसे दो-दो बातें करो; उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी-आध-घड़ी बैठ जाओ और समझो कि ये सब हमारे हैं।"(७८)

आलंकारिक शैली

शुक्लजी ने लक्षणा, व्यंजना आदि शक्तियों से काम लेकर अपनी शैली को सांकेतिक तो बनाया ही है, सामान्य प्रचलित अलंकारों के प्रयोग तथा काव्य की बिम्ब ग्रहण पद्धति के अनुकूल मूर्ति विधायिनी प्रतिभा का परिचय भी दिया है। ये मूर्तता दो तरीकों से लाई गई है—(१) मानव-व्यापारों के द्योतक क्रिया-शब्दों के प्रयोग से व्यंजित करके तथा (२) संश्लिष्ट चित्रण के द्वारा।

उपर्युक्त उद्धरण में लिखा है कि—"अमराइयों के बीच गाँव झाँक रहे है"—यहाँ 'झाँकना' क्रिया मानवीय क्रिया-व्यापार सूचक है जिससे मूर्तता आ गई है। उसी प्रकार निम्न अवतरण में 'फुरतीला', 'कूदता है', 'उत्तेजित करता है', 'वाहवाही को नहीं बाँटता' आदि क्रिया-शब्दों से क्रोध का मानवीकृत रूप उपस्थित हो गया है—"क्रोध सब मनोविकारों से फुरतीला है, इसी से अवसर पड़ने पर यह और दूसरे मनोविकारों का भी साथ देकर उनकी त्रुटि का साधक होता है। कभी वह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के। एक क्रूर कुमार्गी किसी अनाथ अबला पर अत्याचार कर रहा है।.........ऐसी अवस्था में क्रोध ही उस अत्याचारी के दमन के लिए उत्तेजित करता है जिसके बिना हमारी दया ही व्यर्थ जाती। क्रोध अपनी इस सहायता के बदले में दया की वाहवाही को नहीं बाँटता।" (१३५)

संश्लिष्ट चित्रण वहाँ होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, रंग, आकृति तथा उनके आसपास की

परिस्थिति का परस्पर मिला जुला (संश्लिष्ट) बिम्बग्रहण कराता है। शुक्ल जी बुढ़िया की झोंपड़ी का इस प्रकार चित्रांकन करते हैं—"मिट्टी की दीवार पर फूस का छप्पर पड़ा था; नींव के किनारे चढ़ी हुई मिट्टी पर सत्यानासी के नीलाभ हरित कँटीले, कटवारदार पौधे खड़े थे जिन के फूलों के गोल सम्पुटों के बीच लाल-लाल बिंदिया झलकती थी।" (१५०)

शुक्लजी समस्त शब्दावली से भी चित्र अंकित कर देते हैं, जैसे 'सिन्दूराभ सान्ध्य दिगञ्चल के हिरण्य-मेखला-मण्डित घन खण्ड।' (१६५-६६) शुक्ल जी ने अर्थालंकारों में बहुप्रचलित उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि तथा शब्दालंकारों में अनुप्रास आदि से भी चित्रमयता में सहायता ली है, जैसे 'काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों।' (१४६) मुक्ताभास हिमबिंदु (१४६), आदि में उपमा है। निम्न उद्धरण में रूपक ने रूप की व्यंजना की है—'जिसे शक्ति-सौन्दर्य की यह झलक मिल गई, उसके हृदय में सच्चे वीर होने की अभिलाषा जीवन भर के लिए जग गई, जिसने शील-सौन्दर्य की यह झाँकी पाई उसके आचरण पर इसके मधुर प्रतिबिम्ब की छाप बैठी। (२०२) वाक्य के पूर्वांश में दीपक के रूपक का आभास है जिसने दूसरे अंश को भी पुष्ट किया है। लौ से लौ जगती है वैसे ही उन्नत व्यक्तियों की झाँकी से दूसरे व्यक्तियों का विकास होता है। इस दूसरे उद्धरण में रूपक अधिक स्पष्ट है—'शिशिर के आतंक से सिमटी और झोंके झेलती वनस्थली की खिन्नता और हीनता के बीच से ही क्रमशः आनन्द की अरुण आभा धुंधली-धुंधली फूटती हुई अन्त में वसन्त की पूर्ण प्रफुल्लता और प्रचुरता के रूप में फैल जाती है; इसी प्रकार लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द-ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोक-मंगल और लोक-रंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।" (२१४)

सामान्य रूप से भी रूपकात्मक कथन अनेक स्थलों पर मिलते हैं।

जैसे—"तुलसी के हृदय से इन दोनों अनुभवों के ऐसे निर्मल शब्द-स्रोत निकलते हैं, जिनमें अवगाहन करने से मन की मैल कटती है...।" (२००)

शुक्ल जी ने अनुप्रास से ध्वनि-चित्र अंकित किए हैं। यथा—"...वात-विलोड़ित जल-प्रसार में क्षोभ और आकुलता का,...ताप से तिलमिलाती धरा पर धूल झोंकते हुए अंधड़ के प्रचंड झोंकों में उग्रता और उच्छृङ्खलता का, बिजली की कँपाने वाली कड़क और ज्वालामुखी के ज्वलंत स्फोट में भीषणता का आभास मिलता है।" (१५४-५५)

चित्रमयता के अतिरिक्त भी शुक्ल जी की भाषा अनायास अनुप्रासमयी हो गई है। इससे भाषा का सौन्दर्य बढ़ गया है। कहीं-कहीं प्रयास करके भी अभीष्ट-सिद्धि की है। यथा—'सब की टकटकी टके की ओर लग गई' (७३) लिखकर अपनी परिहास प्रियता का परिचय दिया है।

दो-तीन स्थलों पर यमक के कारण अनायास चमत्कार आगया है—

१. "पर अर्थियों के निकट उनकी बहुत सी क्रियाओं का कोई अर्थ नहीं होता।" (१५९)

२. "भक्त वे ही कहला सकते हैं जो अपने जीवन का बहुत अंश स्वार्थ...से विभक्त करके किसी के आश्रय से किसी ओर लगा सकते हैं।" (३३)

निम्नस्थ तीसरे उद्धरण में पूर्ण तथा दोहरे यमक ने जो चमक पैदा की है, वह देखते ही बनती है—

३. एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुँह में मकरध्वज-रस झोंकते थे दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज रस की पिचकारी देते थे।" (१६४)

तुक-प्रयोग

कहीं-कहीं तुक के रूप में अन्त्यानुप्रास के प्रयोग से भाषा का सौंदर्य और प्रभाव बढ़ गया है। इस तुक-प्रयोग के दो रूप मिलते हैं—कहीं वाक्यान्तर्गत एक ही तुक के दो (या अधिक) शब्द तथा कहीं एक ही तुक के

वाक्यों की प्रवृत्ति मिलती है। यथा पहले प्रकार के उदाहरण देखिए—

१. 'उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े, वा खड़े-खड़े, तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो।' (७६–७७)

२. '···गहरे-गहरे साथी बहरे हो जायँ।' (६६)

३. '···झंकार मिश्रित सीत्कार का बँधा तार सुनकर।' (२४४)

४. 'मत प्रवर्तक अपने द्वेष और संकुचित विचारों के प्रचार के लिए भी जनता को कँपाते और लपकाते आये हैं।' (४)

५. 'अन्य का त्याग अनन्य और सच्चे लोभ की पहचान है।'(७५)

अब तुकदार वाक्यों को लीजिए—

१. '···थके माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों और धूल भरे पैरों पर रीझकर, या कम से कम न खीझकर···' (७७)

२. 'इधर हम हाथ जोड़ेंगे, उधर वे हाथ छोड़ेंगे।'—यहाँ विशेषता यह है कि दो तुकदार मुहावरों का प्रयोग है।

३. 'इस जगत् में न तो सदा और सर्वत्र लहलाता वसन्त-विकास रहता है, न सुख-समृद्धि-पूर्ण हास-विलास।' (२१३)

विनोद-व्यंग्य-पूर्ण शैली

जैसे शुक्ल जी का हृदय अनुकूल प्रसंग में भावोन्मुख होता है उसी प्रकार अननुकूल लोक-घातक या पाखंड-पोषक प्रसंग में रोषोन्मुख भी हो जाता है। ऐसे स्थलों पर शैली व्यंग्यात्मक हो जाती है। शुक्ल जी ने अनेक व्यंग्यात्मक विधियों से काम लिया है। कहीं वे एक ही शब्द से काम चलाते हैं; जैसे—ब्राह्मण देवता (१३५), दुकानदार जी (२८), कवि जी, कविराज (१६४), तमाशा (१७३, २३९), चौबे जी (७०), आदि। कहीं वाक्य या वाक्यों से वार करते हैं—

१. 'हितोपदेश के गदहे ने तो बाघ की खाल ही ओढ़ी थी, पर ये लोग बाघ की बोली भी बोल लेते हैं।' (२८)

२. 'मोटे आदमियो ! तुम जरा-सा-दुबले हो जाते—अपने अन्देशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।' (७७) —यहाँ 'अपने···सही' में तो शुक्ल जी ने कमाल ही कर दिया है। इसकी ध्वनि बहुत दूर तक जाती है।

३. 'लोभियो ! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है; तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो ! तुम्हें धिक्कार है !!' यहाँ झकझोर देने वाले विरोध का झटका है। यह लिखना तो ऐसे है जैसे कोई पुचकार-पुचकार कर थप्पड़ रसीद कर दे या कोई कहे—'आपके इन गुणों को देखकर मैं श्रद्धा से नत हो जाता हूँ ! आँखों में खून उतर आता है !!'

४. 'ईर्ष्या निस्वार्थ होनी चाहिए' (१२१)

उक्त सभी व्यंग्य-वचनों की शैली में भिन्न-भिन्न प्रकार का सौन्दर्य है। कही-कहीं यह व्यंग्य बड़ी खरी-तीखी शैली में मार करता है। लोभियों के लिए लिखते हैं—"न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया।" (८५)

अनेक स्थलों पर व्यंग्य-विनोद मिलकर आते हैं तो रौनक बढ़ जाती है। ऐसी मीठी चुटकियों के नमूने भी आस्वादनीय हैं—

१. 'थोड़े दिन हुए, किसी लेखक ने कहीं पढ़ा कि प्रतिभाशाली लोग कुछ उग्रता और पागलपन लिये होते हैं। तब से वे बराबर अपने में इन दोनों शुभ लक्षणों की स्थापना के यत्न में लगे रहते हैं। सुनते हैं कि पहले में वे कुछ कृतकार्य भी हुए हैं; पर पागलपन की नकल करना कुछ हँसी-खेल नहीं, भूल-चूक से कुछ समझदारी की बातें मुँह से निकल ही जाती हैं।' (२८)

२. 'सामान्य से सामान्य व्यवहार में भी संकोच देखा जाता है। लोग अपना रुपया माँगने में संकोच करते हैं, साफ-साफ बात कहने में संकोच करते हैं, उठने-बैठने में संकोच करते हैं, लेटने में संकोच करते हैं,

खाने-पीने में संकोच करते हैं; यहाँ तक कि एक सभा के सहायक मन्त्री हैं जो कार्य विवरण पढ़ने में संकोच करते हैं। सारांश यह कि एक बेवकूफी करने में लोग संकोच नहीं करते और सब बातों में करते हैं।'(६५)

३. 'संगीत के पेंच-पाँच देखकर भी हठयोग याद आता है। जिस समय कोई पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और 'आ आ' करके विकल होता है उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है—दिन-दिन भर चुप-चाप बैठे रहने वाले बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है। जो संगीत नाद की मधुर गति द्वारा मन में माधुर्य का संचार करने के लिए था वह इन पक्के लोगों के हाथ में पड़कर केवल स्वरग्राम की लम्बी-चौड़ी कवायद हो गया।' (२४–२५)

व्यंग्य-विनोद की मिलावट के बाद अब खालिस हास्य का स्वाद लीजिए—

"मान लीजिए एक ओर से हमारे गुरूजी और दूसरी ओर से एक दण्डधारी दुष्ट; दोनों आते दिखाई पड़े। ऐसी अवस्था में पहले हमें उस दुष्ट का सत्कार करके तब गुरूजी को दण्डवत करना चाहिए। पहले उस दुष्ट द्वारा होने वाले अनिष्ट का निवारण कर्त्तव्य है, फिर उस आनंद का अनुभव जो गुरूजी के चरण स्पर्श से होगा। यदि हम पहले गुरूजी को साष्टांग दंडवत् करने लगेंगे तो बहुत सम्भव है कि कि वह दुष्ट हमारे अंगों को फिर उठने लायक ही न रखे।"

यह ध्यान रहे कि यह हास्य विषयगत नहीं, शैलीगत है। कोई चाहता तो यही बात कृत्रिम गम्भीरता से भी कह सकता था।

शुक्ल जी का हास्य प्रायः 'स्मित हास्य' तक ही सीमित रहता है—यह मृदु मुस्कान मुँह खिलाती है, खोलती नहीं कि दाँत दिखाई देने लगें। उपर्युक्त अनेक उद्धरणों में शुक्लजी के व्यंग्य का स्वरूप भी स्पष्ट हो गया होगा। यह व्यंग्य शिष्ट-शालीन है और सुधार-परिष्कार का साधक। यह शुक्ल जी के निश्छल-निर्भीक तथा विचारशील व्यक्तित्व का कुत्सित पाखंडों पर संतुलित प्रहार है, किसी दिलजले की द्वेषाक्त गाली नहीं।

यह उनकी सामाजिक चेतना का प्रमाण है, किन्हीं वैयक्तिक कुण्ठाओं का कुपरिणाम नहीं। उनका व्यंग्य व्यक्तिमूलक नहीं, समाजमूलक है। यदि किसी 'लखनवी बाबू' या 'सभा के सहायक मन्त्री' या प्रतिभा-शालियों की नकल करने वाले साहित्यकार को व्यंग्य का लक्ष्य बनाया भी गया तो उसका ऐसा सामान्यीकरण हो गया है कि वह अन्य अनेक पर सटीक उतरता है—व्यष्टि में समष्टि का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसी अवस्था में व्यंग्य का पात्र भी अन्य अनेक के समान उससे रचनात्मक प्रभाव ही ग्रहण करेगा। उनका शिकार चाहे तिलमिला जाए पर अपने को तोले बिना नहीं रह सकता। दूसरे वह शुक्ल जी को कुछ कह भी नहीं सकता क्योंकि यह प्रसंगानुकूल तथा सामाजिक-सामान्यीकृत धरातल पर आधारित होता है, दूषित मनस्तुष्टि का परिचायक नहीं।

शुक्ल जी के गम्भीर विषयों को सहृदय-संवेद्य बनाने की कठिन-कठोर यात्रा में उनकी परिहास-प्रियता तथा व्यंग्य-विदग्धता की शैली कैसी मनमोहक सम्बल सिद्ध होती है, यह लिखने की आवश्यकता नहीं।

शुक्ल जी ने समाज-प्रचलित मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग करके भाषा को व्यावहारिक तथा बोध गम्य बनाने का प्रयास किया है। वैसे मुहावरों के प्रति कोई अतिरिक्त रुचि नहीं दिखाई या मुहावरों के लिए मुहावरों का प्रयोग उन्होंने नहीं किया। भाषा के सहज प्रवाह के साथ, उसको और तीव्र करते हुए ये लोकोक्ति-मुहावरे बहते चले आते हैं। अनेक स्थलों पर प्रवाह के लिए ये परिवर्तित रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे "बीती बिसारने वाले 'आगे की सुध' रखने का दावा किया करें। परिणाम अशांति के अतिरिक्त कुछ नहीं होता" (२६०) या "जिस पर लोगों की अश्रद्धा होती है उसके लिए व्यवहार के सब सीधे और सुगम मार्ग बन्द हो जाते हैं—उसे या तो काँटों पर या ढाई कोस नौ दिन में चलना पड़ता है।" (२७)—यहाँ लोकोक्तियाँ परिवर्तित रूप में आई हैं।

अब हम मुहावरों के प्रयोग का एक ऐसा उद्धरण देते है जिसमें शुक्ल जी ने इनके प्रयोग से घृणा और पीड़ाजन्य क्रोध के स्वरूप में

अन्तर व्यक्त करने के लिए अर्थपूर्ण वाक्य की सृष्टि की है, देखिए— 'आँख में किरकिरी पड़ना और बात है, सड़ी बिल्ली सामने आना और बात।" (६८)

शुक्ल जी के निबन्धों में 'लज्जा और ग्लानि' निबन्ध की शैली व्यावहारिक तथा प्रसादात्मक है। इस निबन्ध की वक्रता भी सरल है। मुहावरों का प्रयोग इसमें सर्वाधिक हुआ है, गम्भीर विषयों को सरल व्यावहारिक किन्तु सार्थक-आकर्षक शैली में समझाने में यह निबन्ध आदर्श है। इस शैली के ये उद्धरण ध्यातव्य हैं—

(१) 'इस (लज्जा) मनोवेग के मारे लोग सिर ऊँचा नहीं करते, मुँह नहीं दिखाते, सामने नहीं आते, साफ़ साफ़ कहते नहीं, और भी न जाने क्या क्या नहीं करते।' (५६)

(२) 'जिसके साथ हमने कोई बुराई की होती है उसे देखते ही हमारी क्या दशा होती है! हमारी चेष्टाएँ मन्द पड़ जाती हैं, हमारे ऊपर घड़ों पानी पड़ जाता है, हम गड़ जाते हैं या चाहते है कि धरती फट जाती और उसमें हम समा जाते। सारांश यह कि यदि हम कुछ देर के लिए मर नहीं जाते तो कम से कम अपने जीने के प्रमाण अवश्य समेट लेते हैं।' (५६-५७)

(३) 'यदि सबकी धड़क एक बारगी खुल जाय तो एक ओर छोटे मुँह से बड़ी बड़ी बातें निकलने लगें, चार दिन के मेहमान तरह-तरह की फ़रमाइशें करने लगें, उँगली का सहारा पाने वाले बाँह पकड़कर खींचने लगें; दूसरी ओर बड़ों का बहुत कुछ बड़प्पन निकल जाय, गहरे-गहरे साथी बहरे हो जायँ या सूखा जवाब देने लगें, जो हाथ सहारा देने के लिए बढ़ते हैं वे ढकेलने के लिए बढ़ने लगें—फिर तो भलमनसाहत का भार उठाने वाले इतने कम रह जायँ कि वे उसे लेकर चल ही न सकें। (६६) इस उद्धरण में मानों मुहावरों की माला पिरो दी गई है। आनुप्रासिकता तथा तुक भी स्वाभाविक है। इस 'लज्जा और ग्लानि' निबन्ध में—अन्य निबन्धों में इससे कुछ कम—सुगमता-व्यावहारिकता के

लिए साधारण बोलचाल के लघु कथनों को अपने वाक्यों में स्थान दिया गया है। ये उद्धरण दर्शनीय हैं—

१. "जिन्हें यह कहने में संकोच नहीं कि 'हम बड़ें संकोची हैं' उनमें संकोच कहाँ ? उन्हें यह कहते देर नहीं कि 'अमुक बड़ा निर्लज्ज है, बड़ा दुष्ट है।' (६६)

२. " 'कोई बुरा कहे चाहे भला' इसकी परवाह न करके जो काम किया करते हैं वे ही निर्लज्ज कहलाते हैं।" (५६)

३. "अपमान से जो ग्लानि होती है, वह दो भावों के आधार पर— 'हम ऐसे तुच्छ हैं' और 'हम ऐसे बुरे हैं'।" (६३)

कहने की आवश्यकता नही कि स्पष्टीकरण की उपर्युक्त शैली सरल भी है, आकर्षक भी; और कहीं-कहीं सरस भी। देखिए:—

४. " 'बिचारा बहुत अच्छा था' प्रिय के मुँह से इस प्रकार के कुछ शब्दों की सम्भावना पर ही आशिक लोग अपने मर जाने की कल्पना बड़े आनन्द से किया करते है।" (६३)

कहीं-कही प्रसिद्ध कवियों की काव्य-पंक्तियाँ भी इनकी भाषा को सजाती है तथा अभिप्राय-प्रयोजन के स्पष्टीकरण में सहायक सिद्ध होती हैं। 'लज्जा और ग्लानि' में ग्लानि के स्पष्टीकरण के लिए शुक्ल जी लिखते हैं—"चित्रकूट में भरत-राम के मिलाप के स्थान पर जब उनके आने का समाचार पहुँचा तब 'सुनत जनक आगमन हरखेउ अवध समाज' पर 'गरइ गलानि कुटिल कैकेयी'।" (५८) ग्लानि का अपराधी आश्रय उतना ही अधिक अभिभूत होता है जितना आलम्बन उसके प्रति सद्भाव प्रदर्शित करता है—"वन से लौटने पर रामचन्द्र कैकेयी से मिले और 'रामहिं मिलत कैकेयी हृदय बहुत सकुचानि' पर जब लक्ष्मण 'कैकेयी कहँ पुनि-पुनि मिले' तब तो वह लज्जा से धँस गई होगी।" (५८) यह उल्लेखनीय है कि इनसे भाषा-प्रवाह कुण्ठित नहीं हुआ।

हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत की उक्तियाँ तथा सिद्धांतसूत्र भी उनकी भाषा का अंग बनकर आते हैं। यथा—

"हमारे यहाँ भगवान की मूर्ति एक ओर तो 'वज्रादपि कठोर' और दूसरी ओर 'कुसुमादपि मृदु' रखी गई है।" (२२६)

"इसी से यत्राकृतिस्तत्र-गुणा वसन्ति' सामुद्रिक की यह उक्ति लोकोक्ति के रूप में चल पड़ी है।"(२१८)

"कहीं उसे 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का सिद्धांत चलता दिखाई पड़ता है, कहीं लाठी और भैंस का।"(३८)

"भर्तृहरि ने 'स्वानुभूत्यैकमानाय' कह कर नमस्कार किया है।"(३६)

विराम-चिह्न

विराम-चिह्नों का ठीक प्रयोग भी सुव्यवस्थित शैली के लिए अनिवार्य है। शब्द ही नहीं, विराम-चिह्न भी बोलते हैं। शुक्लजी ने सभी प्रचलित विराम-चिह्नों का उचित प्रयोग किया है। सभी प्रकार के पूर्ण, अल्प, अर्द्ध विराम-चिह्न तथा विस्मय-बोधक, प्रश्नार्थक चिह्न आदि तो मिलते ही हैं कोष्ठक तथा निर्देशक चिह्नों की प्रवृत्ति भी विशेष रूप से दिखाई देती है। कोष्ठक तथा निर्देशक चिह्नों के बीच निक्षेप वाक्यखंड का प्रयोग देखिए—

"ऐसे ओछे लोगों के साहस या उत्साह की अपेक्षा उन लोगों का उत्साह या साहस भाव की दृष्टि से कहीं अधिक मूल्यवान है जो किसी प्राचीन प्रथा की—चाहे वह वास्तव में हानिकारिणी ही हो—उपयोगिता का सच्चा विश्वास रखते हुए प्रथा तोड़ने वालों की निंदा, उपहास, अपमान सदा सहा करते हैं।" (८)—यहाँ एक वाक्य में दो-दो निर्देशक चिह्नों के मध्य दो बार वाक्यखंड आए हैं। ये अर्थ की व्याप्ति या विषय के साथ छूटी-सी प्रतीत होने वाली सामग्री को पूर्ण करने के लिए, वाक्य-प्रवाह को कुण्ठित किए बिना, आए हैं। ये छोटे हैं अतएव पाठक को अर्थ-बोध में कठिनाई नहीं होती, किन्तु कहीं-कहीं ये पर्याप्त लम्बे हो गए हैं और अर्थ-बोध में विलम्ब के कारण भी। कहीं-कहीं ये निक्षेप वाक्य, अभिप्राय-स्पष्टता के साथ, कथन को बल प्रदान के लिए भी आए हैं। जैसे—"राम में सौन्दर्य, शक्ति और शील तीनों की चरम अभिव्यक्ति

एक साथ समन्वित होकर मनुष्य के सम्पूर्ण हृदय को—उसके किसी एक ही अंश को नहीं—आकर्षित कर लेती हैं।" (२०१)

अब हम कोष्ठक चिह्नों की अन्तर्गति-योजना को प्रस्तुत करते हैं—"जिस पर हम क्रोध करेंगे वह (हमारे क्रोध के कारण) हम पर भी क्रोध करेगा।"(१०३)

"'चमत्कार' से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है जिसके अंतर्गत वर्ण-विन्यास की विशेषता (जैसे अनुप्रास में), शब्दों की क्रीड़ा (जैसे श्लेष, यमक आदि में), वाक्य की........" (१६८) प्रश्नार्थक चिह्न का प्रयोग भी पर्याप्त तथा विशेष प्रयोजन से किया गया है। प्रश्नार्थक चिह्न का प्रयोग सामान्यतः प्रश्नोत्तर में किया जाता है किन्तु शुक्ल जी ने अपने कथनों में प्रश्न की अवतारणा से उन्हें बलशाली बनाने के लिए इसका सफल प्रयोग किया है। जैसे शुक्ल जी केशव की चमत्कारवादी उक्तियों को उद्धृत करके सीधे रूप में अपने आलोचनात्मक मत को व्यक्त नहीं कर देते, वहाँ वह प्रश्नार्थक चिह्न का आश्रय लेकर पूछते हैं—'क्या कोई भावुक इन उक्तियों को शुद्ध काव्य कह सकता है? क्या ये उसके मर्म का स्पर्श कर सकती हैं? (१७०) यहाँ उत्तर देने की शुक्ल जी ने आवश्यकता नहीं समझी क्योंकि प्रश्न ही उत्तर भी दे रहे हैं। कुछ स्थलों पर शुक्ल जी अपनी बात को प्रश्न रूप में उपस्थित कर स्वयं ही उत्तर देते हैं। यहाँ भी उनका उद्देश्य स्वमत को बलशाली रूप में प्रस्तुत करना ही है, यथा वे लिखते हैं—"किसी महाक्रूर पुलिस कर्मचारी को जाकर देखिए, जिसका हृदय पत्थर के समान जड़ और कठोर हो गया है, जिसे दूसरे के दुःख और क्लेश की भावना स्वप्न में भी नहीं होती। ऐसों को सामने पाकर स्वभावतः यह मन में आता है कि क्या इनकी भी कोई दवा है? इनकी दवा कविता है।"(१६०)

प्रभावपूर्ण वाक्य-रचना

प्रश्नार्थक चिह्न से या शब्दों-वाक्यों को तुकदार बनाकर वाक्यों को बल प्रदान करने की व्याख्या तो हम कर चुके हैं, इनके अतिरिक्त भी

प्रभावात्मक वाक्य-गठन में कुछ साधनों का अवलम्बन किया गया है। प्राय: वाक्य में सहायक क्रियाओं के अनुक्रम को बदल कर—वाक्यात की बजाय पहले या बीच में रख कर या उनके लोप द्वारा—शुक्लजी प्रभावात्मक वाक्य-गठन में समर्थ हुए है। इससे वाक्यो का बल और चुस्ती बढ़ गई है। कुछ उदाहरणों से हमारी बात स्पष्ट हो जायगी। जैसे—

(१) मध्य तथा आरम्भ में सहायक क्रिया की योजना से—

"मेघदूत न कल्पना की क्रीड़ा है, न कला की विचित्रता। वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूप-माधुरी पर सीधी-सादी प्रेम-दृष्टि।" (१४९)

"उसके भीतर झलकता है जीवन का नित्य और प्रकृत स्वरूप।" (मध्य में क्रिया)

"धर्म है ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति।" (आरम्भ में क्रिया)

(२) एक लघु वाक्य में क्रिया का अनुक्रम बदल कर—

"दूसरी कोई पद्धति है ही नहीं।" (२०३)

(३) संयुक्त वाक्यांत में सहायक क्रिया का लोप कर—

"बीती बिसारने वाले आगे की सुध का दावा किया करें, परिणाम अशांति के अतिरिक्त और कुछ नहीं।" (२६०) (होता क्रिया का लोप)

(४) संयुक्त वाक्य में सहायक क्रिया के लोप से—

"न भक्तों के राम और कृष्ण उपदेशक, न उनके अनन्य भक्त तुलसी और सूर।" (२०१)

प्रभाव-पूर्णता के लिए शुक्ल जी शब्दों, तथा वाक्य-खंडों की आवृत्ति से भी काम लेते हैं। जैसे निम्न दीर्घ वाक्य में—'जो यह भी नहीं'—वाक्य-खंड की आवृत्ति देखिए—"जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणयसौरभ-पूर्ण मन्जरियों से लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकता कि किसानों···" (७६)

निम्न-वाक्य में भी आवृत्ति स्पष्ट है :—

"लोग अपना क्रोध स्वीकार करते हैं, भय स्वीकार करते हैं, घृणा स्वीकार करते हैं, पर ईर्ष्या का नाम कभी मुँह पर नहीं लाते।" (१२३)

राम और कृष्ण का स्मरण कहाँ-कहाँ होता है, इसके लिए शुक्ल जी शब्दावृत्ति से उनका व्यापक प्रसार दिखाने में समर्थ हुए हैं—"विमाताओं की कुटिलता की, बड़ों के आदर की, दुष्टों के दमन की, जीवन के कष्ट की, घर की, वन की, सम्पद की, विपद की जहाँ चर्चा होती है, वहाँ इनका स्मरण किया जाता है।"

विभिन्न प्रकार के उद्धरणों से शुक्ल जी का शैलीकार का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। एक शैलीकार प्रभावपूर्ण शैली के निर्माण में कितने विभिन्न साधनों से काम लेता है, यह शुक्ल जी की गद्य-शैली से स्पष्ट है।

शब्द-संग्रह

शब्द-संग्रह की दृष्टि से शुक्ल जी किसी 'खालिसपन' के फेर में नहीं पड़े क्योंकि एकांत विशुद्धता का आदर्श चलती व्यावहारिक भाषा के अनुपयुक्त है। शुक्ल जी का विचार था कि फ़ारसी-अरबी के जो शब्द लोगों की ज़बान पर नाचते हों, उन्हें एक दम छोड़ देना भाषा की संचित शक्ति को घटाना है। दूसरे, हँसी-मज़ाक के लिए वे इन शब्दों को उपयोगी समझते थे। शब्द-चयन के प्रति यह उदार दृष्टिकोण संयत-संतुलित है। संस्कृत-शब्दों के रहने पर भी भाषा का सुबोध बना रहना, फ़ारसी-अरबी के शब्द आने पर भी विदेशीपन न आना, हिन्दी की स्वतन्त्र सत्ता के लिए वे आवश्यक समझते थे।*

समग्रतः शुक्ल जी की शैली तत्सम-बहुला है। संस्कृत के शुद्ध शब्द ही नही समास-गुम्फित पदावली का सौष्ठव भी अनेक स्थलों पर मिलता है। शुक्ल जी का यह वर्णन अवतरणीय है—"जो केवल प्रफुल्ल-प्रसून-

---

*शुक्ल जी के भाषा-सम्बन्धी दृष्टिकोण के लिए देखिए 'चिंतामणि' का 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' निबन्ध। (पृ० ८९)

प्रसार के सौरभ-संचार, मकरंद-लोलुप-मधुप-गुंजार, कोकिल-कूजित-निकुंज और शीतल सुख-स्पर्श-समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं, वे विषयी या भोग-लिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिम-बिन्दु-मण्डित, मरकताभ-शाद्वल-जाल, अत्यन्त विशाल गिरि-शिखर से गिरते हुए जलप्रपात के गम्भीर गर्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविध-वर्ण-स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं, सच्चे भावुक या सहृदय नहीं।" (१४६) ये समस्त शब्दावली शुक्ल जी को प्रकृति का चित्र उतारने में सहायक हुई है। समस्त शब्दों में भी ध्वनि-अनुकूलता तथा ऐसी अनुक्रमता है कि नाद-झंकार की श्रवण-सुखदता आ गई है। उद्धरण के उत्तरार्द्ध में 'आ'कार का प्राधान्य है क्योंकि विशालता-भव्यता का आभास इसीसे मिल सकता था। अब एक और उद्धरण लीजिए जिसमें समस्त सब्दावली से क्रियाओं का चित्र—ध्वनि-चित्र—अंकित होता चला जाता है। यथा—पर्वत की ऊँची चोटियों में विशालता और भव्यता का;वात-विलोड़ित जल प्रसार में क्षोभ और आकुलता का;विकीर्ण-घन-खण्ड मण्डित, रश्मि-रञ्जित साध्य-दिगञ्चल में चमत्कार पूर्ण सौन्दर्य का; ताप से तिलमिलाती धरा पर धूल झोंकते हुए अंधड़ के प्रचण्ड झोंकों से उग्रता और उच्छृंखलता का, बिजली की कँपाने वाली कड़क और ज्वालामुखी के ज्वलन्त स्फोट में भीषणता का आभास मिलता है। (१५५) इसी तरह जब वे किसी उत्साही अश्वारोही का वर्णन करेंगे तो उनकी समस्त शब्दावली ही चढ़ाई की अगम्यता का आभास दे देगी—'अनुसंधान के लिए तुषार-मण्डित अभ्रभेदी अगम्य पर्वतों की चढ़ाई।' (७) इन उद्धरणों में शुक्ल जी के पाण्डित्य का आभास चाहे हो, विषयानुकूलता की शोभन विशेषता से उनकी भाषा कहीं वंचित नहीं।

उल्लिखित अवतरणों के अतिरिक्त समासात्मक शब्दों तथा वाक्य-खण्डों का प्रयोग भी हुआ है जो अल्पतम शब्दों में अधिकतम अभिव्यक्ति

की लक्ष्य-सिद्धि करते हुए, भाषा की शक्ति को बढ़ाते हैं। ऐसी शब्दावली द्रष्टव्य है—अर्थत्याग (७), निन्दा-स्तुति (८), कीर्ति-लोभ, कर्म-शृंखला, बुद्धि-साहस (१०), श्रद्धा-भाजन (२०) अभ्यास-सम्पन्नता (२३), अज्ञात-कुल-शील (४५), अनन्त-शक्ति-सौन्दर्य-समन्वित (२०२), मनुष्य-हृदय का सामंजस्य-स्थापन (१६२), बुद्धि-व्यवसाय, विचार-प्रसूत (२३६), वस्तु-व्यापार-विधान (२४२)

इन शब्दों के अतिरिक्त विषयानुकूल व्यावहारिकता के लिए उन्होंने तद्भव तथा देशज शब्दों—विशेष रूप से 'भाव या मनोविकार' विषयक निबन्धों में जहाँ दैनिक जीवन के उदाहरण अधिक हैं—को भी खुलकर अपनाया है। जैसे धड़क, ढब, चाँइ (२८) आदि देशज शब्द हैं। फिर भी तद्भग्व शब्द ही अधिक हैं। इनके अतिरिक्त पदार्थ की यथार्थ या कल्पित ध्वनि को ध्यान में रखकर बने अनुकरण-मूलक शब्द भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। जैसे—चट (१३४), घसीट (१५२), म्याँव-म्याँव (१५१), चिड़चिड़ी (१५०), झलमलाते (१६६), खटका (६७) कड़क (१५५), तिलमिलाती (१५४), लहलहाते (१४६) आदि।

भाषा को व्यावहारिक बनाए रखने के लिए रोजमर्रा के जिन (अरबी-फ़ारसी) शब्दों का प्रयोग किया है, वे हैं—

दीवार (२४०), बला (१११), हिसाब (१२), गिरफ़्तार (१११), खिलाफ़ (२४१), सफ़र (७), तादाद (१०), साफ़ हवा (२४१), अलबत।
'अलबत' तो उनका बड़ा प्रिय शब्द रहा है।

व्यावहारिकता के अतिरिक्त अरबी-फ़ारसी का प्रयोग आवश्यकतावश भी किया गया है। ऐसा उस समय होता है जब कोई उपयुक्त हिन्दी पर्याय नहीं मिलता। जैसे, कानूनन हासिल (३१), मातहत लोग (५४), शौक (२४६) आदि।

कभी समझाने के लिए कठिन हिन्दी-शब्द के साथ उर्दू-पर्याय भी रखते हैं। जैसे—'शील शब्द से चित्त की कोमलता या मुरौवत ही का भाव समझा जाता है।' (४७)

कभी बात को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए हिन्दी के साथ 'अरबी-फ़ारसी' के मिलते-जुलते शब्द ले आते हैं। जैसे—" 'कला' शब्द के प्रभाव से कविता का स्वरूप तो हुआ सजावट या तमाशा और उद्देश्य हुआ मनोरंजन या मन-बहलाव।" (२४६)

शुक्ल जी ने व्यंग्य-विनोद के लिए भी अरबी-फ़ारसी का प्रयोग अधिक किया है। जैसे—

१. "ये वाग्वीर आज-कल की बड़ी-बड़ी सभाओं के मन्चों पर से लेकर स्त्रियों के उठाए हुए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाये जाते हैं और काफ़ी तादाद में।" (१०)

२. "काव्य का हृदय पर उतना ही और वैसा ही प्रभाव स्वीकार किया गया जितना और जैसा किसी परदे के बेलबूटे, मकान की नक्काशी, संरकस के तमाशे तथा भाँड़ों की लफ्फ़ाज़ी, उछल-कूद या रोने-धोने का पड़ता है।······कहीं-कहीं तो वह (कविता) अमीरों के शौक की चीज़ समझी जाने लगी।"

शुक्ल जी के अरबी-फ़ारसी-प्रयोग में विशेषता है कि ये शब्द, हिन्दी में सज कर आते हैं—अजीब नहीं लगते। ये शब्द किसी अतिरिक्त आग्रह से प्रयोग किए नहीं दिखाई देते, इसलिए भाषा का प्रवाह बना रहता है—नहीं, बढ़ जाता है। ऐसा तब सम्भव होता है जब शुक्लजी एक बार अरबी-फारसी का प्रयोग कर अकस्मात हिन्दी पर नहीं आ जाते, बल्कि एक-दो ऐसे शब्दों के साथ उन जैसे दूसरे शब्द भी ले आते हैं। दूसरे, ये शब्द प्रसंगानुकूल भी होते हैं। जैसे, वे 'सहारा के रेगिस्तान' 'की यात्रा' नहीं लिख सकते, 'का सफर' ही लिखेंगे। (७) शुक्ल जी के निम्नस्थ उद्धरण से हमारी बात बहुत स्पष्ट हो जाएगी। वे लिखते हैं—"एक जाति को मूर्तिपूजा करते देख दूसरी जाति के मत-प्रवर्तक ने उसे गुनाहों में दाखिल किया है।" यहाँ शुक्ल जी की परिष्कृत सुरुचि ने जाति या मतप्रवर्तक का नाम लिये बिना ही 'गुनाहों में दाख़िल'

शब्दों से ही अभीष्ट व्यंजित कर दिया है। 'पाप कहा है' से यह बात न बनती।

उन्होंने अंग्रेजी के शुद्ध तथा तद्भव दोनों प्रकार के प्रचलित शब्दों को, आवश्यकतावश—पर बहुत कम—स्वीकार किया है। जैसे रेलवे-स्टेशन (२४४), क्लोरोफार्म (१११), कोट-पतलून, हैट (२१६), कैंप (७८), अफ़सर, फैशन (२४१) आदि। पहले दो शब्दों के तो हिन्दी-पर्याय नहीं मिलते किन्तु 'फ़ैशन' का हिन्दी पर्याय होते हुए भी वह अभीष्ट अर्थ नहीं दे सकता। जैसे "किसी कविता के सम्बन्ध में किसी 'वाद' का नाम लेना अब 'फैशन' के खिलाफ माना जाने लगा है।" यहाँ 'फैशन' के स्थान पर 'रिवाज' कर देने से काम न चलता। प्रायः 'फैशन' से लेखक ने व्यंग्य करने का काम लिया है। वस्तुतः शुक्ल जी का ध्यान भाषा की अभिव्यञ्जना-शक्ति पर रहता है और इसके लिए वे अनुकूल विदेशी शब्द भी ग्रहण कर भाषा की संचित शक्ति का वर्द्धन करते हैं।

शुक्ल जी ने नूतन शब्दों का निर्माण कर हिन्दी के शब्द-भण्डार को विकसित किया। अंग्रेज़ी साहित्य-समीक्षा सम्बन्धी अनेक शब्दों के समानार्थी शब्द उन्होंने दिए हैं। जैसे—बिम्ब (Images) (२२८); प्रत्यक्षीकरण पक्ष (Presentative aspect), संकेत पक्ष (Symbolic aspect) (२२६), निरपेक्ष दृष्टि (Dramatic or Absolute vision) (२३४), पुनरुत्थान-काल (Renaissance) (२३६), स्वच्छन्दता के आंदोलन (Romantic movement) (२३८), स्वयं प्रकाश ज्ञान (Intuition) (२३६), अहं का विसर्जन और निःसंगता (Impersonality and Detachment) (२४७), अन्तस्संज्ञा के क्षेत्र (Sub-Conscious Region) (२२१), शिक्षावाद (Didacticism) (२१८), शक्ति काव्य (Poetry

as an Energy) (२१४), कला-काव्य (Poetry as an Art) (२१५) आदि।

शास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषण करने पर कहा जा सकता है कि शुक्ल जी के निबन्धों में समग्रतः उपनागरिका वृत्ति का प्रयोग हुआ है। यहाँ कर्ण-कटु तथा कोमलकांत दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग होने से परूषा-कोमला दोनों वृत्तियों का समन्वय हुआ है। अतएव उपनागरिका वृत्ति का प्रधान्य है।

'यशोधरा' की वैष्णव भावना

यशोधरा का उद्देश्य काव्य-उपेक्षिता उर्मिला—और उसके माध्यम से समाज-उपेक्षिता अबलाओं—को वाणी देते हुए नारी की सत्ता-महत्ता को व्यक्त करना है। इस मूल उद्देश्य के अतिरिक्त वैष्णव सिद्धांतों की संस्थापना का उद्देश्य भी है। ये दोनों उद्देश्य भी सम्बद्ध हैं जैसा कि गुप्त जी के इस स्वकथन से स्पष्ट है—"अमिताभ की आभा में ही उनके भक्तों की आँखें चौंधिया गईं और उन्होंने इधर देखकर भी न देखा। सुगत का गीत तो देश-विदेश के कितने ही कवि-कोविदों ने गाया है, परन्तु गर्विणी गोपा की स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता देखकर मुझे शुद्धोधन के शब्दों में यही कहना पड़ा है कि—

गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको।

अथवा तुम्हारे शब्दों में मेरी वैष्णव भावना ने तुलसीदल देकर यह नैवेद्य बुद्धदेव के सम्मुख रक्खा है। † स्पष्ट है कि कवि की वैष्णव भावना या 'वैष्णवजन तो तेने कहिए जो पीर पराई जाने' की वैष्णवीय करुणा ने यशोधरा की उपेक्षा को दूर किया है।

'यशोधरा' के मंगलाचरण से भी गुप्त जी की वैष्णव भावना का संकेत मिलता है। इससे मंगलाचरण वस्तु-निर्देशात्मक भी हो गया है। राम के 'नाम-रूप-गुण-लीला-लाभ' के लिए इसी देश में पुनर्जन्म लेने तथा 'भुक्ति-मुक्ति' के स्थान पर 'भक्ति' की याचना से वैष्णवों के भक्ति-सम्प्रदाय के तत्त्व स्पष्ट हो जाते हैं।

'धन्य हमारा भूमिभार भी
जिससे तुम अवतार धरो'

---

† यशोधरा, शुल्क पृ० ५

से गुप्तजी की वैष्णवों के अवतारवाद में आस्था भी स्पष्ट है। राम के लिए 'नीरज नाभ' का प्रयोग भी साभिप्राय है।‡

मंगलाचरण के बाद 'सिद्धार्थ' तथा 'महाभिनिष्क्रमण' शीर्षक उपखण्डों में गुप्त जी ने सिद्धार्थ के उन विचारों को स्पष्ट किया है, जो उसके 'महाभिनिष्क्रमण' के प्रेरक कारण हैं। गुप्त जी ने इन प्रकरणों में सिद्धार्थ-प्रतिपादित बौद्ध सिद्धांतों की यशोधरा के द्वारा आलोचना करा के वैष्णव विश्वासों की स्थापना की है। वैसे तो समग्र 'यशोधरा' में ऐसा हुआ है किन्तु 'यशोधरा' शीर्षक उपखण्ड की योजना ही इसी अभिप्राय से हुई है। यशोधरा मानों गुप्त जी के वैष्णव विचारों की प्रतिनिधि बन कर आई है। अब हम संक्षेप में 'यशोधरा' में आई बौद्ध तथा वैष्णव मान्यताओं का तुलनात्मक स्पष्टीकरण करेंगे।

सिद्धार्थ इस संसार-चक्र को दार्शनिक-ग्लानि से देखते हैं और यशोधरा को ऐसा कोई 'वक्र' चक्र नहीं दिखाई देता जिस में पिसना पड़े।† वह समझती है कि दृष्टि-दोष से ही यह चक्र-भ्रमण दिखाई देता है।

---

‡यशोधरा पृ० १०

† घूम रहा है कैसा चक्र !

यह नवनीत कहाँ जाता है, रह जाता है तक्र !
पिसो, पड़े हो इस में जब तक,
क्या अन्तर आया है अब तक,
सहें अन्ततोगत्वा कब तक—
हम इस की गति वक्र।
घूम रहा है कैसा चक्र !

—सिद्धार्थ (१२)

आली, चक्र कहाँ चलता है ?
सुना गया भूतल ही चलता, भानु अचल जलता है।

—यशोधरा (५०)

सिद्धार्थ के लिए यह संसार दुःखमय है जिसमें मानव को त्रितापों में तपना पड़ता है। अतएव वह इन से विनिवृत्ति-हेतु वैरागी बनते हैं। (१९) किन्तु यशोधरा सुख-दुःख को सहज भाव से लेती है, उस का प्रश्न है—

होता सुख का क्या मूल्य, जो न दुख होता ?
प्रिय-हृदय सदय हो तपस्ताप क्यों सहता ?
मेरे नयनों से नीर न यदि यह बहता,
तो शुष्क प्रेम की बात कौन फिर कहता,
रह दुःख ! प्रेम परमार्थ दया मैं लाऊँ। (१०८)

यशोधरा को दुख से भी ममता है क्योंकि उससे सहानुभूति-समता बढ़ती है। (१३६) इस जीवन-वाटिका में करुण शूल ही शूल तो नही, सुख के तरुण फूल भी तो हैं। (१०७) सिद्धार्थ को ऐसे अनेक प्रमाण मिलते है जो संसार के दुःखद स्वरूप को प्रकट करते हैं। संसार के सभी सुख क्षणिक हैं और अन्ततः उनका दुष्परिणाम ही होता है। सिद्धार्थ को प्रकट-भोग पच्छन्न-रोग तथा संभोग मात्र भावी वियोग जान पड़ता है। (१७) वह समझता है कि संसार के नाना विषयों से परितृप्ति नही होती, पिपासा बढ़ती है। (१८) मनुष्य असहाय प्राणी है। सौ सौ रोग उसे घेरे रहते है पर वह कुछ नही कर सकता। (१३) दूसरी ओर यशोधरा मिलनाकाश में विरह-घटा-सी छाना चाहती है। (१०६)

'भोगें इन्द्रिय, जो भोग विधान-विहित है' (१०८)

—यहाँ 'विधान-विहित' से तात्पर्य अर्थ और काम के उन भोगों से है जिन पर धर्म का नियन्त्रण रहता है। आगे की ही पंक्ति मे यशोधरा कहती हैं—

'अपने को जीता जहाँ, वहीं सब जित है' (१०८)

इस से पहले भी वह कह चुकी है—

'यदि हम मे अपना नियम और शम-दम है,
तो लाख व्याधियाँ रहें स्वस्थता सम है।' (१०७)

यदि हम नियम-संयम के साथ, उच्छृंखलता न होते हुए, जीवन का उपभोग कर सकें तो कोई दोष नहीं। वस्तुतः भोग और त्याग के साथ-साथ निर्वाह में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। यदि भोग ही भोग हो तो मनुष्य किसी काम का नहीं रहता किन्तु मात्र त्याग तो जीवन ही नहीं रहने देता और हठयोग का रूप धारण कर लेता है। भोग तथा त्याग की समान आवश्यकता है। तब ही त्याग सहज तथा व्यवहार्य हो सकता है। गुप्त जी का आदर्श 'साकेत' और 'यशोधरा' की निम्न पंक्तियों में भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है—

१ 'निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।'

२ 'जल में शतदल तुल्य सरसते
तुम घर रहते हम न तरसते'　　　('यशोधरा' ११९)

सारतः गुप्त जी का त्याग या 'शम-दम' वैरागियों का नहीं संसारियों का है। यह भोग-पुष्ट होने से सहज हो जाता है। यह पंकिलता में पंकज का आदर्श है। निवृत्तिमार्गी गौतम नारी को सिद्धि-मार्ग की बाधा समझा था। आधुनिक प्रवृत्ति-मार्गी युग ऐसे वैराग्य को पलायन समझता है। इसलिए गुप्त जी ने यशोधरा के द्वारा भोग के साथ शम-दम की बात कही है जिसमें और भी अधिक साधना या अभ्यास की आवश्यकता है। पति-पत्नी साथ-साथ रह कर भी साधना कर सकते हैं, यही आधुनिक युग का आदर्श है।

सिद्धार्थ ने देखा था कि शैशव की कली तथा यौवन का सुगंधित फूल वृद्धावस्था में मुरझा जाता है और अन्त में धूल में मिल जाता है। इस दृष्टि से मानव और फल-फूल की समान स्थिति है—सब का अन्त मृत्यु में है। सिद्धार्थ की अनुभूति इन पंक्तियों में स्पष्ट है—

देखी मैं ने आज जरा!
हो जावेगी क्या ऐसी ही मेरी यशोधरा?

हाय ! मिलेगा मिट्टी में वह वर्ण-सुवर्ण खरा ?
सूख जायगा मेरा उपवन, जो है आज हरा ? (१३)

या— मैं सूँघ चुका वे फुल्ल फूल,
झड़ने को हैं सब झटित भूल।
चख देख चका हूँ मैं, समूल—
सड़ने को हैं वे अखिल आम ! (१७)

वह सब को 'मृत्यु-भीत' पाता है (१७) और उसे सर्वत्र आने-जाने या आवागमन की धूम-धाम दिखाई देती है। (१६) सभी का चेतन एक न एक दिन रोग-पशुओं द्वारा अवश्य चरा जाता है, मानो जग मरने को ही जीता हो। (१३) पर यशोधरा के लिए जरा और मृत्यु दोनों सार्थक हैं। वह जीवन में संयम के साथ जरा को 'विश्रांति' तथा मरण को नव जीवन-दाता समझती है। (१०७) वह सिद्धार्थ को निम्नस्थ पंक्तियों में युक्तियुक्त उत्तर देती है—

माना, ये खिलते फूल सभी झड़ते हैं,
जाना, ये दाड़िम, आम सभी सड़ते हैं।
पर क्या यों ही ये कभी टूट पड़ते हैं ?
मैं विफल तभी, जब बीज-रहित हो जाऊँ। (१०७)

अनात्मवादी बौद्ध मृत्यु के बाद नवजीवन की कल्पना नहीं कर सकते। यशोधरा आत्मवादी है, इसलिए आशावादी बनकर कह सकी है कि बीज (आत्मा) के अस्तित्व से, या आत्मवाद पर विश्वास से जीवन की सार्थकता पर प्रश्नचिन्ह नहीं लग सकता। आगे की पंक्तियों में वह कहती है—

आकर पूछेंगे जरा-मरण यदि हम से,
शैशव यौवन की बात व्यंग्य-विभ्रम से,
हे नाथ, बात भी मैं न करूँगी यम से,
देखूँगी अपनी परम्परा के क्रम से,
भावी पीढ़ी में आत्म रूप अपनाऊँ। (१०८)

फल या व्यक्ति का अन्त व्यक्तिगत रूप से होता है, परम्परा के विकास या समष्टि-रूप से उसकी धारा अविच्छिन्न है।

सिद्धार्थ संसार के क्षण-भंगुर तथा निस्सार स्वरूप के कारण इसे अन्तिम प्रणाम—राम राम—करता है, और जन्म के साथ अनिवार्य मरण के दाय को बार बार नहीं चुकाना चाहता (१५) इसलिए वह मुक्ति या निर्वाण को अनिवार्य समझता है—

मुक्ति-हेतु जाता हूँ यह मैं, मुक्ति, मुक्ति, बस मुक्ति।

सारतः वह आवागमन के चक्र या संसार के बन्धन से मुक्त होना चाहता है, इसलिए निर्वाण पथ का पथिक बनता है। इसके विपरीत यशोधरा संसार के बन्धन को बन्धन नहीं समझती—क्योंकि 'बन्धन' को सहज 'सम्बन्ध' का रूप देने से वह बन्धन नहीं रह जाता—

निज बन्धन को सम्बन्ध सयत्न बनाऊँ
कह मुक्ति, भला, किस लिए तुझे मैं पाऊँ ? (१०७)

यशोधरा को भव भाता है अतएव वह संसार के नाते को क्यों तोड़े ? प्रत्यक्ष जीवन को छोड़ कर अपर मुक्ति से नाता क्यों जोड़े ? वह कहती है—

भव भावे मुझ को और उसे मैं भाऊँ।
कह मुक्ति, भला, किस लिए तुझे मैं पाऊँ ? (१०७)

यशोधरा आवागमन में जीवन का सौन्दर्य, प्रकृति का सहज स्वभाव तथा नूतनता का आनन्द देखती है अतएव वह बौद्धों के निर्वाण-सिद्धांत की समर्थक नहीं। उसका तर्क है—

ये चन्द्र-सूर्य्य निर्वाण नहीं पाते हैं;
ओझल हो हो कर हमें दृष्टि आते हैं।
झोंके समीर के झूम झूम जाते हैं;
जा जा कर नीरद नया नीर लाते हैं।
तो क्यों जा जा कर लौट न मैं भी आऊँ ?
कह मुक्ति, भला किस लिए तुझे मैं पाऊँ ? (१०८)

सिद्धार्थ सदैव संसार-सागर से पार उतरने की बात कहता है किन्तु यशोधरा उसमें प्रवेश की, नए जीवन के संचार की कामना करती है—

आओ, प्रिय ! भव में भाव-विभाव भरें हम,
डूबेंगे नहीं कदापि, तरें न तरें हम।

डूबता वह है जो अपने कर्त्तव्य-कर्म को भूल जाता है। स्वधर्म-पालक न कभी संसार में डूबता है, न संसार से बाहर उसे मुक्ति की खोज करनी पड़ती है। इसलिए यशोधरा कहती है—

निज कर्मों की कुशल सदैव मनाऊँ।
कह मुक्ति, भला, किस लिए तुझे मैं पाऊँ ? (१०८)

कैवल्य-कामी लोग कहते हैं कि 'इच्छा दुख है' तो क्या कैवल्य-कामना इच्छा से इतर वस्तु है ? मात्र अपने लिए जीवन विधर्म है, तथा दूसरों के लिए जीना धर्म। लोकमंगल के लिए जीवन सार्थक है, अतएव संसार-सेवा के लिए बारबार आवागमन क्यों न स्वीकार करें ?—

कैवल्य काम भी काम, स्वधर्म धरें हम,
संसार-हेतु शत बार सहर्ष मरें हम। (१०९)

मृत्यु के समय मनुष्य का धर्म, उस के पुण्य कर्म, उस का साथ देते हैं। तब मृत्यु भी सुन्दर हो जाती है—

पाप नहीं, किन्तु पुण्यताप मेरा संगी है,
मरण-प्रसंग में यही तो एक अंगी है। (१३६)

वैष्णव मत में कर्म के साथ नियति का भी स्थान है। इसी का आभास हमें यशोधरा की निम्न पंक्तियों में मिलता है—

निशि की अँधेरी जवनिके, चुप चेतना जब सो रही,
नेपथ्य में तेरे न जाने, कौन सज्जा हो रही !
मेरी नियति नक्षत्र-मय ये बीज अब भी बो रही,
मैं भार फल की भावना का व्यर्थ ही क्यों ढो रही ? (६३)

इसलिए वह कहती है—

'भोगना ही पड़ता है, जो जो भोग होता है।' (१३५)

पर इससे किसी निराशा की सृष्टि नहीं होती, आशा में आस्था बढ़ती ही है—

किन्तु प्रकृति के पीछे भी तो पुरुष एक है न्यायी,
आशा रक्खो, आशा रक्खो, आशा रक्खो, भाई ! (१३१)

तात्पर्य यह कि नियति पर आश्रय से निर्भयता से कर्म किए जा सकते हैं।

वैष्णव मत में सगुणवाद तथा अवतारवाद में विश्वास है। गुप्त जी बुद्ध को भी इसी आधार पर मान दे सके हैं। यशोधरा बुद्ध के लिए कहती है—

बाँध नर ही तुम्हें न लाते,
तो क्या तुम इस भू पर आते ?
निर्गुण के गुण गाते गाते
हुई गभीर गिरा भी गूँगी,
क्या देकर मैं तुमको लूँगी (१२७)

संसार को मुक्त करने के लिए बुद्ध को भी बन्धनों में बँधना पड़ा।

पर यह अवतारवाद भी आधुनिक बुद्धिवाद से परीक्षित-प्रमाणित है। आज के बौद्धिक अध्यात्म के फलस्वरूप अवतारवाद भी रूढ़ रूप में गृहीत नहीं। आर्यसमाज, रवीन्द्र, गाँधी तथा बाद में विशेष रूप से अरविन्द में नर को नारायण में आरोहित किया गया है। ईश्वर माने जाने वाले राम और कृष्ण का मानवीकरण हुआ। उनके महापुरुषत्व में, लोकोपकार के उच्च कार्यों में देवत्व देखा गया, और इसी आधार पर उनको अवतार माना गया। यह मानव की महत्ता की अपूर्व स्वीकृति है। यद्यपि गुप्त जी को राम के ईश्वरत्व में पूरा विश्वास है फिर भी 'साकेत' के राम को वह बुद्धिवाद से नहीं बचा सके। ऐसा करते तो युग का साथ न दे पाते। उनके राम कहते हैं—

भव में नव वैभव प्राप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।†

---

†साकेत, संस्करण २००५, पृ० १६७।

यशोधरा भी बुद्ध के सम्बन्ध में यही कहती है—

लूंगी क्या तुमको रोकर ही ?
मेरे नाथ, रहे तुम नर से नारायण होकर ही। (१२९)

समाज परिवारों से बनता है और परिवार सुरक्षित हैं घरों में। स्वयं नारी की महत्ता घर के साथ है। इस सम्बन्ध में हज़ारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"भारतवर्ष के सभी मर्यादा प्रेमी कवि परिवार के कवि रहे हैं।"* गुप्त जी को भी परिवार-व्यवस्था का विशेष ध्यान रहता है। यशोधरा भी गृहत्यागी बुद्ध के लिए 'गृह-मार्ग' न भूलने की कामना करती है—

भले ही मार्ग दिखाओ लोक को,
गृह-मार्ग न भूलो हाय !
तजो हो प्रियतम ! उस आलोक को,
जो पर ही पर दरसाय (१३३)

गृह-मार्ग (गृहस्थ-जीवन) पर चलते हुए भी सिद्धि मिल सकती है। राहुल कहता है—

और रहो चाहे जहाँ, सिद्धि तो है धुन की,
तेरी गोद में ही अम्ब, मैंने सब पाया है,
ब्रह्म भी मिलेगा कल, आज मिली माया है। (१०४)

वैष्णव मत में माया भगवान से मिलाने की एक शक्ति रूप में गृहीत है, अतएव मायावी गृहस्थ धर्म सिद्धि में साधक है, बाधक नहीं। गुप्त जी के विचारों में व्यक्ति, परिवार तथा समाज सब की महत्ता स्वीकृत हुई है।

गुप्त जी ने बुद्ध के उन विचारों का खंडन नहीं किया जहाँ वैष्णव और बौद्धमत एकमत हो जाते हैं। जैसे बुद्ध की हिंसा-विरोधी निम्न पंक्तियाँ दोनों को मान्य हैं‡—

---

* हिन्दी साहित्य, पृ० ४४३

‡ हम बलदेव उपाध्याय के इस कथन से सहमत हैं कि "इस भव्य

वह कर्म-काण्ड-ताण्डव-विकास
वेदी पर हिंसा-हास-रास,
लोलुप-रसना का लोल-लास,
तुम देखो ऋग, यजु और साम ! (२८)

यद्यपि गुप्त जी ने मंगलाचरण में 'भक्ति' की याचना की है पर 'यशोधरा' में भक्ति के किसी रूढ़िवादी आचारात्मक रूप का प्रतिपादन नहीं। वस्तुतः आज कर्म-मार्ग की महत्ता ही स्वीकृत है और इसी की व्याख्या यशोधरा ने की है।

यह समझ लेना जरूरी है कि गुप्त जी की वैष्णव भावना भी आधुनिक वैष्णव भावना है जो आज के मानववाद, पुनरुत्थानवाद तथा बुद्धिवाद से प्रभावित है। वस्तुतः इसे वैष्णव भावना न कह कर, आधुनिक विचारधारा कहना अधिक संगत होगा।

अन्त में 'यशोधरा' की एक विशेष असंगति की व्याख्या करना हम अनिवार्य समझते हैं। यशोधरा ने अपने पुत्र राहुल को गृहमार्ग का त्याग करा बुद्धं शरणं, धर्मं शरणं, संघं शरणं कर दिया। वह स्वयं भी इसी मार्ग का अवलम्बन करती है। यह उसके अपने ही सिद्धांतों के विरुद्ध जाता है। यह ठीक है कि राहुल भिक्षु बनकर विश्व का उपकार करेगा, किन्तु यह भी तो निवृत्ति-मार्ग है। अवश्य ही राहुल को विश्व-कल्याण के लिए संघ-शरण करने में त्याग की दृष्टि से गोपा की (नारी की) महत्ता बढ़ती है, किन्तु दूसरी दृष्टि से वह अपनी ही महत्ता कम कर लेती है। नारी की वास्तविक महत्ता परिवार में है और राहुल को गृहमार्गी न बनाकर या जल में कमलवत साधना का अनुयायी न बनाकर, उसने अपने

भारत के प्रांगण में वैष्णव धर्म ने ही सर्वप्रथम अहिंसा का शंखनाद फूंका था जिसका अनुकरण कर जैन तथा बौद्ध धर्मों ने कालांतर में इतनी ख्याति प्राप्ति की···वैष्णव धर्म ने ही वैदिक धर्म के भीतर से ही सर्वप्रथम वेद के हिंसामय यज्ञों के विरुद्ध विरोध का झंडा ऊपर उठाया।" ('भागवत सम्प्रदाय' पृ० ६)

ही सिद्धांतों में असंगति ला दी है। निवृत्ति के साथ सन्यास; तथा प्रवृत्ति के साथ परिवार का सम्मान बढ़ता है। नारी का आदर भी गार्हस्थ्य या परिवार से ही बढ़ता है। इस दृष्टि से राहुल को परिचालित करने में यशोधरा चूक गई है। वैसे भी यह भिक्षु-मार्ग आज के युगानुकूल नहीं। उद्देश्य वह नहीं होता जो मुख्य पात्र द्वारा मात्र कथित होता है, उस पात्र के कार्यों तथा कथा-परिणति से उसका ध्वनित होना भी आवश्यक है। किन्तु यशोधरा में ऐसा नहीं हुआ। मातृभावना में सृष्टि को परिचालित रखने की एक सहज-प्रेरणा होती है, इसलिए वह पुत्र को गृहस्थी देखना चाहती है। किन्तु यहाँ यशोधरा में वह मातृत्व भी नहीं दिखाई देता। दूसरे इस असंगति से इतिहास और कल्पना के समन्वय का प्रश्न भी सामने आता है। किसी कवि के लिए अपने युग से प्रभावित होना स्वाभाविक है। यही नहीं, युग-धर्म का पालन उसके लिए आवश्यक है, परन्तु प्राचीन कथानक में उसे संगति देने के लिए एक विशेष विधायक कल्पना की आवश्यकता होती है; ऐसी कल्पना कि जिससे कृति में न तो देशकाल सम्बन्धी दोष आए और न ही उसकी वैचारिक एकतानता या समन्विति नष्ट हो। गुप्त जी इन दोनों दोषों से नहीं बच सके। मंगलाचरण में भक्ति, † मध्य में कर्म तथा अन्त में निवृत्ति—असंतुलन स्पष्ट है। अवश्य ही 'भक्ति' को कर्म-मार्ग के लिए एक रागात्मक शक्ति के रूप में ग्रहण किया जा सकता है—जैसा कि रामचन्द्र शुक्ल में मिलता है—किन्तु गुप्त जी ने 'यशोधरा' में इसे कहीं स्पष्ट नहीं किया। वस्तुतः गुप्त जी दो व्यामोहों में उलझ गए। एक ओर वे इतिहास-प्रसिद्ध गौतम की महत्ता कम नहीं कर सकते थे दूसरी ओर अपनी

---

† यह आवश्यक नहीं कि मंगलाचरण और कृति में एक ही बात हो किन्तु आगेकी सम्पूर्ण कृति में विचारात्मक संतुलन अनिवार्य है। 'यशोधरा' के मंगलाचरण को भी हमने कृति के साथ समन्वित रूप में देखा है क्योंकि मंगलाचरण में प्रतिपादित अवतारवाद तथा राम (विष्णु) और बुद्ध को एक करने की बात आगे भी मिलती है।

वैष्णव भावना का प्रतिपादन भी चाहते थे—उन्हें वैष्णव भावना का नैवेद्य बुद्धदेव के सामने रखने की कामना थी। अनात्मवादी बुद्ध के सामने आत्मवादी दर्शन ! दोनों की महत्ता के निर्वाह का प्रयास असफल ही हो सकता था। कुछ आलोचक इसे 'समन्वय' कह सकते हैं और गुप्त जी ने भी कृति में इसका सांकेतिक प्रयास किया है—सिद्धार्थ स्वयं को 'राम का वंशजात' (२२) भी बताता है और 'गोपेश्वर' (२३) (कृष्ण) भी। हमारे विचार में यह 'समन्वय' नहीं, 'समझौता' है। गुप्त जी किसी अन्य कृति में वैष्णव दर्शन देते और यहाँ यशोधरा के उद्धार तक ही सीमित रह जाते तो अच्छा था, क्योंकि अंतिम निवृत्ति-मार्ग में कृति के मूल उद्देश्य—विशिष्ट नारीभावना के निर्माण—को भी क्षति पहुँची है।

—:०:—

महादेवी की भावधारा या वेदनानुभूति

जीवन का हर्ष-विषाद, हास्य-रुदन ही तो गीत है। ये हर्ष-विमर्ष भी जीवन के घात-प्रतिघातों का परिणाम हैं जिनमें कभी हमारी अतृप्त आकांक्षाएँ कराह और कभी सुखात्मक अनुभूतियाँ मुस्कुरा उठती हैं। इन्हीं के भीतर से जीवन को देखने-समझने का एक दृष्टिकोण उभर उठता है जिसके साथ यदि व्यक्ति का विश्वास जुड़ जाए तो उस 'संकल्पात्मक अनुभूति' की सृष्टि होती है जो कविता की जननी है। अतएव गीतिकाव्य में जीवन-दर्शन का उपयुक्त स्थान है। ऐसा इसलिए कि कवि के दर्शन और जीवन के प्रति उसकी आस्था में भेद असम्भव है। यदि यह भेद हुआ, तो कवि काव्य में अपनी अनुभूति के प्रति अविश्वासी होगा और इस स्थिति में किसी भी उत्कृष्ट काव्य का सृजन असम्भव है।

गीति-कवयित्री महादेवी की भावधारा के सम्बन्ध में आलोचना-जगत में जितनी भ्रान्तियाँ हैं, शायद ही उतनी किसी के सम्बन्ध में हों।

कमलेश जी को इन्टरव्यू देते हुए वे कहती हैं: "संघर्ष हमारा प्राण है और वह हमें करना है। आगे भी करेंगे। बिना संघर्ष जिन्दा कौन रहा है ? जीवित रहने के लिए संघर्ष करना हमारे विद्रोही स्वभाव की विशेषता है। यह विद्रोह हमने पढ़ते-पढ़ते ही सीख लिया था। मैं महिला विद्यापीठ में उसी विद्रोह को क्रियात्मक रूप दे रही हूँ। इस क्रियात्मक जीवन में मुझे व्यस्त रहना पड़ता है और मैं उस व्यस्तता में ही जीवन का आनन्द खोजती रहती हूँ। मुझे प्रतिक्षण इस बात की

चिन्ता रहती है कि हम इस हलचल में ही शान्ति का समाधान खोजें और अशान्ति को मिटायें।"[१]

कमलेश जी प्रभावित हुए और उन्हें ऐसा लगा कि "यह आत्मा जो कुछ कह रही है वह उसके अन्तरतम की ध्वनि है।"[२]

बहुत-से आलोचकों का यही मत है कि इस 'अन्तरतम की ध्वनि' की अभिव्यक्ति महादेवी के गद्य में हुई है कविता में नहीं। गद्य में विद्रोह का स्वर है, पद्य में पलायन की भावना। "गद्य और पद्य में महादेवी के जीवन की दो पृथक् धाराएँ विकसित हुई हैं। उनके पद्य की कसौटी है असामञ्जस्य और आत्म-पीड़न, जिनमें बाह्य परिस्थितियों से आस्था न होने के कारण अन्तर्मुखी चिन्तन है, विशुद्ध आध्यात्मिक अनुभूति नहीं। आत्मदर्शी जिन अनुभूतियों में रमता है उनका इनमें अभाव है। अतएव उनका पद्य रागात्मक कल्पना का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता हुआ भी इतना लोक-संवेद्य न हो सका जो मन में उतर पाता। इसके विपरीत महादेवी के गद्य का अपना पृथक् अस्तित्व है......। लोक-सामान्य संवेदनीयता की भाव-भूमि पर उन्होंने गहरे हल्के रंगों के जो चित्र आँके हैं वे अर्थ-पूर्ण अनुभूतियों के आधार पर यथार्थ का सच्चा निरूपण करते हैं।"[३] इस धारणा के अनुसार जब महादेवी गद्य में लिखती हैं तो और ही प्रकार से सोचती हैं, दूसरों के लिए रोती हैं और जन-जीवन से उनका सक्रिय सम्बन्ध प्रकट होता है। परन्तु पद्य में लिखते समय उनके सोचने की विधि बदल जाती है, उनका अपना अभाव ही भाव बन कविता में फूट पड़ता है, एकाकिनी बरसात बनता है और किसी अलौकिक प्रियतम की साधना का स्वाग भरता है। उनकी कविता कल्पनाओं अथवा अध्ययन-प्रसूत दर्शन-चिन्तन के भुलावे में डाल जीवन से दूर ले जाती है,

---

[१] मैं इनसे मिला, पृष्ठ ११६

[२] वही, पृष्ठ ११

[३] महादेवी वर्मा—काव्य कला और जीवन दर्शन, पृष्ठ १२, शची रानी गुर्टू।

और गद्य में उनकी "आत्मा का सत्य शब्द-शब्द, पंक्ति-पंक्ति में सजीव होकर हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है।" गद्य और पद्य का यह भाव-वैषम्य कुछ आलोचकों को आश्चर्य में डाल देता है।

शान्तिप्रिय द्विवेदी महादेवी के दुःख के संवेदनात्मक रूप को उनके संस्मरणों में ही देखते हैं, कविता में नहीं। कविता में अलौकिक वेदना को मानते हैं। "निस्सन्देह महादेवी की कविता न तो जीवन के प्रहर्ष में है, न जीवन के संघर्ष में। उनमें तो केवल उस चेतन की आराधना है जो जीवन के इतने हर्षविमर्षो का संचालक है।"

नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार "महादेवी के काव्य में वैराग्य भावना का प्राधान्य है। महात्म बुद्ध की भाँति नहीं (बुद्ध की मूर्तियों में दुःख की मुद्रा नहीं मिलती) किन्तु बौद्ध संन्यासियों सरीखी एक चिन्ता मुद्रा, एक विरक्ति, एक तड़प, शान्ति के प्रति एक अशान्ति महादेवी की कविता मे सब जगह देखी जा सकती है।"

अमृतराय भी महादेवी के काव्य को आत्म-केन्द्रित मानते हैं और अपनी ही पीड़ा के वृत्त में उसकी समाप्ति भी देखते हैं। गद्य को वह समाज-केन्द्रित मानते हैं। इसलिये वे लिखते हैं—"अब उसका कोई उचित कारण समझ में नहीं आता कि महादेवी के इन दोनों रूपों में ऐसा अमाप पार्थक्य, ऐसा विचित्र वैषम्य क्यों है।" हमारे विचार में यदि महादेवी के काव्य का सम्यक् निरीक्षण-परीक्षण किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि महादेवी के कवि और गद्यकार में कोई विरोध नहीं, ये परस्पर अभिन्न हैं। जीवन में सक्रिय सेवा करने वाली, गद्य में पीड़ितों-शोषितों को वाणी देने वाली, कविता में एकदम वैरागिनी कैसे बन सकती है ? वस्तुतः उनकी अलौकिक वेदना को समझने की आवश्यकता है। आगे की पंक्तियों में हम यही स्पष्ट करेंगे।

यह युग बुद्धिवाद का युग है। बुद्धिवाद, आदर्शवाद अथवा अध्यात्म-वाद का विरोधी नहीं किन्तु वह अपनी कसौटी पर अतीत के आदर्शों को कसता है। बुद्धिवाद की दृष्टि से विरक्तिपरक अध्यात्म इस युग की

माँग के अननुकूल है। सम्बन्ध से विलग होकर हम विजन वन में मोक्ष नहीं पा सकते और मानव-सेवा ही ईश्वर-सेवा है—बुद्धिवादी को यही आध्यात्मिक आदर्श इस युग के अनुकूल जान पड़ा। विवेकानन्द, गाँधी और रवीन्द्र के बौद्धिक अध्यात्म ने मानव-सेवा का पाठ ही पढ़ाया।

विवेकानन्द के अनुसार "मानव में ईश्वर का दर्शन ही सच्चा दर्शन है।" रवीन्द्र की गीतांजलि में यही स्वर मुखरित हुआ। रवीन्द्र के एक गीत 'नैवेद्य' का मूल भाव है "वैराग्य साधन से मुक्ति? अरे वह मेरी नहीं है। मैं तो संसार के असंख्य बन्धनों में ही मुक्ति का आनन्द पा लूँगा।"† गीतांजलि में एक ओर लौकिक प्रेम के रूपकों में दिव्य—अलौकिक रति की अनुभूतियाँ हैं, रहस्यमयता है और दूसरी ओर युगानुरूप अध्यात्म का परम्परा-मुक्त दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। यथा गीतांजलि की निम्न पंक्तियों में—

भजन पूजन साधन आराधना समस्त थाक पड़े
रुद्ध द्वारे देवालयेर कोणे केन आछिस ओरे।
अन्धकारे लुकिये आपन मने, काहार तुइ पूजिस संगोपपने।
नयन मेले देखि-देखि तुइ चेये—देवता नाइ घरे।*

"तू भजन, पूजन, साधन, आराधना सब रहने दे। पुजारी तू मन्दिर का द्वार बन्द किए, उसके कोने में अपने मन के एकान्त अन्धकार में मूक-रूप से किसकी पूजा में संलग्न है? आँख खोलकर देख भगवान कहाँ नहीं है?" महादेवी भी आध्यात्मिक अवश्य हैं किन्तु मीरा की तरह आत्मस्थ अथवा आत्म-केन्द्रित नहीं। उनका अध्यात्म भी विवेकानन्द और रवीन्द्र का, इस युग का अध्यात्म है।

नारी वैसे भी संवेदनशील होती है, कवयित्री और भी अधिक, किंतु महादेवी अत्यधिक-असामान्य संवेदनशील हैं। यह संवेदनशीलता किन्हीं परिस्थितियों का ही प्रभाव नहीं, उनका मूल सांस्कारिक गुण भी है।

---

†गीतांजलि, अनु० पृथ्वीनाथ शास्त्री, गीत सं० ७३, पृ० १६०
*वही, गीत सं० ११, पृ० ३२

शिवचन्द्र नागर महादेवी के सम्बन्ध में लिखते हैं "वे एक पेड़ को एक स्थान से उखाड़कर इसलिये नहीं लगातीं कि वह सूख न जाये। वे एक फल को इसलिये नहीं तोड़तीं कि वह मुरझा न जाये। वे किसी भी जीव की मृत्यु चाहे वह कितना भी छोटा क्यों न हो अपनी आँखों से देखना नहीं चाहतीं। मुझे याद है एक बार जब मेरे एक साथी महोदय ने एक कालीन पर चढ़े आते हुए चीटे को उँगली से दूर फेंका तो वे उसके मर जाने के डर से घबरा उठीं और दूसरी बार जब एक बार उनकी बिल्ली सुनयना ने उनकी आँखों के सामने एक जानवर की हत्या कर डाली तो इनकी आँखों से आँसू झलक आए और कहने लगीं कि— 'अब इस बिल्ली को अपने यहाँ न रखूंगी।' तब से पता नहीं सुनयना कहाँ चली गई। मैंने उसे नहीं देखा।

"विश्व के किसी कोने से किसी की भी पीड़ा की कहानी सुनकर इनका मन उसकी पीड़ा में डूब जाता है। अपने द्वारा यह किसी को पीड़ा पहुँचाना भी नहीं चाहतीं। इसलिये वह किसी भी आदमी से खींची जाने वाली रिक्शा में नहीं बैठतीं।" संस्मरणों से तो यह स्पष्ट ही है। महादेवी के इसी संवेदनात्मक स्वरूप के दर्शन उनकी कविताओं में भी होते हैं।

महादेवी के गीत गीले और साश्रु हैं—दुःख से आपूर्ण हैं। वेदना का इतना एकान्त प्रसार उनके गीतों में क्यों है ? बिना किसी अनिवार्य आवश्यकता अथवा दर्शन के ऐसा नहीं हो सकता। अवश्य ही वेदना उनको प्रिय भी है और इसका उनके जीवन-दर्शन से अनिवार्य रूप से सम्बन्ध भी है। तो क्या जो बात किसी को प्रिय हो वही उसका जीवन-दर्शन भी होगी ? ऐसा आवश्यक तो नहीं, किन्तु महादेवी-जैसी परिपक्व बुद्धिशीला महिला के लिये आवश्यक है क्योंकि उनसे हम किसी सस्ती भावुकता की आशा नहीं कर सकते। और फिर कितनी ही कविताओं में वेदना साध्य भी बन गई है, मानो यही उनका इष्ट हो। "महादेवी ने अपनी वेदना की प्रियता के सम्बन्ध में जिन कारणों का

उल्लेख किया है वे पर्याप्त नहीं है। उन्हें जीवन में बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब-कुछ मिलने की प्रतिक्रिया से वेदना प्रिय मालूम नही हो सकती। प्रियक्रिया हृदय की इच्छित वृत्ति नहीं होती और काव्य में स्वाभाविक वृत्तियों के बिना रमणीय अभिव्यक्ति सम्भव नहीं। यदि महादेवी की सारी काव्य-रचनायें, जैसा कि उन्होंने लिखा है, अतिशय प्यार, दुलार की प्रतिक्रिया के कारण ही वेदना-बहुल हैं, तो उनका मर्म किसी कवयित्री का मर्म नहीं हो सकता किन्तु यह बात नहीं है। महादेवी एक सफल कवयित्री हैं और आपके पास कवि-सुलभ एक संवेदनापूर्ण हृदय भी है।"*

जैनेन्द्र शचीरानी गुर्टू के प्रश्नोत्तर में कहते हैं: "घायल घाव नहीं चाहता है, मालूम होता है उनकी गति घायल की है नहीं। महादेवी वियोग और विरह में रस अधिक ढूंढती हैं। उसका अर्थ है विकलता इतनी अनुभव नहीं करतीं।" हम इससे सहमत नहीं। महादेवी की वेदना का स्वरूप आह्लादकारी है, विषादकारी नहीं। महादेवी को 'करुणा स्नात उजले उल्लासमय' दुःख की अपेक्षा है, निराशानिहित मलिन दुःख की नहीं—

शून्य मन्दिर में बनूंगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी।
अर्चना हो शूल भोले, क्षार दृग-जल अर्घ्य होले,
आज करुणा स्नात उजला, दुःख हो मेरा पुजारी।

—सांध्यगीत, यामा २१२

अपने दुःख के इसी स्वरूप को स्पष्ट करती हुई महादेवी लिखती हैं—"दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँधे रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी नहीं पहुँचा सके, किन्तु हमारा एक बूंद आँसू भी जीवन को अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता।

*लक्ष्मीनारायण सुधांशु, 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत', पृ० ३१३-१४

मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, परन्तु दुःख को सबको बाँटकर। विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार कि जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।"[1]

यही मोक्ष महादेवी का लक्ष्य है। पर-वेदना से प्रेरित होकर ही गद्य में उन्होंने यथार्थ चित्र दिये है और विश्व के प्रति यही अश्रु-आपूर्ण संवेदना अनेक कविताओं में मुखरित हुई है। इसीसे उनका दुर्गमतम जीवन-पथ सजल और सरल होता है और युग का 'तृषित तीर' भी शीतलता प्राप्त करता है।

महादेवी पर बुद्ध के दुःखवाद का प्रभाव है। इसको उन्होंने कितनी बार स्वीकार किया है।[2] बौद्ध मत के अनुसार साधक अष्टांग मार्ग पर चलकर निर्वाण-प्राप्ति कर सकता है और उसके लिए साधन है करुणा अथवा संवेदना। इसी करुणा से वह संसार को उद्बोधित करती हैं, जागृत करती हैं—

जाग बेसुध जाग,
अश्रु-कण से उर सजाया, त्याग हीरक हार
भीख दुःख की माँगने फिर जो गया प्रतिद्वार,
शूल जिसने फूल छू चन्दन किया सन्ताप।
सुन जगाती है उसी सिद्धार्थ की पद-चाप।
करुणा के दुलारे जाग।

\+ + + +

रात के पथ हीन तम में मधुर जिसके श्वास,
फैल भरते लघुकणों में भी असीम सुवास।

---

[1] 'रश्मि' की भूमिका, 'यामा' (पृ० १२)

[2] "बचपन से ही भगवान् बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनके संसार को दुःखात्मक समझने वाले दर्शन से मेरा असमय ही परिचय हो गया था।"—'रश्मि' की भूमिका, 'यामा' पृ० १२

कंटकों की सेज जिसकी आँसुओं का ताज,
सुभग हँस उठ उस प्रफुल्ल गुलाब ही सा आज।

बीती रजनी प्यारे जाग।†

यह पलायन है या जागरण ? यह जीवन से पलायन नहीं जीवन में प्रवेश है। This is an escape into life, not from life. वस्तुतः यह पलायनवाद नहीं, प्रवृत्तिवाद है। उनकी करुणा बौद्धिक करुणा नहीं। जग के कण-कण को जानकर, उनके क्रन्दन को पहचान कर करुणा ढुलकती है। जग के दागों को धो-धोकर ही उसकी काया की छाया गहरी होती है। जिसमें जग के संघर्षो से जूझने की शक्ति न हो वही निर्जन गह्वर की वांछा कर सकते है, पलायनवादी बन सकते हैं; महादेवी नहीं, जो कठोर बनकर पूर्ण शक्ति से सुख-दुःख का स्वागत कर सकती हैं—

जिसको पथ शूलों का भय हो,
वह खोजे नित निर्जन, गह्वर;
प्रिय के सन्देशों के वाहक,
मैं सुख दुःख भेंटूँगी भुजभर;
मेरी लघु पलकों से छलकी,
इस कण-कण में ममता बिखरी !*

महादेवी को दुःख का वह रूप तो प्रिय है ही जो सहानुभूति और समता बढ़ाता है, आत्मा का विस्तार करता है; "मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है"[१] और दूसरा वह रूप भी प्रिय है "जो काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है।"[२] इसी क्रन्दन में वह करुणा भी सम्मिलित

†नीरजा, यामा पृ० १६४ *सांध्यगीत, यामा पृ० २५४

[१] 'रश्मि' की भूमिका, 'यामा' पृ० १२

[२] वही " "

है जो जीवन-वैषम्य और संसार की असारता* से उत्पन्न होती है। यदि मनोवैज्ञानिकों की भाषा में कहा जाय तो व्यक्तिगत अभावजन्य वेदना का काव्य में उन्नयन अथवा पर्युत्थान हो जाता है। इस दुःख के तीसरे स्वरूप ने महादेवी के पहले दो दुःखों को और भी तीव्र बनाया है। अवश्य ही व्यक्तिगत अभावों का काव्य पर प्रभाव पड़ता है किन्तु इसको प्रबल प्रभाव के रूप में ही ग्रहण करना चाहिये, मूल के रूप में नहीं। जीवन पर पड़े हुए अन्य प्रभावों-संस्कारों को कैसे भुलाया जा सकता है? महादेवी स्वभावतः - संस्कारतः अनुभूतिमयी तथा करुणाशील हैं। सामाजिक गत्यवरोध ने करुणा को और घनीभूत कर दिया है। अतएव यदि महादेवी जी गृहिणी या माता होतीं तो भी उनके काव्य के स्वरूप में विशेष अन्तर न आता, वह करुणा-बहुल ही होता क्योंकि यह उनकी मूल प्रवृत्ति है, सांस्कारिक प्रवृत्ति है, केवल व्यक्तिगत अभाव-जन्य नहीं। माता अथवा गृहिणी होने की स्थिति में ध्यान बंट जाता है और काव्य की तीव्रता अवश्य कम हो जाती किन्तु स्वरूप में परिवर्तन सम्भव नहीं था। कमलेश जी को इण्टरव्यू देते हुये वे कहती हैं—"उनमें (गीतों में) करुणा की अधिकता इसलिये है कि बुद्ध का मेरे जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। मैं बचपन में भिक्षुणी होना चाहती थी और आज भी वह लालसा ज्यों की त्यों बनी है। लेकिन अपने जीवन से भी मुझे पूर्ण सन्तोष है। भिक्षुणी बनकर पूर्ण स्वतन्त्र हो जाती, पर आज भी मैं कम स्वतन्त्र नहीं हूँ। जो मैं चाहती हूँ वही तो होता है। मेरी जीवन-यात्रा बड़ी सुखद है। सामाजिकता का यह रूप जो मैंने अपनाया है, वह इस लिए कि वह मेरे मन के अनुकूल पड़ता है। तभी तो मैं भिक्षुणी न होने पर सन्तुष्ट हूँ। आरम्भ में विधवा आदि विषयों पर मैंने लिखा ही है। ये ही विषय सामने भी थे।"

महादेवी पर अद्वैतवाद का प्रभाव भी स्पष्ट है। यथा—

---

*यथा पृष्ठ २९, ३०, ४२ यामा; नीहार

(क) तुम हो विधु के बिम्ब और मैं
मुग्धा रश्मि अजान,
जिसे खींच लाते अस्थिर कर,
कौतूहल के बाण ।
... ...
ओस धुले पथ में छिप तेरा,
जब आता आह्वान,
भूल अधूरा खेल तुम्हीं में
होती अन्तर्धान !*

(ख) मैं तुम से हूँ एक—एक हैं
जैसे रश्मि प्रकाश ।।†

(ग) चित्रित तू मैं हूँ रेखाक्रम
मधुर राग तू मैं स्वर-संगम,‡

शंकर के अद्वैतवाद ने भी बुद्ध के समान संसार को दुःखमय स्वीकार किया है। किन्तु अद्वैतवादी संसार को मिथ्या समझते हुए भी उससे इस प्रकार द्वेष नहीं रखते कि संसार विलीन हो जाय। महादेवी सर्वात्मवादी भी तो हैं। इस वाद के अनुसार सर्वत्र एक ही आत्मा विद्यमान है। सर्वात्मवाद में अद्वैतवादियों का-सा जगत् का निषेध नहीं है। इसमें ब्रह्माण्ड की सत्ता (व्यक्त पक्ष) को भी ग्रहण किया जाता है। 'नीरजा' की निम्न पंक्तियों में सर्वात्मवादी धारणा स्पष्ट है—

यह क्षण क्या ? द्रुत मेरा स्पंदन ;
यह रज क्या ? नव मेरा मृदु तन ;
यह जग क्या ? लघु मेरा दर्पण ;
प्रिय तुम क्या ? चिर मेरे जीवन ;

---

*रश्मि, यामा १०१
†रश्मि, यामा १०४
‡नीरजा, यामा १४३

मेरे सब सब में प्रिय तुम ;
किससे व्यापार करूँगी मैं ?
आँसू का मोल न लूँगी मैं ![1]

अतएव बुद्ध मत की करुणा से इनके अद्वैतवाद तथा सर्वात्मवाद का कुछ विरोध नही ।

वस्तुतः अद्वैत का ब्रह्म ही बुद्धमत में करुणा बन गया है। (केवल समझने के लिए वैसे तो बुद्धमत का जन्म शंकर-अद्वैतवाद से पहले हुआ था) महादेवी का ब्रह्म भी करुणामय है। इस प्रकार जो दुःख साधन है, वह कभी आराध्य भी बन गया है और वह ब्रह्म को भी दुःख-रूप में पाना चाहती हैं। यथा—

तुम दुख बन इस पथ से आना ।
शूलों में नित मृदु पाटल सा ,
खिलने देना मेरा जीवन ।
क्या हार बनेगा वह जिसने,
सीखा न हृदय को बिंधवाना ।[2]

यहाँ मानों बौद्ध और अद्वैत दर्शन का सम्मिलित प्रभाव है। इस प्रकार उनके संसार के प्रति कारुण्य भावना और 'चिर-सुन्दर' की उपासना में कोई विरोध नहीं। ये एक-दूसरे से पूरक है। इस तथ्य का सजग प्रमाण नीरजा का निम्न गीत है—

तुम्हें बाँध पाती सपने में !
तो चिर जीवन प्यास बुझा
लेती इस छोटे क्षण अपने में !
पावस घन सी उमड़ बिखरती ,
शरद निशा-सी नीरव घिरती ,
धो लेती जग का विषाद

---

[1]यामा पृ० १७२

[2]नीरजा, यामा १८८

ढुलते लघु आँसू कण अपने में !
मधुर राग बन विश्व सुलाती,
सौरभ बन कण-कण बस जाती,
भरती मैं संसृति का क्रन्दन
हँस जर्जर जीवन अपने में ![1]

इस प्रकार प्रियतम का क्षण भर के लिये साक्षात्कार क्या है मानों जग के विषाद को धोना है और हँसते-हँसते अपने जर्जर जीवन में संसार के क्रन्दन को भरना है । निम्न पंक्तियों में भी वे अपने प्रियतम से यही वरदान माँगती हैं—

प्रिय जिसने दुख पाला हो ।
जिन प्राणों में लिपटी हो पीड़ा सुरभित चंदन सी
तूफानों की छाया हो जिसको प्रिय आलिंगन सी ।
जिसकी जीवन की हारें हों जय के अभिनन्दन सी,
वर दो मेरा यह आँसू,
उसके उर की माला हो ।[2]

सारे संसार में प्रियतम-दर्शन के कारण वह वैरागिनी नहीं बन सकतीं । विस्तृत विश्व के साथ तादात्म्य ही तो विराट् प्रियतम से तादात्म्य है । 'रश्मि' की इन पंक्तियों में यह तथ्य नितान्त स्पष्ट है—

तुम मानस में बस जाओ,
छिप घन की अवगुण्ठन से ।
मैं तुम्हें ढूँढने के मिस,
परिचित हो लूँ कण-कण से ।[3]

—इन पंक्तियों में दुःख का स्वरूप भी स्पष्ट है ।

---

[1]यामा १३२
[2]नीरजा, यामा १७०
[3]यामा, ७७

विश्व के प्रति करुणा-भावना तथा अज्ञात प्रियतम से मिलनोत्कण्ठा का साधन है जलना अथवा त्याग। अनेक कविताओं में इसी साधना की महिमा है। महादेवी को घन और दीपक इसलिए प्रिय हैं क्योंकि एक स्वयं घुलकर तथा दूसरा जलकर अपने जीवन की सार्थकता सिद्ध करते हैं।

जीवन-स्वर्ण को जला-जला और तपा-तपाकर ही खरा किया जा सकता है—

हीरक सी वह याद,
बनेगा जीवन सोना।
जल-जल तप-तप किन्तु,
इसको है होना।

महादेवी की यह मूल भावना कितनी पुरानी है, इस सम्बन्ध में वे 'यामा' (सन् १९३९) में लिखती हैं—"नीहार में सब से पुरानी रचना सम्भवतः 'उस पार' है। उसकी सहज भाव से लिखी—

विसर्जन ही हैं कर्णधार,
वही पहुँचा देगा उस पार।

आदि पंक्तियाँ आज भी मेरे हृदय के उतनी ही निकट हैं जितनी तब थीं।"[1] निःसन्देह 'उस पार' के मारुत में भी 'त्याग का गान' है और यही जीवन का व्याख्यान भी है—

तरी को ले जाओ मँझधार,
डूब कर हो जाओगे पार[2]

'मधुवेला' में 'जीवन-पाटल' की सार्थकता इसी में है कि विश्व के प्रति 'करुणा प्यार' से अभिभूत हो, अपने कोषों को रीता करके झर जाए, अमर हो जाए :—

[1]यामा, 'अपनी बात' पृ० ५ [2]नीहार, यामा १९

भिक्षुक-सा यह विश्व खड़ा है पाने करुणा प्यार;
हँस उठ रे नादान खोल दे पंखुरियों के द्वार।
रीते करले कोष
नही कल सोना होगा धूल !
अरे तू जीवन-पाटल, फूल[१]

महादेवी मुक्ति को भी बन्धन के रूप में देखना चाहती हैं—

आज वर दो मुक्ति आवे
बन्धनों की कामना ले[२]

महादेवी मोक्ष या 'निष्क्रिय लय' नहीं चाहतीं। अन्य अनेक कविताओं में यही भावना व्यक्त हुई है:—

(क) जिसमें कसक न सुधि का दंशन,
प्रिय में मिट जाने के साधन,
वे निर्वाण—मुक्ति उनके,
जीवन के शत-बन्धन मेरे हों !
झरते नित लोचन मेरे हों ![३]

(ख) क्यों मुझे प्रिय हों न बन्धन !
बीन-बन्दी तार की झंकार है आकाश चारी;
धूलि के इस मलिन दीपक से बँधा है तिमिरहारी;
बाँधती निर्बन्ध को मैं
बंदिनी निज बेड़ियाँ गिन ![४]

"आज के कवि को अपने लिए अनागरिक होकर भी संसार के लिये गृही, अपने प्रति वीतराग होकर भी सबके प्रति अनुरागी, अपने लिए

---

[१]नीरजा, यामा १७७   [२]सांध्य गीत, यामा २२१
[३]नीरजा, यामा १८१
[४]सांध्य गीत, यामा २५२

सन्यासी होकर भी सबके लिए कर्मयोगी होना होगा। क्योंकि आज उसे अपने आपको खोकर पाना है।"†

उपरोक्त भावना केवल महादेवी की ही नहीं, यह इस युग की सामान्य भावना है और भारतेन्दु से ही इसका प्रारम्भ हो गया था। यथा—

अहो नन्द-नन्द गिरवर धरो आज फेर।
हिन्दुन के नैन नीर निसदिन बरसै॥

भक्त की वाणी में यह राष्ट्रीयता का नूतन स्वर है। तात्पर्य यह कि आध्यात्मिकता, देश-हित-साधना अथवा पर-हित की विरोधी नहीं। इसी प्रकार चतुर्वेदी जी कहते हैं—

जब निशदिन अलख जगाता हूँ।
तब नई प्रार्थना क्या होगी॥

यहाँ पर सेवा और ईश्वर-सेवा अभिन्न हो गई है। निम्न कवियों में भी यही भावना परिलक्षित होती है—

भव भावे मुझको, और उसे मैं भाऊँ।
कह मुक्ति, भला किस लिये तुझे मैं पाऊँ?

—गुप्त, यशोधरा

वैराग्य साधने मुक्ति से अमारनय,
असंख्य बंधन माझे महानन्दमय।
लभिवो मुक्तिर स्वादु एई वसुधार,
मुक्ति कर पाथ खानि मरि बारम्बार।

—रवीन्द्र

तप रे मधुर-मधुर मन,
विश्व वेदना में तप प्रतिपल।
तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन,
गन्धहीन तू गन्धयुक्त बन।
निज अरूप में भर स्वरूप मन। —पन्त, गुञ्जन

†'आधुनिक कवि',१ (प्रथम संस्करण) की भूमिका पृ० २२

अविराम प्रेम की बाहों में।
है मुक्ति यही जीवन बन्धन ॥　　　—पन्त, ज्योत्स्ना

जग की सेवा करना ही बस,
है सब सारों का सार।
विश्व प्रेम के बन्धन में ही,
मुझको मिला मुक्ति का द्वार।

—गोपालशरणसिंह

महादेवी 'मुक्ति' को 'चिर पंगुता' समझती हैं, इसलिए वे नित नए क्षणों के आस्वादन के लिए अमर राही होने की सजीव अभिलाषा करती हैं—

लौटता लघु पल न देखा
नित नए क्षण-रूप-रेखा
चिर बटोही मैं, मुझे
चिर पंगुता का दान कैसा।[†]

संसार से ऊपर उठने की अथवा वैराग्य की भावना, जो कुछ कविताओं में अभिव्यक्त हुई है, वह केवल इसलिए कि साधक को परमात्मा से मिलने अथवा संसार-सेवा के हेतु सामान्य सांसारिक गुणों से ऊपर उठना आवश्यक है। साधना के कठिन-कठोर मार्ग पर चलने के लिए साधक के लिए लौकिक माया-जाल बाधक न बने, इसके लिए संयम और वैराग्य की आवश्यकता स्वाभाविक है। वस्तुतः वह वैराग्य शील का पर्याय है।

महादेवी की सजल-स्नेहिल सक्रिय आस्तिकता अनेक कविताओं में दृष्टिगत होती है—

मेरे हँसते अधर नहीं जग—
की आँसू—लड़ियाँ देखो!
मेरे गीले पलक छुओ मत,
मुरझाई कलियाँ देखो![1]

[†]सांध्यगीत, यामा २३९　　　[1]नीरजा, यामा १५०

ये मुरझाई कलियाँ और कोई नहीं, वही नारियाँ हैं जिनके लिये महादेवी जी ने 'शृंखला की कड़ियाँ' में लिखा है:§ "हमारे समाज के पुरुष का विवेक-हीन जीवन का सजीव चित्र देखना है तो विवाह के समय गुलाब-सी खिली हुई स्वस्थ बालिका को पाँच वर्ष बाद देखिए, उस समय इस असमय प्रौढ़ हुई दुर्बल संतानों की रोगिणी पीली माता में कौन-सी विवशता कौन-सी रुला देने वाली करुणा न मिले।" 'एक बार' कविता में महादेवी भारत की दारुण दुःखद दशा पर क्रन्दन कर उठी हैं—

मैं कम्पन हूँ तू करुण राग,
मैं आँसू हूँ तू है विषाद।
मैं मदिरा तू उसका खुमार,
मैं छाया तू उसका आधार,
मेरे भारत मेरे विशाल,
मुझको कह लेने दो उदार।
फिर एक बार बस एक बार!

× × × ×

कहता है जिनका व्यथित मौन,
हम-सा निष्फल है आज कौन।
निर्धन के धन-सी हास-रेख,
जिनकी जग ने पाई न देख।
उन सूखे ओठों के विषाद,
में मिल जाने दो हे उदार।
फिर एक बार, बस एक बार।

यह उल्लेखनीय है कि ये पंक्तियाँ उनकी प्रथम रचना 'नीहार' की हैं।†

† यामा, पृ० ३३-३४

इस उक्त भावना से प्रेरित होकर वह स्वयं आँसुओं का क्षार पीकर विश्व को 'स्नेह का रस' बाँटती हैं और अपनी करुणा की बरसात से तापित-शापित विश्व को हरा-भरा करना चाहती हैं—

ताप जर्जर विश्वर उर पर,
तूल से घन छा गये भर।
दुःख से तप हो मदुलतर,
उमड़सा करुणा भरा उर।

सजनि मैं इतनी सजल, जितनी सजल बरसात।†

निःसंदेह वह 'नीर भरी दुख की बदली' हैं, पर किसलिए ? रज-कण को निज जल-कण से नवजीवन-अंकुर देने के लिए, व्यथित विश्व को सुख से स्पंदित करने के लिए। जैसे महादेवी को घन प्रिय है वैसे ही दीपक उससे भी अधिक, क्योंकि वह स्वयं जलकर दूसरों को प्रकाश देता है—

मधुर-मधुर मेरे दीपक जल,
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिफल।
प्रियतम का पथ आलोकित कर।‡

"इन पंक्तियों में नीरजा की मूल भावना व्यक्त हो रही है। इस में दीपक कवि के व्यक्तित्व का प्रतीक है। अपने सुकुमार कोमल शरीर को, अपने जीवन के प्रत्येक अणु को, दीपक की भाँति जलाती हुई कवयित्री अपने प्रियतम का पथ आलोकित करना चाहती हैं। अपने को मोम की भाँति जलाकर आलोक फैलाने वाली दीप शिखा में विश्व-कल्याण और संसार-सेवा का जो उदात्त आदर्श दृष्टिगत होता है वह काव्य ही नहीं, संसार का आदर्श है।"* यही समाज-कल्याण की भावना निम्न कविता में है—

---

†सांध्य गीत, यामा २३३

‡नीरजा, यामा १४५

*विजयेन्द्र स्नातक।

दीप मेरे जल अकम्पित घुल अचंचल,
पथ न भूले एक पग भी।
पथ न खोये लघु विहग भी,
स्निग्ध लौ की तूलिका से, आँक सबकी छाँह उज्ज्वल।[1]

और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का उद्घोष इस पंक्ति में—

कीर का प्रिय आज पिंजर खोल दो![2]

... ...

महादेवी के इस करुणा-कलित हृदय से खारे आँसू निकलते हैं अथवा मोती? इसकी पहचान तो रत्न-पारखी कर सकते हैं, किन्तु महादेवी 'पानी की सार्थकता' आग के साथ ही मानती हैं—

आग हो उर में तभी दृग में सजेगा आज पानी।[3]

वस्तुतः महादेवी के उर में 'आग है, ओष्ठों पर उद्बोधन का राग है। यदि ऐसा है तो नयनों में नीर कैसा? हिमालय में ज्वाला है पर ऊपर से नीर जैसा—यही इस प्रश्न का समाधान है। हृदयस्थ आग से ही महादेवी निम्न स्फूर्तिप्रद, झँझोड़ने वाली कविता कर सकी है—

चिर सजग आँखें उनींदी आज कैसा व्यस्त बाना!
जाग तुझको दूर जाना!

अचल हिमगिर के हृदय में आज चाहे कम्प होले,
या प्रलय के आँसुओं में मौन अलसित व्योम रो ले;
आज पी आलोक को डोले तिमिर की घोर छाया,
जाग या विद्युत्-शिखाओं में निठुर तूफ़ान बोले!
पर तुझे है नाश पथ पर चिन्ह अपने छोड़ जाना!
जाग तुझ को दूर जाना!

---

[1]दीपशिखा (चतुर्थ संस्करण ६७)
[2]सांध्य गीत, यामा २३६
[3]सांध्य गीत, यामा २३५

बाँध लेंगे क्या तुझे यह मोम के बन्धन सजीले ?
विश्व का क्रन्दन भुला देगी मधुप की मधुर गुनगुन ?
क्या डुबा देंगे तुझे यह फूल के दल ओस गीले ?
तू न अपनी छाँह को अपने लिए कारा बनाना !
जाग तुझ को दूर जाना ![1]

ऊपर लिखी कविता में जिस 'विश्व के क्रन्दन' की ओर जागरूक करने का प्रयत्न किया गया है वह 'शृंखला की कड़ियाँ' आदि के क्रन्दन से भिन्न नहीं। कवि और गद्यकार महादेवी की आत्मा एक ही है शरीर ही दो हैं। इन दोनों में इतना ही अन्तर है जितना गद्य और कविता में। गद्य और कविता की प्रकृति को जानकर ही महादेवी ने लिखा है— अपने करुणा-बहुल दर्शन के बौद्धिक निरूपण के लिये गद्य को और भावात्मक निरूपण के लिये पद्य को चुना है।

अन्त में हम इतना ही कहेंगे कि महादेवी कोमल भी हैं, कठोर भी, उनमें आग भी है पानी भी, और वे दीन भी है, अभिमानिनी भी—ऐसा विरोधाभास उनके व्यक्तित्व में परिलक्षित होता है:—

नभ में गर्वित झुकता न शीश,
पर अंक लिये है दीन क्षार;
मन गल जाता नत विश्व देख,
तन सह लेता है कुलश भार !
कितने मृदु कितने कठिन प्राण ![2]

महादेवी की भाव-धारा तथा उसके प्रेरक तत्त्वों का संक्षेप में विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है।

महादेवी के दुःखवाद के प्रेरक प्रभाव—

१. महादेवी पर करुणा के संस्कार प्रारम्भ से थे।

---

[1]सांध्य गीत, यामा २३४
[2]सांध्य गीत, यामा २५३

२. महादेवी पर आध्यात्मिक संस्कार भी थे जिस कारण आत्मा का परमात्मा के प्रति विरह मिलता है।

३. महादेवी पर बुद्ध के दुःखवाद का प्रभाव है (किन्तु उसके अनात्मवादी, निर्वाण-सिद्धान्त का नहीं)।

४. संसार की असारता से उत्पन्न स्वाभाविक दुःख।

५. व्यक्तिगत विषमताजन्य दुःख, जिसका काव्य में उदात्तीकरण (Sublimation) हो जाता है और वेदना, संवेदना अथवा करुणा का रूप धारण कर लेती है।

६. युगीन परिवेश, जिसमें रूढ़िवादी अथवा परम्परागत के स्थान पर बौद्धिक अध्यात्म मिलता है। इस बौद्धिक अध्यात्म का विश्लेषण इस प्रकार हो सकता है—

क. इस युग के सर्वप्रसिद्ध अद्वैतवादी विवेकानन्द ने अद्वैत दर्शन के व्यावहारिक रूप मानववाद पर बल दिया। रवीन्द्र और गाँधी का अध्यात्म भी समाज से बाहर अन्तर्साधनामूलक नहीं, वह लोक मंगलात्मक मानववादी अध्यात्म है।

ख. मानव में ईश्वर-दर्शन ही सच्चा ईश्वर-दर्शन तथा मानव-प्रेम ही ईश्वर-प्रेम है। मानव का मानव से अर्थात् विश्व से बन्धन ही मुक्ति है। महादेवी के ही शब्दों में "विश्व जीवन में अपने जीवन को इस प्रकार मिला देना, जिस प्रकार जल बिन्दु सागर में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।"

ग. इस भूतल को ही स्वर्ग अथवा मुक्ति-लोक बनाने का भी आग्रह।

घ. आज व्यक्ति को अपने प्रति वीतरागी होकर भी संसार के लिये गृही होना है।

च. लोक-संग्रह और आत्म-संग्रह दो भिन्न मार्ग न होकर एक ही सांस्कृतिक मार्ग के युग्म पार्श्व हैं।

महादेवी की मूल भावनाएँ तीन हैं—

साध्य—१. आत्मा की परमात्मा के प्रति विरह-भावना।

२. विश्व के प्रति संवेदना (करुणा)।

साधन—३. त्यागमयी साधना—घनवत् घुलने अथवा दीपवत जलने की भावना।

वस्तुतः पहली दोनों भावनाएँ एक ही हैं क्योंकि महादेवी विश्व रूप ब्रह्म के साथ एकरूपता चाहती हैं—विश्व के साथ एकरूपता तथा ब्रह्म को पाने में कोई भेद नहीं समझतीं। क्योंकि—

मैं तुम्हें पहचान लूँ इस कूल तो उस कूल क्या है ?†

या— विश्व में वह कौन सीमाहीन है
हो न जिसका खोज सीमा में मिला।

तीसरी भावना उक्त साध्य की साधना है।

अन्य मन्तव्य तथा निष्कर्ष—

१. महादेवी का दुःखवाद वस्तुतः करुणा-तरगायित आनन्दानुभूति है।

२. महादेवी के गद्य-पद्य में मूल अन्तर नहीं। भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम गीतिकाव्य होने के कारण जीवन-जगत् का वस्तुगत चित्रण नहीं हुआ और न ही तथ्यों का ब्यौरा उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है, जैसे गद्य में हुआ है; किन्तु गद्य और पद्य दोनों में सामान्य प्रेरणा करुणा (संवेदना) है। काव्य का औचित्य गद्य के औचित्य से भिन्न होता है, उन्होंने सदैव इसका ध्यान रक्खा है।

३. महादेवी में दुःखवाद, सर्वात्मवाद तथा अद्वैतवाद का अद्भुत समन्वय हुआ है।

४. महादेवी आध्यात्मिक हैं किन्तु उन्हें कबीर और मीरा की परम्परा में लाना ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्येक युग का अपना अध्यात्म है। जहाँ तक काम-वासनाओं का प्रश्न है, महादेवी और मीरा में कोई अन्तर

† सांध्यगीत, यामा, २३६

नहीं क्योंकि मूल में सभी साधक मानव ही हैं, और मानव ही थे। प्रत्येक युग की साधना का स्वरूप भिन्न है, अतएव महादेवी में मीरा अथवा कबीर का आत्म-समर्पण खोजना व्यर्थ है।

५. महादेवी की प्रथम कविता पुस्तक 'नीहार' की अनेक कविताओं में निराशा अवश्य मिलती है किन्तु एक तो यह निराशा अस्थाई रूप में आती है जो मानवीय शक्तियों की सीमा का स्वाभाविक परिणाम है। दूसरे निराशा भी उस शूल का कार्य करती है जो फूल को दुलारता और विकसित होने की शक्ति प्रदान करता है। यही कारण है कि यह निराशा भी प्रायः ऐसे उदात्त-दीप्त रूप में अभिव्यक्त होती है जो उस 'निर्मम' के गर्व का भी खर्व कर सकती है—

चिंता क्या है निर्मम,
बुझ जाये दीपक मेरा।
हो जायेगा तेरा ही,
पीड़ा का राज्य अँधेरा।[1]

उनसे कैसे छोटा है,
मेरा यह भिक्षुक जीवन।
उनमें अनन्त करुणा है,
इसमें असीम सूनापन।[2]

निस्सन्देह यह सूनेपन की होड़ भी अद्‌भुत है जो प्रियतम की करुणा के अभिमान को भी तोड़ सकती है। यही गौरवमय दीप्त चित्र 'नीहार' की ८, १५, १७, २४ नं० की कविताओं में देखे जा सकते हैं।

६. मेरे विचार में किसी रचना के स्वरूप की निरख-परख में रचनाकार का उल्लेख उतना सी करना चाहिये जितना आवश्यक हो, कृति से अधिक कर्त्ता का निर्देश हमारे निष्कर्षों को प्रभाववादी तथा आलोचक की तटस्थता को भंग कर देता है।

---

[1]नीहार, यामा १०

[2]नीहार यामा १७

प्रसाद जी की कविता का मर्म

संसार का कोई भी महत्त्वपूर्ण सृजन निरावृत तथा सहज स्पष्ट नहीं होता। भूमि के आवृत अन्तरंग में अंकुर की सृष्टि होती है, अन्धकार के गहन-म्लान क्षितिज से रश्मि की अरुणिमा फूटती है, छिपे-पिसे पत्थरों पर सौध स्थापित होता है और अन्तर की रहस्यमयी प्रेरणा से जीवन को विकास मिलता है। यथार्थ-आदर्श की भी यही स्थिति है। यथार्थ के शिशिरांतक से सिमटी-सिकुड़ी वनस्थली की हीनता ही धीरे-धीरे वसन्त-विकास की सम्पन्नता से जगमगा उठती है। जीवन की गति भी ऐसी ही है। भोग से योग की ओर बढ़ने वाले तथा चिंता से आनंद प्राप्त करने वाले व्यक्ति का विकास सहज है, क्रमिक है, इसलिए स्थाई भी, पूर्ण भी। अकस्मात् एकदम योगी बनने वाला, मानों धक्के की गति से आगे बढ़ने वाला, गिरता है। कलाकार की गति, कला का भी यही स्वरूप है। चरित्र का, भावना का, विचारधारा का भी क्रमशः विकास आवश्यक है। प्रसाद की कविता का भी सहज-क्रमिक विकास हुआ है। उनकी कविता की परिभाषा इसी तत्त्व पर आधारित है—"कवित्व—वर्णमय चित्र है जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है। अन्धकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कौन कराती है? कविता ही न?" † और यही उनकी कविता है। यह परिभाषा उनके काव्य पर पूरी चरितार्थ होती है। यह ध्यान रहे कि परिभाषा का दूसरा भाग प्रसाद के विचारात्मक दृष्टिकोण को ही व्यक्त नहीं करता, उसकी अभिव्यक्ति के स्वरूप को भी स्पष्ट करता है। 'असत् से सत्' या 'जड़ से चेतन' का अभिप्राय

---

† 'स्कन्दगुप्त' पृ० २१, नवाँ संस्करण

आदर्श को यथार्थ का आधार देने से है । दूसरे इससे काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था भी संकेतित है ।

'कामायनी' प्रसाद की अन्तिम कृति है और इसे लिख कर कवि को संतोष भी हुआ था । उसके नायक मनु ऐसे ही समरसता-जन्य आनंद के उत्तुंग शिखर पर नहीं पहुँच गए, यह प्रसाद के काव्य की साधना-साध्य चरम-स्थिति है और इसका क्रमशः विकास हुआ है । 'झरना' में ही प्रसाद के कवि ने अपने मानसिक द्वन्द्व को स्वीकार किया था—

जब करता हूँ कभी प्रार्थना,
कर संकलित विचार,
तभी कामना के नूपुर की,
हो जाती झंकार*

'अव्यवस्थित' कविता की यह मानसिक अव्यवस्था प्रसाद जी के प्रत्येक काव्य में मिलेगी । इन पंक्तियों में प्रसाद ने मानव-मन में चलने वाले सत्-असत् के शाश्वत द्वन्द्व का उल्लेख किया है । जो भी इस द्वन्द्व की उपेक्षा करता है, धक्के की गति से दोनों पग आगे बढ़ाता है, वह गिरता है । स्वाभाविक चाल वह है जिसमें एक पग पीछे पड़ता है और दूसरे को आगे बढ़ाया जाता है । यही शिव की गति है और उनके अनुयायी प्रसाद की भी । शिव योगी भी हैं, वैरागी भी । प्रसाद ने केवल तप को सत्य नहीं माना । उसने जीवन-सौन्दर्य का अनुभव किया, परिरम्भ-कुम्भ की मदिरा का पान किया, निश्वास-मलय के झोंके सहे और उपेक्षामय यौवन के मधुमय स्रोतों का पूरा उपयोग किया । वह अपने 'अल्हड़ यौवन' के खिले फूल से विश्व-प्रकृति का शृंगार करता; 'वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे' की याद करता आगे बढ़ा है । इस प्रकार प्रसाद-काव्य मानवी मनोभावों पर आधारित है । इसलिए उसमें जीवन का रस है ।

---

*झरना, अव्यवस्थित, कविता नं० २, पृ० ४

'प्रेम पथिक' के प्रारम्भ में ही—इसी तरह प्रायः अन्य काव्यों में भी—प्रसाद का पथिक कामना की मधुर भावना से चला है, उसने अभाव का, वेदना का अनुभव किया है किन्तु वह उसमें खो नहीं गया, पथ को ही वह लक्ष्य नहीं मान बैठा, क्यों कि—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है
श्रांत भवन में टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक
जिसके आगे राह नही

प्रसाद का प्रेम-पथिक कामायनी में उस सीमा तक बढ़ा-चढ़ा है जिसके आगे राह नहीं। 'झरना' तथा 'प्रेमपथिक' की उक्त उद्धृत पंक्तियों को मिलाने से प्रसाद की कविता की परिभाषा बन जाती है। प्रसाद का कवि सदैव वासना से प्रेम, दुख से करुणा (सुखात्मक), व्यष्टि से समष्टि, चिन्ता से आनन्द, असत से सत, 'दुख-दग्ध जगत् से आनन्दपूर्ण स्वर्ग' और यथार्थ से आदर्श की ओर बढ़ा है—उसने संस्कृति-सूत्र 'तमसोमाज्योतिर्गमय' की साधना की है। यह ऊर्ध्वगामी चेतना किसी भी कलाकार के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त विकास के क्रम में समन्विति भी अपेक्षित है।

कुछ साहित्यकार ऐसे होते हैं जो नवजीवन देने के लिए प्रकृत जीवन को ही अस्वीकार कर देते हैं। वे प्रश्नों का आह्वान किए बिना ही उत्तर प्रस्तुत कर देते हैं। जैसे, स्थूल नैतिक दृष्टि वाले शृंगारिक वर्णनों से पलायन कर जाते हैं। इस से वह आदर्शों का संचय मात्र करते हैं, संचार नहीं। प्रसाद की विशेषता यही है कि वह मानवीय द्वन्द्वों को स्वीकार करते हुए उदात्त आदर्शों तक पहुँचते हैं। उनके समरसता-जन्य आनन्द वाला शैव दर्शन अध्ययन-चिंतन का ही परिणाम नहीं, यह उनके जीवन से विकसित हुआ है। यह 'झरना' की 'अव्यवस्था' को व्यवस्थित करने की आवश्यकता का सहज परिणाम है। इसलिए उनका काव्य प्रश्न-शंकाओं को उठाता, वासना-सिंचित संवेदनों से बढ़ता है,

और संतुलन, समरसता, तथा समष्टि-भावना में इसका अन्त होता है। जो साहित्यकार मानव की सहज वासनाओं के चित्रण से बचता है, उसकी आस्था, उसका विश्वास मानों अग्निपरीक्षा से बचता है। जीवन को जीने से ही आस्था परिपुष्ट हो सकती है, नहीं तो वह अनास्था है। प्रसाद के काव्य में समरसता ही नही, द्वन्द्व के साथ समरता है; शंका के साथ आस्था है। साथ ही विकास-क्रम में भी समन्विति है इसलिए यह काव्य आनन्द भी देता है, आदर्श भी।

'परिमल' की भूमिका

'परिमल' की भूमिका समस्त निराला-काव्य की भूमिका है। दूसरे, पंत जी के 'पल्लव की भूमिका' के साथ इसे भी छायावादी काव्य को समझने की दृष्टि से महत्त्व दिया जा सकता है; पर हमारे विचार में निराला स्वच्छन्द कवि हैं, छायावादी नहीं। 'परिमल' की भूमिका से भी एक छायावादी कवि की अपेक्षा एक स्वच्छन्द कवि की मनोवृत्ति अधिक स्पष्ट होती है। संयोग की बात है कि इस भूमिका में भी कहीं 'छायावाद' का शब्द नही आया। यदि छायावाद के विकासक्रम को देखा जाय तो यह स्पष्ट होता है कि द्विवेदी-युगीन स्वच्छन्द काव्य-प्रवृत्ति की परिणति छायावाद के रूप में हुई। अतएव प्रारम्भ में छायावाद के सभी कवियों में स्वच्छन्द भावनाएँ तथा परम्परामुक्त कला थी पर उत्तरोत्तर विकास के क्रम में सभी किन्हीं विशेष दृष्टियों तथा पद्धतियों में बँध कर रह गए—वादी (छायावादी) बन गए और स्वच्छन्दता का निर्वाह न कर सके। केवल निराला का काव्य आद्यन्त स्वच्छन्दता का परिचय देता रहा। इसलिए प्रारम्भ से ही इनमें अन्य छायावादियों से स्वच्छन्दता के तत्त्व अधिक थे। 'परिमल' की भूमिका निराला-काव्य के साथ छायावादी काव्य के प्रेरक प्रभावों को समझने में इसलिए सहायक हो सकती है क्यों कि प्रारम्भ में दोनों की समवेत भूमि थी। इस दृष्टि से यह भूमिका पंत जी के 'पल्लव' की भूमिका की पूरक है।

द्विवेदी-युग के उत्तरार्ध में जिस नूतन कविता का विकास हुआ उसे, न समझने के कारण, परम्परागत आलोचक सहानुभूति न दे सके। अतएव इन नए कवियों को बड़े संघर्ष का सामना करना पड़ा। यह संघर्ष करने के लिए पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी सभी, कवि के साथ आलो-

चक भी बने। 'परिमल' की भूमिका इसी का परिणाम थी। प्राचीन गुरूडम के विरुद्ध बग़ावत की हार्द से, संकीर्ण आलोचकों को चुनौती देते हुए, निराला स्वच्छन्द या छायावादी कविता के आशामय भविष्य का उद्घोष करते हुए भूमिका के प्रारम्भ में ही लिखते हैं—"इस युग के कुछ प्रतिभाशाली अल्प-वयस्क साहित्यिक प्राचीन गुरूडम के एकच्छत्र साम्राज्य में बग़ावत के लिए शासन-दण्ड ही पा रहे हैं, अभी उन्हें साहित्य के राजपथों पर साधिकार स्वतन्त्र-रूप से चलने का सौभाग्य नहीं मिला। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि इस नवीन जीवन के भीतर से शीघ्र ही एक ऐसा आवर्त बँधकर उठने वाला है, जिसके साथ साहित्य के अगणित जलकण उस एक ही चक्र की प्रदक्षिणा करते हुए उसके साथ एक ही प्रवाह में बह जायँगे, और लक्ष्य-भ्रष्ट या निदाघ से शुष्क न हो एक ही जीवन के उदार महासागर में विलीन होंगे।"* रीतिकालीन कवि,आचार्य बने थे सुविधा के लिए, ये बने संघर्ष के लिए। उन्हें संस्कृत के लक्षण-ग्रंथों की परम्परा मिल गई थी, इन्हें नई परम्परा का निर्माण करना था। उन्हें पुराने लक्षणों का अनुवाद करते हुए नूतन स्वनिर्मित उदाहरण देने थे, इन्हें नए लक्षणों के साथ नई कविता देनी थी। वे रूढ़िबद्ध दृष्टिकोण की उपज थे, ये थे प्रकाश-युग की सृष्टि। इन्होंने नए कवियों को ही प्रेरित नहीं किया, पुराने आलोचकों को नई दृष्टि भी दी। बहुत से आलोचक इन कवि-आलोचकों द्वारा कही बातों को ही दुहराते या विकसित करते रहे। उदाहरण-स्वरूप पंत ने काव्यभाषा तथा अलंकारों, निराला ने मुक्त छंद तथा महादेवी ने गीतिकाव्य के सम्बन्ध में जो लिखा, उन्हीं को आज तक उद्धृत किया जा रहा है। पंत और निराला तत्कालीन रूढ़िबद्ध आलोचना से असंतुष्ट थे। प्रशंसा तथा आलोचना में जो आदान-प्रदान जारी था और दलबन्दियों में ग्रस्त साहित्यकार साहित्य में मानो 'प्राचीन गुलामी प्रथा' का जैसा पोषण कर रहे थे, उसे निराला ने व्यंग्य स्वरूप 'विचित्र नज़ारा' कहा है। (१०)

* 'परिमल' की भूमिका पृ० १०

पंत जी ने तो स्पष्ट ही लिख दिया है कि "हिन्दी में सत्समालोचना का बड़ा अभाव है। रसगंगाधर, काव्यादर्श आदि की वीणा के तार पुराने हो गये; वे स्थायी, संचारी, व्यभिचारी आदि भावों का जो कुछ संचार अथवा व्यभिचार कराना चाहते थे, करवा चुके।" पंत जी नूतन काव्य के लिए नूतन आलोचना चाहते थे इसलिए उन्होंने 'सत्साहित्य की सृष्टि' के लिए 'समालोचना में समयानुकूल रूपान्तर,' को आवश्यक माना। इस दृष्टि से वे अंग्रेज़ी ढंग की आलोचना का प्रचार चाहते थे।†

पंत जी ने 'पल्लव' की भूमिका में मध्ययुगीन या रीतिकालीन रूढ़िबद्ध दृष्टिकोण को आधुनिक युग-जीवन के लिए घातक बताते हुए उस का घोर विरोध किया था। अवश्य ही इससे छायावादी कविता के नए दृष्टिकोण का पता चलता था। फिर भी इस से नई कविता की प्राचीन के प्रति प्रतिक्रियात्मक प्रकृति का बोध अधिक होता था। 'परिमल' की भूमिका से नई कविता की स्वाधीन चेतना का अपेक्षाकृत अधिक पता चलता है। यह स्पष्ट होता है कि छायावाद किसी से उधार ली हुई या नकल की हुई काव्यधारा नहीं थी वरन् भारत में उठने वाली सामाजिक-राजनैतिक स्वातन्त्र्य-भावनाओं तथा सांस्कृतिक जागरण की उपज थी। 'पल्लव' की भूमिका से नई कविता का सम्बन्ध राष्ट्रीय जागरण या मुक्ति-आन्दोलन से इतना स्पष्ट नहीं होता जितना निराला की इस भूमिका से।

निराला जी के मुक्त छंद का बहुत विरोध हुआ था, उपहास में उसे 'केंचुआ' और 'रबड़ छंद' तक कहा गया। (१६) 'परिमल' में मुक्त छंद के समर्थन में निराला कलागत तर्कों तक ही सीमित नहीं रहे। उन्होंने काव्य-शैली या छंद आदि के स्वरूप को व्यक्ति ही नही, जातीय मानस से सम्बन्धित किया है। इसी आधार पर उनके मुक्त छंद की वकालत का आंदोलन, समाज की मुक्ति का आंदोलन हो गया है। वे लिखते हैं—

†'पल्लव' (पाँचवा संस्करण) की भूमिका, पृ० ३९, श्री सुमित्रानन्दन पंत

"मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है, और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना। जिस तरह मुक्त मनुष्य कभी किसी तरह भी दूसरे से प्रतिकूल आचरण नहीं करता, उसके तमाम कार्य औरों को प्रसन्न करने के लिए होते हैं—फिर भी स्वतन्त्र, इसी तरह कविता का भी हाल है। मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता, किन्तु साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है, जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है।"†

निराला जी वेदांत से बड़े प्रभावित रहे हैं। 'परिमल' तथा 'गीतिका' आदि में अद्वैतवादियों की रहस्य-वृत्ति का स्पष्ट परिचय मिलता है। पर निराला ने इस अद्वैतवाद से भी युग को शक्ति देने का काम लिया है, वैरागी बनाने का नहीं—हीनता-ग्रंथि में ग्रस्त शासित जाति को स्फूर्ति देकर जगाया है। पर यहाँ भी वह आपने छांदिक दृष्टिकोण को व्यक्त करना नही भूले—

> पर, क्या है,
> सब माया है—माया है,
> मुक्त हो सदा ही तुम,
> बाधा-विहीन बन्ध छंद ज्यों,
> डूबे आनन्द में सच्चिदानन्द-रूप।
> महामन्त्र ऋषियों का
> अणुओं परमाणुओं में फूँका हुआ—
> "तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्,
> है नश्वर यह दीन भाव,
> कायरता, कामपरता,
> ब्रह्म हो तुम,

†'परिमल' की भूमिका (षष्ठावृत्ति) पृ० १४

पद-रज भर भी है नहीं पूरा यह विश्व-भार"—

जागो फिर एक बार !

(२०४-५)

यही बात उन्होंने 'परिमल' की भूमिका में लिखी है—"जिस तरह ब्रह्म मुक्त-स्वभाव है, वैसे ही यह छन्द भी। पर आज इस तरफ़ कोई दृक्पात भी नहीं करना चाहता। इतनी बड़ी दासता-रूढ़ियों की पाबन्दी इस (गायत्री) मन्त्र के जपने वालों पर भी सवार है। वेदों में काव्य की मुक्ति के ऐसे हज़ारों उदाहरण हैं, बल्कि ९५ फ़ीसदी मन्त्र इसी प्रकार मुक्त-हृदय के परिचायक हो रहे हैं। इन मन्त्रों को ईश्वर-कृत समझकर अनुयायीगण विचार करने के लिए भी तैयार नहीं, न पराधीन काल की अपनी बेड़ियाँ किसी तरह छोड़ेंगे, जैसे उन बेड़ियों के साथ उनके जीवन और मृत्यु का सम्बन्ध हो गया हो। "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" यहाँ मुक्त-स्वभाव ईश्वर को सर्वभूतों के हृदय में ही ठहरा दिया गया है, और हृदय तक मन को उठा सकने वाले जो कुछ भी करते हैं, मुक्त स्वभाव से करते हैं, इसलिए वह कृति जैसे ईश्वर की ही कृति हो जाती है। बात यह है, वेदों की अपौरुषेयता की है। वे मनुष्य-कृत ही हैं, पर वे मनुष्य उल्लिखित प्रकार के थे। आजकल की तरह के रूढ़ियों के गुलाम या अँग्रेज़ी पुस्तकों के नक्काल नहीं। ईश्वर के सम्बन्ध की ये बातें जो समझते हैं, उनमें एक अद्भुत शक्ति का प्रकाश होता है। वे स्वयं भी अपनी महत्ता को समझते और खुलकर कहते भी हैं। उनकी वाणी में महाकर्षण रहता है।" (१५) निराला के मुक्त स्वभाव-कवित्व तथा उनके काव्य के अद्वैतवादी ओज तथा उदात्तता के गुणों का रहस्य वेदों की अपौरुषेयता की नूतन व्याख्या करने वाली उक्त पंक्तियों से स्पष्ट है। वेदाभिमानी होकर भी निराला रूढ़ियों तथा 'पराधीन काल' की दास मनोवृत्ति का कैसे खंडन-उत्पाटन कर सके हैं; परम्परा की जागरूक चेतना से प्रगति का पथ प्रशस्त कर सके हैं; और 'ब्रह्म हो तुम' के आध्यात्मिक ओज से हीनता-ग्रंथि-ग्रस्त पराधीन भारतीय समाज को सजग

करते हैं, यह विरोधाभास का चमत्कार प्रशंसनीय है। उनकी आध्यात्मिकता भी संघर्ष के लिए और छांदिक क्रांति भी मुक्ति के लिए है। जब वे कहते हैं—"इतनी बड़ी दासता—रूढ़ियों की पाबंदी इस (गायत्री) मन्त्र के जपने वालों पर भी सवार है"—तो मानों वे समझते हैं कि भारतीय मूलतः मुक्त हैं, और उनकी परम्परा भी उनको मुक्ति का ही संदेश देती है। फिर वे दासता की बेड़ियों में क्यों जकड़े हुए हैं? निराला जी को भारतीयों की राजनैतिक गुलामी ही नहीं साहित्यिक दासता भी खलती थी। इसलिए 'अँग्रेज़ी पुस्तकों के नक्कालों' से उनको चिढ़ थी। छायावाद को कितनों ने पश्चिम के रोमानी-काव्य का भारतीयकरण बताया है। पंत जी की कृतियों पर पाश्चात्य प्रभाव सर्वाधिक रहा है किन्तु निराला, प्रसाद और महादेवी सबने स्वच्छन्द या छायावादी-रहस्यवादी कविता को भारतीय ठहराया है। प्रसाद जी ने रहस्यवाद की विदेशीयता का खंडन करते हुए लिखा—"···भारतीय रहस्यवाद ठीक मेसोपोटामिया से आया है, यह कहना वैसा ही है जैसे वेदों को 'सुमेरियन डॉकुमेण्ट' सिद्ध करने का प्रयास।···भारतीय विचारधारा में रहस्यवाद को स्थान न देने का एक मुख्य कारण है। ऐसे आलोचकों में एक तरह की झुँझलाहट है। रहस्यवाद के आनन्द-पथ को उनके कल्पित भारतीयोचित विवेक में सम्मिलित कर लेने से आदर्शवाद का ढाँचा ढीला पड़ जाता है। इसलिए वे इस बात को स्वीकार करने में डरते हैं कि जीवन में यथार्थ वस्तु आनंद है, ज्ञान से वा अज्ञान से मनुष्य उसी की खोज में लगा है।···आनंद-भावना, प्रिय कल्पना और प्रमोद हमारी व्यवहार्य वस्तु थी। आजकी जातिगत निर्वीर्यता के कारण उसे ग्रहण न कर सकने पर, यह सेमेटिक है, कह कर संतोष कर लिया जाता है।"[1] निराला जी ने भी वैदिक काल के मुक्त-स्वभाव तथा आनंदमय कवियों के मुक्त छंद के उदाहरण देकर अपने मुक्त छंद की परम्परा को भारतीय आधार दिया है। भूमिका में ही नहीं परिमल की 'जागरण' कविता

[1]'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध', तृतीय संस्करण, पृ० ४८-४९

में भी वे लिखते हैं[१]--

> 'भाषा सुरक्षित वह वेदों में आज भी—
> मुक्त छंद,
> सहज प्रकाशन वह मन का—
> निज भावों का प्रकट अकृत्रिम चित्र। (२६४)

उनके काव्य की मुक्त शैली से—विषय से नहीं—उनके स्वच्छन्द स्वभाव का अनुमान लगाया है। इसी आधार पर निराला नए साहित्य-कारों तथा सामान्य समाज को स्वतन्त्रता की प्रेरणा देते हैं। वे लिखते हैं—"वैदिक साहित्य मे इस प्रकार की स्वच्छन्द सृष्टि को देख कर हम तत्कालीन मनुष्य-स्वभाव की मुक्ति का अन्दाजा लगा लेते हैं। परवर्ती काल में ज्यों-ज्यों चित्र-प्रियता बढ़ती गई है, साहित्य में स्वच्छन्दता की जगह नियन्त्रण और अनुशासन प्रबल होता गया है, यह जाति त्यों-त्यों कमजोर होती गई है। सहस्रों प्रकार के साहित्यिक बन्धनो से यह जाति स्वयं भी बँध गई, जैसे मकड़ी आप ही अपने जाल में बँध गई हो, जैसे फिर निकलने का एक ही उपाय रह गया हो कि उस जाल की उल्टी परि-क्रमा कर वह उससे बाहर निकले।"[२] आगे निराला जी छायावाद युग से ठीक पूर्व की सर्वांगीण साहित्य तथा साहित्येतर-दासता का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—"यह हाल वर्तमान समय के काव्य साहित्य का है। इस समय के और पराधीन काल के काव्यानुशासकों को देखकर हम जाति की मानसिक स्थिति को भी देख ले सकते है! अनुशासन के समु-दाय चारों तरफ़ से उसे जकड़े हुए हैं, साहित्य के साथ-साथ राज्य, समाज, धर्म, व्यवसाय, सभी कुछ पराधीन हो गए हैं।" (१७) निराला जी शैली-शिल्प से समाज की मनोवृत्ति का अनुमान लगाते हैं। वस्तुतः निराला जी समझते हैं कि जहाँ शैली दृष्टिकोण का परिणाम होती है

[१]देखिए पृ० १६ 'परिमल' की भूमिका

[२]देखिए पृ० १६-१७ 'परिमल' की भूमिका

और इन दोनों का अविच्छिन्न सम्बन्ध होता है वहाँ शैली भी नितांत परामुख नहीं होती।† इसलिए निराला जी रचनाओं के रूप-स्वरूप से समाज के मानस का निरीक्षण करते है। छायावादी तथा स्वच्छन्द कवियों का मानस द्विवेदी-युगीन कवियो की तुलना में कितना उन्मुक्त हो चुका था, उनके चित्रो में कितनी गहराई और व्यापकता का आभास मिल रहा था और जिससे जाति का मुक्ति-प्रयास पता चलता था— इन सबको लक्षित कर निराला कहते हैं—

"साहित्य की मुक्ति उसके काव्य मे देख पड़ती है। इस तरह जाति के मुक्ति-प्रयास का पता चलता है। धीरे-धीरे चित्र-प्रियता छूटने लगती हैं। मन एक खुली प्रशस्त भूमि में विहार करना चाहता है, चित्रों की सृष्टि तो होती है, पर वहाँ उन तमाम चित्रों को अनादि और अनन्त सौन्दर्य में मिलाने की चेष्टा रहती है। बर्फ़ में जैसे तमाम वर्णों की छटा, सौन्दर्य आदि दिखलाकर उसे फिर किसी ने वाष्प मे विलीन कर दिया हो या असीम सागर से मिला दिला हो। साहित्य में उस समय यही प्रयत्न ज़ोर पकड़ता जा रहा है, और यही मुक्ति प्रयास के चिन्ह भी हैं। अब नीलाम्बरी-ज्योति-मूर्ति की सृष्टि का चतुर साहित्यिक फिर उसे अनन्त नील-मण्डल में लीन कर देते है। पल्लवों के हिलने में किसी

---

†रैल्फ फॉक्स ने इसी तथ्य को व्यक्त करते हुए लिखा है— "Form is inevitable mental machinery......... neither form nor content are seperate and passive entities. Form is produced by content, is identical and one with it, and through the primacy is on the side of content, form reacts on content and never remains passive."

('Novel and the people,' 1954, p: 79)

उपन्यास सम्बन्धी यह कथन निराला के कवित्व सम्बन्धी दृष्टिकोण को भी व्यक्त कर सकता है।

अज्ञात चिरन्तन अनादि सर्वज्ञ को हाथ के इशारे अपने पास बुलाने का इंगित प्रत्यक्ष करते हैं। इस तरह चित्रों की सृष्टि असीम सौन्दर्य में पर्यवसित की जाती है। और यही जाति के मस्तिष्क में विराट दृश्यों के समावेश के साथ ही साथ स्वतन्त्रता की प्यास को प्रखरतर करते जा रहे हैं।" (१८) सारतः निराला जी ने नई कविता की उन्मुक्त कल्पनाओं तथा शैलीशिल्प को भी सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण के आलोक में देखा और महत्त्व दिया। नई कविता में जिस 'नव गति नव लय ताल छन्द नव' का आग्रह था वह ऊपरी या शैलीगत आग्रह ही नहीं था—जिसके आधार पर कुछ आलोचक छायावादी कविता को शैली-विशेष मानने लगे—यह भारत मे स्वतन्त्रता का रव तथा नव अमृत-मन्त्र फूंकने के लिए था—

> वर दे, वीणा वादिनी वर दे !
> प्रिय स्वतन्त्र-रव, अमृत मन्त्र नव
> भारत में भर दे।
>
> ... ...
>
> नव गति नव लय, ताल-छंद नव।
> नवल कंठ, नव जलद-मन्द रव।
> नव नभ के नव विहग-वृन्द को,
> नव पर, नव स्वर दे।।†

'परिमल' काव्य का प्रारम्भ करने से पूर्व ही कवि अपनी कविता-किरण से सारे संसार को प्रकाशित कर नूतन जीवन स्पंदित करने को कहते हैं—

> जग को ज्योतिर्मय कर दो !
> प्रिय कोमल-पद-गामिनी ! मंद उतर

---

†गीतिका, तीसरा संस्करण, पृ० ३

जीवन्मृत तरु-तृण-गुल्मों की पृथ्वी पर
हँस—हँस निज पथ आलोकित कर
नूतन जीवन भर दो !—

निराला का मुक्त छन्द भारत की मुक्ति और साम्राज्यवादियों के विध्वंस का संदेश लेकर आया था—

जितने विचार आज
मारते तरगें हैं
साम्राज्यवादियों की भोग वासनाओं में,
नष्ट होंगे चिर काल के लिये ।
आयेगी भाल पर
भारत की गई ज्योति
हिन्दुस्तान मुक्त होगा घोर अपमान से
दासता के पाश कट जायेंगे ।*

निराला जी ने 'जाति के मस्तिष्क में विराट दृश्यों के समावेश' तथा सामाजिक-राजनैतिक स्वतन्त्रता की भावनाएँ उद्दीप्त करने में अन्य छायावादियों की तुलना में सर्वाधिक योग दिया है । छायावाद जागरण-युग की ही उपज थी पर धीरे-धीरे उसके प्रतिनिधि कवि अपने काव्य वृत्त को अधिक विस्तृत न कर सके और अपेक्षाकृत मंजुल-मसृण तथा ललित-कोमल क्षेत्र के अनुयायी ही बनकर रह गए । उन्होंने क्रांति की, पर युग की विकट परिस्थितियाँ और भी व्यापक क्राति की माँग कर रही थीं । इसलिए पंत जी को भी छायावाद के लिए लिखना पड़ा—"छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था । वह काव्य न रहकर अलंकृत संगीत बन गया था ।......एक ओर निगूढ़, रहस्यात्मक, भावप्रधान (सबजेक्टिव)

*'परिमल' २३६

और वैयक्तिक हो गया, दूसरी ओर केवल टेकनीक का आवरण मात्र रह गया।''[1]

इसी के अनुसार उन्हें 'युगान्त' में अपने छायावादी युग के अन्त की सूचना देनी पड़ी और युगीन माँग से मजबूर होकर वह कोकिल से काकली को छोड़, पावक कणों की माँग करने लगे—

गा कोकिल बरसा पावक कण
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन।[2]

पर निराला जी को अपने किसी काव्य-युग को छोड़ने की आवश्यकता नही पड़ी क्योंकि वे किसी काव्य-युग मे नही बँधे। रीतिकालीन रूढ़ियों का विरोध कर वे स्वयं किसी रूढि मे नही उलझे। प्रारम्भ से ही उनमें व्यापक सौन्दर्य बोध मिलता है, जो बाद मे भी किसी वाद मे बद्ध न होकर सदैव प्रगति करता रहा। वे मूलतः स्वच्छन्द भावनाओं के कवि हैं और उनकी प्रतिभा की व्यापकता 'परिमल' से ही कोमल-कठोर सभी क्षेत्रों में नूतन प्रयोग करती रही है। जिन 'पावक कणो' की बाते पंत जी ने मार्क्स के अध्ययन से सीखीं, वह निराला जी के 'परिमल' की 'बादल राग' (१९२३) आदि कविताओं मे अत्यन्त आवेगात्मक अनुभूति, आकुल उद्दामता तथा अमन्द-निर्बन्ध प्रवाह के साथ पहले ही व्यक्त हो चुकी थी। उनका बादल शोषकों के लिए 'विप्लव का प्लावन' तथा शोषितों के लिए जीवन-दाता था। ये उल्लेखनीय है कि 'बादल राग' कविता निराला की किसी क्षणिक संचारी अवस्था का ही परिणाम नहीं; यह उनके ओजस्वी, क्रांतिकारी तथा स्वच्छन्द स्वभाव की स्थायी चारित्रिक विशेषताओं से सम्बद्ध है। सयोग की बात है कि 'परिमल' में 'स्वच्छन्द', 'निर्बन्ध', 'मुक्ति' आदि शब्द बहुत आए हैं जिससे निराला की मूल मनोवृत्ति का पता चलता है।

'परिमल' का प्रकाशन १९३० में हुआ था। अभी तक नूतन कविता का जो स्वरूप उन्हें स्पष्ट हुआ था उसमें निराला जी को प्राथमिक

[1]''आधुनिक कवि (२), पंचम संस्करण, पृ० १७-१८ [2]युगांत, पृ० ३

सफलताएँ तो दिखाई दीं पर साथ ही उस की सीमा भी स्पष्ट हो गई जिसकी ओर इंगित करना उन्होंने आवश्यक समझा। उन्हें छायावादी कविता में सूक्ष्म-सौन्दर्यमयी नूतन कल्पनाओं का प्रसार मिला परन्तु उसके कर्म-पक्ष में दिखाई दी—उन्हें प्रभातकाल के जागरण के मनोहर चित्र मिले, दुपहरी की कर्मठता के नहीं। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं—"...हिन्दी के उद्यान में अभी प्रभात-काल ही का स्वर्णच्छटा फैली है। इसमें सोने के तारों का बुना कल्पना का जाल ही अभी है, जिस से किशोर कवियों ने अनन्त-विस्तृत नील प्रकृति को प्रतिभा में बाँधने की चेष्टाएँ की हैं, उसे प्रभात के विविध वर्णों से चमकती हुई अनेक रूपों में सुन्दर देख कर, वे हिन्दी के इस काल के शुष्क साहित्य-हृदयों में उन मनोहर प्रतिमाओं को प्रतिष्ठित करने का विचार कर रहे हैं। इसी लिए अभी जागरण के मनोहर चित्र, आह्लाद, परिचय आदि जीवन के प्राथमिक चिह्न ही देख पड़ते हैं, विहंगी का मधुर-कल-कूजन, स्वास्थ्य-प्रद स्पर्श-सुखकर शीतल वायु, दूर तक फैली हुई प्रकृति के हृदय की हरियाली...। इसके सिवा अभी कर्म की अविश्राम धारा बहती हुई नहीं देख पड़ती है।" (६) निस्सन्देह निराला जी ने यह महत्त्वपूर्ण बात लिखी थी और उन्होने इसका प्रारम्भ से ही सर्वाधिक पालन किया। छायावाद-युग के सन् ३०-३७ की कविताओं में सामाजिक चेतना अधिक विकसित हुई।

निराला जी में श्रमोत्साह कितना है यह 'परिमल' के कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा। वह 'कवि' के लिए लिखते हैं—

> महाप्राण ! जीवों में देते हो
> जीवन ही जीवन जोड़,
> मोड़ निज सुख से मुख।†

मानों 'महाप्राण निराला' ने अपनी ही व्याख्या कर दी है। अब निराला जी की 'ध्वनि' में धीरोदात्तता देखिए—

---

†कवि (२०७)

अभी न होगा मेरा अन्त ।

...   .

पुष्प-पुष्प से तन्द्रालस लालसा खींच लूँगा मैं,
अपने नव जीवन का अमृत सहर्ष सींच दूँगा मैं,
द्वार दिखा दूँगा फिर उनको

...   .

मेरे जीवन का यह है जब प्रथम चरण,
इसमें कहाँ मृत्यु
है जीवन ही जीवन ।

...   .

मेरे ही अविकसित राग से
विकसित होगा बन्धु दिगन्त—
अभी न होगा मेरा अन्त।†

उनकी 'जागो फिर एक बार' की ललकार भी ग़ज़ब है, जो कहती है—

"तुम हो महान, तुम सदा हो महान

...   .

पद-रज भर भी है नहीं पूरा यह विश्व भार—
जागो फिर एक बार !"*

देखिए वे किस का 'स्वागत' करते हैं—

कितने ही विघ्नों का जाल
जटिल, अगम, विस्तृत पथ पर विकराल;
कण्टक, कर्दम, भय-श्रम-निर्मम कितने शूल;

---

†'ध्वनि' (१२१)
*'जागो फिर एक बार' (२०५)

हिंस्र निशाचर, भूधर, कन्दर पशु-संकुल
पथ घन तम, अगम अकूल—
पार-पार करके आए, हे नूतन !
सार्थक जीवन ले आये
श्रम-कण में बन्धु, सफल श्रम ![1]

अन्य कृतियों में भी श्रम-संघर्ष की चुनौती बार-बार मिलती है। निराला का व्यक्तित्व हार को स्वीकार कर ही नहीं सकता और पुनर्निर्माण का स्वर झंकृत हो उठता है—

फिर सँवार सितार लो
बाँध कर फिर ठाट, अपने अंक पर झंकार दो ![2]

निराला जी ने भूमिका के अधिकांश भाग का उपयोग रूढ़िबद्ध दासता के विरोध में किया है और इसके लिए उन्होंने कर्मण्य मुक्ति की भावनाओं तथा मुक्त छन्द को अन्योन्याश्रित महत्त्व दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने मुक्त छन्द विषयक निम्नस्थ मत दिये हैं—

मुक्त छन्द, छन्द-मुक्ति नहीं। वह छन्द की भूमि में रहकर भी मुक्त है। (२१)

'मुक्त-छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है, और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।' (२१)

मुक्त छन्द अतुकांत या भिन्न-तुकांत छन्द से भिन्न है। सभी अतुकांत काव्य एक-एक नियम या सीमा में बँधे होते हैं। जैसे गण-वृत्तों में गणों की शृंखला, मात्रिक वृत्तों में मात्राओं का साम्य, वर्ण-वृत्तों में अक्षरों की समानता मिलती है। पर मुक्त छन्द ऐसी सीमाओं से परे होता है और फिर भी आनंद देता है। 'छन्द भी जिस तरह कानून के अन्दर सीमा के सुख में आत्मविस्मृत हो सुन्दर नृत्य करते, उच्चारण की शृंखला रखते हुए श्रवण-माधुर्य के साथ-ही-साथ श्रोताओं को सीमा के आनंद में भुला

[1] स्वागत (११६)
[2] अनामिका, दूसरा संस्करण, पृ० ७८

रखते हैं, उसी तरह मुक्त छन्द भी अपनी विषम-गति में एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य देता है, जैसे एक ही अनन्त महासमुद्र के हृदय की सब छोटी-बड़ी तरंगें हों, दूर प्रसरित दृष्टि में एकाकार, एक ही गति में उठती और गिरती हुई।' (१८)

मुक्त छन्द के अनायास प्रवाह में अन्य छन्दों का आधार रह सकता है। इस सम्बन्ध मे निराला जी ने अपनी मुक्त छांदिक रचनाओं के लिए लिखा है—"इस पुस्तक (परिमल) के तीसरे खण्ड में जितनी कविताएँ हैं, सब इस प्रकार की हैं। उनमें नियम कोई नही, केवल प्रवाह कवित्त छन्द का-सा जान पड़ता है। कही-कही आठ अक्षर आप-ही-आप आ जाते है—

'विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी
स्नेह-स्वप्न-मग्न अमल कोमल-तनु तरुणी
जुही की कली
दृग बन्द किए—शिथिल-पत्रांक मे।'

यहाँ 'सोती थी सुहाग भरी' आठ अक्षरों का एक छन्द आप ही आप बन गया है; तमाम लड़ियों की गति कवित्त-छन्द की तरह है।" (२१-२२)

तात्पर्य यह कि मुक्त छन्द के लिए आवश्यक है निर्बन्ध गति और प्रवाह।

मुक्त छन्द के आधारभूत छन्दों में निराला ने कवित्त छन्द को अधिक उपयोगी बताया है। "कारण, यह छन्द चिरकाल से इस जाति के कण्ठ का हार हो रहा है। दूसरे, इस छन्द में एक विशेष गुण यह भी है कि इसे लोग चौताल आदि बड़ी तालों मे तथा ठुमरी की तीन तालों में सफलता पूर्वक गा सकते हैं, और नाटक आदि के समय इसे काफ़ी प्रवाह के साथ पढ़ भी सकते हैं।...यदि हिन्दी का कोई जातीय-छन्द

चुना जाय तो यह यही होगा।"† (२२) जब इस कवित्त छन्द का मुक्त रूप में प्रयोग होता है, तो अन्त्यानुप्रास के मिट जाने से इसकी रोचकता बढ़ जाती हैं।

निराला जी ने मुक्त छंद के लिए पठन-कला (Art of reading) आवश्यक बताई है। अनभ्यास के कारण इसे पढ़ने में असुविधा हो सकती है पर इसमें छंद की गति का कोई दोष नहीं। निराला जी स्वयं इसे विशेष प्रवाह तथा सौन्दर्य के साथ पढ़ सकते हैं। (२२) यही नहीं इस छंद में वे Art of reading का आनंद देखते हैं। (२३)

निराला जी प्रवाहपूर्ण पठन के कारण मुक्त छंद की रंगमंच पर विशेष उपयोगिता देखते हैं। वे तो यहाँ तक कहते है कि "स्वच्छन्द छंद नाटक-पात्रों की भाषा के लिए ही है, यों उसमें चाहे जो कुछ लिखा जाय।" (२३)

निराला जी ने खड़ी बोली के विकास को राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखा है। राष्ट्र बिना राष्ट्रभाषा के नहीं हो सकता। अतएव राष्ट्र-प्राप्ति की कल्पना के साथ 'राष्ट्र-भाषा-वाद' उन्हे आवश्यक दिखाई दिया। उन्होंने तत्कालीन राष्ट्रीय नेताओं की राष्ट्र-भाषा-उदासीनता के विषय में खेद प्रकट किया है (११) और 'अँग्रेजी के प्रवाह में आत्मविस्मृत' (१४) नेताओं को सजग किया है।

खड़ी बोली को राष्ट्रभाषा सिद्ध करने के लिए निराला ने राष्ट्रीय एकता तथा साहित्य-सम्पन्नता इन दो दृष्टियों से विचार किया है। यह स्वीकार करते हुए भी कि उन पर 'बँगला के आधुनिक अमर साहित्य का काफी प्रभाव है' (१३), फिर भी औचित्य की दृष्टि से उन्होंने

---

†'रास्ते के फूल' कविता मे निराला कवित्त छंद की प्रशंसा मे कहते हैं—

ललित कल्पना—'कोमल पद' का

मैं था 'मनहर' छन्द ! (परिमल पृ० १५७)

यहाँ 'मनहर' का दोहरा अर्थ है। मनहर और कवित्त छंद एक ही हैं। दूसरा अर्थ है—मन हरण करने वाला।

बँगला को राष्ट्रभाषा बनाए जाने के प्रयत्नों का विरोध किया। राष्ट्र-ऐक्य तथा भाषा-वैज्ञानिक कारणों के आधार पर वे बँगला-समर्थकों के लिए कहते है कि 'एक तृतीयांश मुसलमानों का विचार उनके मस्तिष्क में नहीं आता, वे नही जानते कि आर्य उच्चारण और बँगला के मंगोलियन उच्चारण मे क्या भेद है, बँगला के उच्चारण-असादृश्य से पंजाब, सिन्ध, राजपूताना, युक्त प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, गुजरात और महाराष्ट्र की संस्कृति को कितना धक्का पहुँचता है।" (१२) "जिस भाषा के अकार का उच्चारण बिल कुल अनार्य है, जिसमें ह्रस्व-दीर्घ का निर्वाह होता ही नही, जिस में युक्ताक्षरों का एक भिन्न ही उच्चारण होता है, जिसके 'स'कारों और 'न'कारों के भेद सूझते ही नहीं, वह भाषा चाहे जितनी मधुर हो, साहित्यिकों पर उसका जितना ही प्रभाव हो, वह कभी भारत की सर्वमान्य राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती।"† (१३-१४)

'साहित्यिक पौरुष'(१४)की दृष्टि से भी वह हिन्दी को ही राष्ट्र-भाषा के अनुकूल पाते थे क्योंकि 'हिन्दी के प्राचीन साहित्य के साथ तुलना करने पर प्रान्तीय कोई भाषा नहीं टिकती।' (१२) हिन्दी के अतीत-गौरव की ज़ोरदार वकालत करते हुए वे कहते हैं—"उस तलवार के ज़माने में सिर काटकर भी साहित्य में अपनी संस्कृति की रक्षा करने वाले वे गत शताब्दियों के महापुरुष अपनी भाषा और लिपि के भीतर से असीम बल अपनी सन्तानों को दे गए हैं, वे (हिन्दी-विरोधी) नहीं जानते कि आजकल के जमादारों, भैयों, मारवाड़ियों (मेड़ों) और गुजरातियों के निरक्षर शरीर के भीतर कितना बड़ा स्वाभिमान इस दैन्य के काल में भी जाग्रत है, वे 'बहुजन हिताय, बहुजन-सुखाय' का बिल्कुल

†यहाँ हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि निराला जी के ये भाषा-वैज्ञानिक तर्क निराधार हैं। अवश्य ही उनका राष्ट्रभाषा-प्रेम प्रशंसनीय है। पंत जी का खड़ी बोली बनाम ब्रज भाषा सम्बन्धी विवाद 'निराला' के खड़ी बोली-बँगला-विवाद की अपेक्षा अधिक गम्भार है।

ख्याल नहीं करते।" (१२-१३) हिन्दी के वर्तमान साहित्य के सम्बन्ध में वे आशावादी थे। लिखते हैं—"उसका (हिन्दी का) नवीन साहित्य भी क्रमशः पुष्ट ही होता जा रहा है, जिसे देख कर यह आशा दृढ़ हो जाती है कि शीघ्र ही हिन्दी के गर्भ से बड़े बड़े मनस्वी साहित्यिकों का उद्भव होगा।" (१२)

राष्ट्रीय दृष्टिकोण से निराला ने साहित्य के साथ-साथ 'राष्ट्र-साहित्य की कविता' करने वालों को विशेष गौरव दिया है। मुसलमान भाइयों को भी राष्ट्र की सेवा के लिए आमन्त्रित करने के विचार से वे "शहरों के प्रचलित उर्दू शब्दों तथा मुहाविरों' को साहित्य में स्थान देने का समर्थन करते है। (१३) उन्होंने इसी आधार पर 'खिचड़ी-शैली का भी स्वागत किया ताकि कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और रंगून आदि अपर-भाषा-भाषी प्रान्तों मे हिन्दी ही राजकार्य तथा व्यवसाय आदि में प्रचार पा सके। (१३)

'पल्लव' की भूमिका का महत्त्व खड़ी बोली बनाम ब्रजभाषा की दृष्टि से व्यापक विचार करते हुए खड़ी बोली को कलात्मक सम्पन्नता देने में है और 'परिमल' की भूमिका का महत्त्व नूतन साहित्य को राष्ट्रीय जागरण से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित करने, तथा इसी दृष्टि से उसकी कमियों के संकेत करने; हिन्दी साहित्यकारों को आत्मबल देने; मुक्त छन्द को प्रचलित करने तथा उसका भारतीय आधार स्पष्ट करने में है। काव्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण से तथा तत्कालीन आलोचना को नई दृष्टि देने में भी दोनों भूमिकाओं का महत्त्व है। ये दोनों भूमिकाएँ एक दूसरे की पूरक हैं और इनका ऐतिहासिक महत्त्व है। एक बात और। 'परिमल' की भूमिका से निराला-काव्य के वह संकेत भी मिलते हैं जो उन्हें 'वादी' या 'छायावादी' की अपेक्षा 'स्वच्छन्द कवि' बनने में सहायक सिद्ध हुए।

निराला-काव्य की विशेषताएँ और 'वाद'

निराला जी के समग्र काव्य में इतने विविध विषय तथा इतनी विभिन्न शैलियाँ मिल जाती है कि इन मे सभी वादों की विशेषताएँ खोजी जा सकती हैं। अतएव कुछ आलोचकों द्वारा इनको अपने-अपने वाद का समझ लेना सम्भव हो सकता है। एक बार कुछ आलोचकों ने इनसे अपनी शंकाएँ व्यक्त की और इन्हें अपने-अपने वाद का बताया। निराला जी से इन्टरव्यू करना वैसे ही सरल नहीं, दूसरे उनकी वाग्धारा चलेगी तो अप्रतिहत प्रवाह से। यही हुआ भी।

निराला जी कहने लगे—"मै सब हूँ और कुछ भी नहीं। मैंने न आज प्रगति सीखी है और न आज ही प्रयोग किए हैं, पहले से ही ऐसा था। उस समय ये वाद तुमने सीखे नहीं थे, अब अपना गौरव बढ़ाने के लिए तुम मेरा सहारा लेने लगे। देखो, मैं पहले भी निर्बन्ध था, आज भी हूँ और सदा ऐसा ही रहूँगा। मेरे प्रारम्भिक 'परिमल' की ही पहचान तुमने कर ली होती तो आज तक सूँघते न फिरते। 'तुम और मैं', 'आदान-प्रदान', 'जागो फिर एक बार', 'जुही की कली', 'अधिवास', 'बादल राग,' 'पंचवटी-प्रसंग' को साथ रखकर पढ़ो, 'परिमल' के तीनों खण्डों को अखण्ड समझो तो मेरा कोमल-कठोर, निर्बन्ध-स्वच्छन्द, विविध विचार-शैलियों वाला विषम-विराट व्यक्तित्व सामने आ जाता है। मैं परम्परा-प्रगति दोनों के गीत गाता हूँ—'आदान-प्रदान' में मेरा पूरा विश्वास है। मैं संसार को माया समझता हूँ फिर भी इससे प्यार करता हूँ। 'कण'-कण और 'रास्ते के फूल' भी मेरी ममता से बच नहीं सके। मैं जीव को बंधन-रहित, मुक्त, ब्रह्म-समान समझता हूँ, पर मुक्ति-कामी नहीं हूँ। विश्व की अश्रुभरी आँखें मुझे संसार में प्रवृत्त करती हैं, 'अधि-

वास'—मुक्ति-लोक—को छुड़ाती हैं, मेरी प्रगति अनन्त होती है और इसी में मुझे हर्ष है। 'योग्य जन जीता है' यह पश्चिम की नहीं, गीता की उक्ति है, इसी में मेरा विश्वास है, पर दूसरे के शोषण से पुष्ट तथा-कथित योग्य जनों की मैं खबर लेता हूँ, फिर चाहे प्रकृति-प्रेमी होकर भी मुझे गुलाब को रक्तशोषक (capitalist) ही क्यों न कहना पड़े। 'जीर्ण बाहु, शीर्ण शरीर' किसान-मज़दूर के लिए मैं 'विप्लव के प्लावन' तक के आह्वान में तत्पर हो जाता हूँ। जब तक धनिकों का कोष रुद्ध है तब तक मानवता का तोष क्षुब्द ही रहेगा। 'परिमल' का एक गीत है—

हमें जाना है जग के पार—
जहाँ नयनों से नयन मिले,
ज्योति के रूप सहस्र खिले,
सदा ही बहती नव-सर धार—
वहीं जाना, इस जग के पार।

"इसे सुनकर तुम कह उठोगे यह तो पलायनवाद है। है, पर संचारी अवस्था में। इसमें भी मेरी वह कामना व्यक्त हुई है जो मुझे धरती पर नहीं दिखाई देती। जग के पार, नव-सर-धार चाहता तो धरती को भूल जाता, पर मैंने ही 'दीन', 'भिक्षुक', 'विधवा', 'कण' और 'रास्ते के फूल' पर भी लिखा है और उसी 'कवि' को प्रशस्ति दी है जो अपने सुख से मुख मोड़कर दूसरे को सुखी करता है। 'जग के पार' के साथ मैंने 'तरंगों के प्रति' में 'दग्ध चिता के हाहाकार' और 'अबलाओं की करुण प्रकार' को भी सुना है। और...मैंने 'माँ' से यह 'आग्रह' भी तो किया था—

माँ, मुझे वहाँ तू ले चल !
देखूँगा वह द्वार—
दिवस का पार—
मूर्छित हुआ पड़ा है जहाँ
वेदना का संसार !

"मैं ने जगत् के आर-पार के गीत गाए हैं क्योंकि धरती और आकाश दोनों है और दोनों तक मेरी दृष्टि जाती है । अब बताओ छायावादी हूँ या प्रगतिवादी ? वेदों पर, उसके अद्वैत-दर्शन पर मेरा पूरा विश्वास है पर मैं वेदों को मावन-कृत मानता हूँ । मैं ने मज़दूर-किसान पर लिखा है पर मार्क्स-दर्शन को मान कर नहीं । मैं 'तुम और मैं' में रहस्यवादी हूँ पर 'पंचवटी प्रसंग' में भक्ति को प्रमुख माना है । अन्यत्र भक्तों की-सी प्रार्थ-नाएँ भी की हैं; पर मेरी प्रार्थनाओं का क्षेत्र भी अपरिमित है । मैं अन्याय को सहन नहीं कर सकता । मैं ने माँ से प्रार्थना की है पर इस में भी क्रांति का 'आवाहन' है । लो सुनो—

> एक बार बस और नाच तू श्यामा !
> सामान सभी तैयार,
> कितने ही हैं असुर, चाहिएँ कितने तुझको हार ?
> कर-मेखला मुण्ड मालाओं से बन मन-अभिरामा—
> एक बार बस और नाच तू श्यामा !
> भैरवी भेरी तेरी झञ्झा
> तभी बजेगी मृत्यु लड़ाएगी जब तुझ से पंजा;
> लेगी खड्ग और तू खप्पर
> उसमें रुधिर भरूँगा माँ
> मैं अपनी अंजलि भर भर;
> उँगली के पोरों में दिन गिनता ही जाऊँ क्या माँ—
> एक बार बस और नाच तू श्यामा !"

यह गीत उन्होंने उन्माद से गाया । पर पूरा न कर वे कहने लगे "बताओ कोई प्रगतिवादी किसी 'देवी' से क्रांति की प्रार्थना करेगा ? यह कितना ग़लत समझ लिया गया है कि कोई आध्यात्मिक होकर अन्याय-आतंक के विरुद्ध ख़म ठोक कर खड़ा नहीं हो सकता, किसान-मज़दूर की चर्चा नहीं कर सकता और क्रांति के गीत नहीं गा सकता । इसी गीत में मैंने आगे कहा था—

'बन्द हो जाएँगे सारे कोमल छंद'

—कहाँ 'जुही की कली' की कोमलता और कहाँ 'अटूट पर टूट पड़ने वाला उन्माद' !

"मेरी सौन्दर्य-भावना सीमित नहीं, सुगढ़-अनगढ़ कोमल-कठोर सभी विषयों से मैंने प्यार किया है, और सभी रसों का आस्वादन।

"मेरा कल्पना-कोष अपरिमित है। 'राम की शक्ति पूजा' तथा 'तुलसीदास' में मेरी कल्पना जैसी विराट है वैसी किसी......अधिक क्या, सब कुछ कहा नहीं जाता, आप पर छोड़ता हूँ।"

सभी आलोचक एक-दूसरे की ओर देखने लगे कि निराला फिर फूट पड़े। "मुक्तक-प्रबन्ध सभी में मेरी गति रही है, फिर भी लघु प्रबन्ध-काव्यों में मेरी उद्दामता खुल-खेलने का अवकाश अधिक देखती है। लघु मुक्तक में मैं मुक्त नहीं रह पाता। अतएव कभी-कभी असंतुलन हो जाता है। कोई इसे चाहे भीतर की क्षुद्र मनोवृत्ति ही कहे, मैं सुधार के लिए सभी साधनों का आश्रय लेता हूँ। व्यंग्य के अस्त्र से मैंने खूब काम लिया है। आज यह बहुत-सों को चलाना आ गया है किन्तु दुख है कि कुछ लोग इसे सम्हाल कर नहीं चलाते। भाषा की सभी शक्तियों से मैंने भरपूर काम लिया है। व्यंजना की सूक्ष्मता से ही नहीं, अभिधा की स्थूलता से भी मैंने कमाल दिखाए हैं। हिन्दी, उर्दू, अँग्रेजी सभी से अवसरानुकूल मैंने काम लिया है। बस 'दम' चाहिए 'रंजोग़म' का सवाल नहीं, कोई अभीष्ट शब्द नहीं मिलता तो मैं मोड़-तोड़-जोड़ से नया घड़ लेता हूँ—मैं पहले ही कह चुका हूँ निर्बन्ध हूँ। कभी इनका स्वागत हुआ है कभी निरादर। मैं अपनी मस्ती में मस्त हूँ और कह सकता हूँ कि रटे-रटाए, घिसे-घिसाए, पिटे-पिटाए शब्दों से ही काम नहीं चल सकता। आत्म-श्लाघा ही क्यों न कहो, मैंने शब्द-भण्डार की पर्याप्त वृद्धि की है। सरल से सरल और कठिन से कठिन भाषा मैंने लिखी है—संस्कृत के समास भी मेरे आयास से खिल उठे है।" एक आलोचक दूसरे के कान में फुस-फुसाया—"कुछ भी हो भाषा में वागाडम्बर बड़ा है।" पर निराला की

वाग्धारा रुकी नहीं। "वैसे तो मुझे सभी शब्द-चित्र पसंद हैं, फिर भी स्पर्श, वर्ण, गंध तथा ध्वनि में से मुझे श्रवण-सुखदता भाती है। संगीतात्मकता तथा नाद-सौन्दर्य के बिना मुझे आनंद नही आता।

"मेरी नूतन-स्वतन्त्र भावनाएँ पिंजरों में फड़-फड़ाकर रह जातीं जो मैं उनकी मुक्त उडान का आंदोलन न शुरू करता। मैं बंधनमय छंदों की छोटी राह का राही नहीं हूँ, मैं मुक्त हूँ और वैसे ही 'बाधा-विहीन बँध' मुक्त छंद का कायल हूँ। आज मैं देख रहा हूँ कि मेरे आंदोलन को पर्याप्त सफलता मिली है—अनेक प्रगति-प्रयोगवादियों ने इसे अपनाया है। पर कभी-कभी मुझे दुख भी होता है कि बिना मुक्त भावनाओं तथा इसके अपने संगीत को जाने वे इसे गद्यमय बनाकर छोड़ देते हैं। एक बात और कह दूँ। प्राचीन छंद बहुत कुछ चमत्कार-शून्य हो गए, मेरी भावनाओं ने उनको जोड़कर अपने नए छंद बना लिए। अपनी छाप के बिना मैं किसी को नहीं अपनाता। तुम कहा करो ये सब बँगला से लिया गया है, मैं तो यही कहूँगा ९० प्रतिशत 'निराला' है। अधिक क्या कहूँ मैंने—'मैं'—स्वतन्त्र शैली अपनाई है जो 'नव गति नव लय ताल छंद नव' के साथ 'नव पर नव स्वर' देने में विश्वास रखती है। हाँ, यह ध्यान रहे कि मेरे 'नव' का उद्भव भीतर से, अंतः स्फूर्ति से हुआ जिसने दुखद आवेष्टन को भी आत्मसात कर लिया है—

> मैंने "मैं" शैली अपनाई,
> देखा दुखी एक निज भाई,
> दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे,
> झट उमड़ वेदना आई;

"और आज नूतनता का फैशन ही चल पड़ा है। समाज के दुख के साथ जब दिल का दर्द मिलता है, या समाज का दुख ही दिल का दर्द बन जाता है तो मेरी 'मैं' शैली अनायास उमड़ पड़ती है।"

आलोचक गण फुसफुसाने लगे। एक कहने लगा—"निराला जी ने अपनी 'मैं' शैली से मानों अपनी सही व्याख्या कर दी है। यही इनकी शक्ति

भी है, दुर्बलता भी, क्योंकि जहाँ उनकी 'मैं' साधरणीकृत हुई है वहाँ काव्य खिल उठा है और कहीं-कहीं यही 'मैं' आत्मप्रदर्शन बन गई है; वहाँ केवल चमत्कार हाथ आता है। कहीं-कहीं उनका अहम् विक्षुब्ध विद्रोह कर उठता है और काव्य में असंतुलित दुरूहता आ जाती है। इन की उद्दाम 'मैं' को, सामाजिकता संयम देती है किन्तु कहीं-कहीं निराला 'मैं' से, अहम् से ही दूसरों को अभिभूत करते जान पड़ते हैं। उनकी कविताएँ अति-वैयक्तिक हो उठती हैं और काव्य की सहज भूमि को छोड़ देती हैं।" उनकी विषम स्वच्छन्दता से सभी सहमत थे। अतएव समवेत स्वर से कहने लगे—मानो एक ही कहते घबराता हो—"आप के कथन से ऐसा लगता है, आप किसी एक वाद के नहीं।"

निराला—"अरे भाई! वाद के चश्मे उतार फैंको। वादी चश्मों ने नई रोशनी दी—पर तुम्हारी अपनी ज्योति को छीन लिया। क्या वाद के बिना तुम किसी को महत्त्व ही नहीं दे सकते? मेरे 'परिमल' की परख जब एक वाद के अनुसार नहीं हो सकती तो मेरे समस्त साहित्य......खैर छोड़ो, यदि तुम्हारा आग्रह है तो मैं 'बादल राग' हूँ—'निर्बन्ध-स्वच्छन्द'।"

आलोचक गण (एक साथ)—"हम रहस्य पा गए। आप स्वच्छन्दता वादी हैं।"

निराला—"कहलो, जैसी तुम्सारी मरज़ी। पर 'स्वच्छन्दता' और 'वाद' में विरोध है।"

यह कह कर वह उठ कर चल दिये, और आलोचक गण कुछ कह न सके। सब इतने अभिभूत हो चुके थे कि मौन चिंतन में लीन हो गए। थोड़ी देर बाद चलने को हुए कि निराला को छायावादी कहने वाले आलोचक ने कहा "असीम प्रतिभा है, अतुलनीय सामग्री पर संयम-सुरुचि में कहीं-कहीं चूक हो ही जाती है, सजाना-सँवारना जैसे इनके बस में नहीं। जहाँ-कहीं काव्य सज-संवर जाता है वहाँ सौन्दर्य खिल उठता है। छायावादी कवियों से किन्हीं बातों में समता होते हुए उनसे अन्तर भी स्पष्ट है। इन जैसी बहुवस्तु-स्पर्षिनी प्रतिभा किसी में नहीं। न ही इन जैसा लघुता का

यथार्थ चित्रण और समसामयिक राजनैतिक विषयों का ग्रहण मिलता है। इतना रस-बाहुल्य तथा कोमल के साथ परुष-विराट प्रतिभा भी अन्यत्र नहीं। प्रसाद जी में दोनों प्रतिभाएँ हैं पर एक ही कृति 'कामायनी' में। अवश्य ही उनके नाटकों में, तथा वहाँ आये गीतों में प्रचुर मात्रा में ओजस्विनी भावनाओं का समावेश है। फिर भी ये छायावादियों की सामान्य विशेषता नहीं, यह प्रसाद जी की ही विशेषता है। निराला जैसी उद्दामता और 'राम की शक्ति पूजा' तथा 'तुलसीदास' का ओज तो कहीं नहीं। निराला में छायावादियों की करुणा के साथ प्रगतिवादियों का संघर्ष भी है। छायावादियों की सामान्य भूमि ललित-कोमल है और निराला की अनगढ़-परुष भी। उन-जैसे घोर विरोधों का चमत्कार भी अन्यत्र दुर्लभ है। किसी छायावादी ने उन-जैसी चरम वैयक्तिक कविताएँ नहीं लिखीं और किसी ने उन-जैसी सामाजिक कविताएँ भी। उन्होंने समास-प्रधान दुरूहतम शब्दावली से लेकर सरलतम-साधारण भाषा का प्रयोग किया है। छायावादियों में उन-जैसी सामयिक शब्दावली भी नहीं, अभिधा तथा व्यंजना का चरमोत्कर्ष भी नहीं। इतनी सरल-सादी शब्दावली और इतनी नादात्मक पदावली भी किसी छायावादी में नहीं। उनका व्यंग्य भी प्रगति-प्रयोगवादियों की विशेषता है, छायावादियों की नहीं। इतनी विविध शैलियाँ, विविध छंद और विविध प्रयोग निस्सन्देह किसी में नहीं। उन-जैसा स्वच्छन्द कोई नहीं। लीक पर कभी चले नहीं और न चलेंगे। उन्होंने कुछ तो अपने ढंग के अद्वितीय प्रयोग किए हैं, जैसे—राम की शक्ति पूजा, सरोज-स्मृति, बादल-राग, तुलसीदास आदि, पर व्यर्थ कविताएँ भी मिल जाती हैं। यह भी ठीक है कि उनकी आगे की रचनाओं के बीज 'परिमल' और 'अनामिका' जैसे प्रारम्भिक काव्यों में ही स्पष्ट रूप से मिल जाते हैं।"

उनको रहस्यवादी समझने वाला आलोचक कहने लगा—"मैं अब समझा कि निराला जी का ब्रह्म वह नहीं जिसे मैं समझता था। वह विश्व-स्वरूप ही है।" प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कुछ बोले नहीं।

ऐसा दिखाई देता था जैसे वे उनकी सामाजिक चेतना और नए प्रयोगों तथा स्वच्छन्द-मनोवृत्ति को समझ गये थे और अपनी गरेबाँ में मुँह डाल कर आत्मनिरीक्षण में लीन थे । फिर भी प्रगतिवादी ने छायावादी आलोचक से कहा "श्रीमान् जी ! आप निराला की एक विशेषता तो भूल ही गए । उनके शृंगारिक वर्णनों में जैसी स्वस्थ मांसलता तथा कुण्ठा-मुक्त ओज है, वह अन्य छायावादियों में नहीं । कारण उनको अपनी पत्नी से पूरा प्यार मिला था जिसे वे उसकी मृत्यु के बाद भी विस्मृत न कर सके ।

थोड़ी देर बाद चारों चलने लगे कि छायावादी ने मानो अन्तिम बात कहने के लिए कहा कि "उनकी विषमता में भी वैसी ही समता है जैसे मुक्त छन्द में । उन्होंने परिमल की भूमिका में लिखा था—'मुक्त छंद भी अपनी विषम-गति में एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य देता है, जैसे एक ही अनन्त महासमुद्र के हृदय की सब छोटी-बड़ी तरंगें हों, दूर प्रसरित दृष्टि में एकाकार, एक ही गति में उठती और गिरती हुई ।' मुक्त छन्द उनकी शैली ही नहीं, यही उनका व्यक्तित्व भी है ।"

———

रेखाचित्र कला

हिन्दी साहित्य के इस 'गद्यकाल' मे गद्य की अनेक नूतन विधाओं का विकास हुआ है जिनमें रेखाचित्र, रिपोर्ताज, संस्मरण आदि आधुनिकतम कलारूप हैं। आज के संघर्षजटिल, व्यावसायिक, यांत्रिक युग में कला-रूपों का कलेवर छोटा ही होता रहा है। समाचार-पत्रों ने भी इस संक्षिप्तता की प्रवृत्ति में योग दिया है। अतएव उपन्यासों में 'लघु उपन्यासों' का प्रचलन हुआ, 'लघु कहानी' ने अतिलघु कहानी (short-short story) का आकार धारण किया और कविता के क्षेत्र में लघु मुक्तकों का प्राधान्य हो गया है। कहानी और निबन्ध के लाघव की प्रवृत्ति की परिणतियों में एक कला-रूप रेखाचित्र (sketch) भी है।

यथार्थवाद की प्रवृत्ति ने साहित्यकार को युग की सामयिकता की ओर विशेष जागरूक किया। आज के क्रान्तिकारी युग की दैनन्दिन की वास्तविकता से कलाकार के सामंजस्य की हेतुता ने उल्लिखित अभिनव अभिव्यक्ति-माध्यमों की सृष्टि की है। इनमें से भी रिपोर्ताज और रेखाचित्र अपनी यथार्थ अनुरूप कला के कारण आज की द्रुतगामी वास्तविकता के अधिक निकट हैं।

आलोचकों में यह प्रश्न विवाद का विषय है कि कला के इन नूतन रूपों की पृथक् सत्ता स्वीकार कर ली जाय अथवा जिनके भीतर से इनका विकास हुआ है, उन पुरातन रूपों के एक प्रकार-विशेष के रूप में इनका उल्लेख होता रहे। रेखाचित्र की दृष्टि से विचार करने पर यही स्थिति हमारे सामने आती है। हिन्दी में कहानी तथा निबन्ध दोनों पर लिखी आलोचना-पुस्तकों में रेखाचित्र का उल्लेख हुआ है। इनमें रेखाचित्र को कहानी तथा निबन्ध-कला की सहायक शैली मान लिया गया है अथवा

कहानी-निबन्ध की रचना-सीमा को बढ़ा कर उसी के भीतर इसको समेट लिया गया है । यथा, हिन्दी-कहानियों की शिल्पविधि का विकास दिखाते हुए डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने लिखा है—"सम्यक् कहानी-शैली से लेकर उसमे रेखाचित्र विश्लेषण चित्र से लेकर सूचनिका (Reportas), कैमराविधान (Camera technique) और न्यूज़रील-विधान तक कहानी-रचना की सीमा को बढ़ा दिया ।"[1] सतत् परिवर्तनशील युगीन परिस्थितियों के प्रति अपने उत्तरदायिन्व के निर्वाह में जब साहित्यिक व्यक्तित्व नूतन प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के लिए अभिनव माध्यमों को अपनाता है—वैसे भी प्रचलित कला-रूप चिर-स्थिर नहीं रहते, अभिव्यक्ति-आवश्यकता के अनुरूप बदलते हैं—तब या तो आलोचक रूढ़ रूपों की सीमाओं को बढ़ा कर उनकी परिभाषाओं को और लचीला बना देता है अथवा उसे किसी नूतन साहित्यिक विधा के आगमन की घोषणा करनी पड़ती है । इसलिए अभिव्यक्ति-माध्यमों में नित्य नये परिवर्तन किसी कला-रूप की सुनिश्चित परिभाषा को असंभव बना देते हैं । आज उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि की परिभाषा करने में यही कठिनाई आ रही है । वस्तुतः साहित्य में विभिन्न अभिव्यंजना-रूपों की परिभाषा, वर्गीकरण तथा नामकरण की समस्या बड़ी जटिल होती है । किसी कला-रूप के समझने की सुविधा, अनुशासन तथा परिष्कृति के लिए ही परिभाषा, वर्गीकरण आदि अपेक्षित होते है । अतएव यदि नूतन कला-माध्यमों का पूर्वप्रचलित रूढ़-रूपों में समाहार किया जाता रहा और ऐसा करने में परिभाषाओं को व्यापक बनाना पड़ा, तो अतिव्याप्ति दोष से समझने में असुविधा ही हो सकती है । जीवन-जगत् के गतिशील प्रवाह को समझ कर, तदाधारित नूतन अभिव्यक्ति-प्रयत्नों का स्वागत अपेक्षित है अन्यथा रूढ़ रूपों एवं टाइपों के अनुसार साहित्य को चलाने की कामना अथवा उन्हीं में इनका समाहार करते जाना मात्र पुरा-पूजन ही समझा जायगा । कथाकार यशपाल ने उक्त तथ्य की ओर

[1]हिन्दी-कहानियों की शिल्पविधि का विकास, पृ० २६२

संकेत करते हुए यह ठीक लिखा है कि "शब्द-चित्रों (sketches), गद्यकाव्यों.........को कहानी न मानने से उनकी रचना-कौशल या कलात्मकता से इन्कार नही किया जा सकता। यह कहानी की कला से प्रेरणा पाकर उत्पन्न हुई कला की नवविकसित स्वतन्त्र शाखा है। ऐसे ही साहित्य के विभिन्न माध्यमों द्वारा सामाजिक कर्त्तव्य निबाहने पर उन्हें कहानी ही कहते जाने की ज़िद्द अनावश्यक है...।" अतएव उक्त तथ्यानुरूप अपने लेखन के संबन्ध में स्पष्टीकरण करते हुए वे आगे लिखते हैं—"समय-समय पर विचारवस्तु के लिए उपयोगी माध्यम चुनने के विचार से मैंने स्वयं शब्दचित्रों और अनुभूति प्रधान निबन्धों आदि की शैली का उपयोग किया है और उन्हे प्रकाशन की सुविधा के लिए संग्रहों मे सम्मिलित भी कर लिया गया है। परन्तु ऐसी रचनाओं को कहानियाँ मान लिये जाने का आग्रह मै नहीं करता।"[1] यशपाल यदि रेखाचित्र को कहानी में अन्तर्भूत करने की ज़िद्द छोड़ने को कहते हैं तो डा. नगेन्द्र हिन्दी का अपना आलोचना-शास्त्र निर्मित करने की दृष्टि से उचित प्रश्न करते हैं—"...महादेवी के रेखाचित्रों को आप बलात् 'ऐसे'[2] की किस परिभाषा में बाँध सकेंगे ?"[3] उक्त मतों से, तथा कहानी-निबन्ध दोनों प्रकार की पुस्तकों में रेखाचित्र के विवेचन से एक बात स्पष्ट होती है कि रेखचित्र पृथक् साहित्यिक विधा है; कहानी और निबन्ध के मध्य की वस्तु है और किंचित् अनुकूल परिवर्तन-वर्द्धन से कहानी या निबन्ध का रूप धारण कर सकती है।

रेखाचित्र शब्द से स्पष्ट है कि यह चित्रकला का शब्द है। साहित्य चित्रकला से बराबर सहायता लेता रहा है। "साहित्य, विशेष रूप से

[1]"तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ ?" की भूमिका पृ० ७ : यशपाल

[2]विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने तद्विषयक आलोचनात्मक लेख को 'स्केच या रेखमात्र निबन्ध' का शीर्षक दिया में। द्रष्टव्य 'हिन्दी का सामयिक साहित्य', पृ० १३२।

[3]विचार और विश्लेषण—डा० नगेन्द्र, पृ० ८५

कविता, तर्क के बिना काम चला सकती है किन्तु अपने स्वभावानुकूल चित्र के बिना नही।"*अतएव प्रसाद कविता को 'वर्णमय चित्र'† लिखते हैं और पन्त भी कविता के लिए 'चित्रभाषा'‡ की आवश्यकता पर बल देते हैं। अवश्य ही कविता में 'बिम्बग्रहण'[1] आवश्यक है अतएव अनेक प्रकार की चित्रात्मकता के साथ 'रेखाचित्र' का भी सर्वप्रथम प्रयोग कविता में हुआ, तदुपरान्त इसका ग्रहण साहित्य के अन्य रूपों में हुआ। पंत जी ने 'ग्राम्या' की एक कविता का शीर्षक ही 'रेखा चित्र' दिया है। इसमें उन्होंने प्रकृति को रेखाकित किया है। यथा—

चाँदी की चौड़ी रेती,
फिर स्वर्णिम गंगा धारा,
जिसके निश्चल उर पर विजड़ित
रत्न छाय नभ सारा !
फिर बालू का नासा
लंबा ग्राह तुण्ड सा फैला,
छितरी जल रेखा—
कछार फिर गया दूर तक मैला !
जिस पर मछुओं की मँड़ई
औ, तरबूजों के ऊपर,

---

*Literature, poetry in particular, can dispense with logic, but it cannot, within its nature, dispense with the image." "Art Now" (1948 ed.) p: 112, Herbert Read

†"कवित्व वर्णमय चित्र है जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है।" —'स्कन्दगुप्त' में मातृगुप्त पृ० २१ (नवाँ संस्करण)

‡"कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है...... जो झंकार मे चित्र और चित्र में झंकार है।"—पल्लव की भूमिका।

[1]शुक्ल जी के अनुसार।

बीच बीच में, सरपत के मूँठे
खग से खोले पर![1]

वस्तुतः उक्त कविता में वर्णनात्मकता आ गई है। 'ग्राम्या' में और भी रेखाचित्र हैं चाहे उनका शीर्षक उक्त कविता के समान 'रेखा चित्र' नहीं। यथा, बूढ़े का चित्र अधिक व्यञ्जक है—

खड़ा द्वार पर लाठी टेके,
वह जीवन का बूढ़ा पंजर,
चिमटी उसकी सिकुड़ी चमड़ी
हिलते हड्डी के ढाँचे पर।
उभरी ढीली नसें जाल सी
सूखी ठटरी से हैं लिपटी,
पतझर में ठूँठे तरु से ज्यों
सूखी अमर बेल हो चिमटी।[2]

फिर भी रेखाचित्र गद्य में ही ठीक रूप से लिखे जा सकते हैं।

चित्रकला में चित्रकार चित्राभास से चित्रलेखन और चित्रलेखन से सांकेतिक तथा प्रतीकात्मक चित्रलिपि की ओर बढ़ा, जिसमें रेखा और वर्ण बोलते हैं और चित्रकार के मानस-पट पर बिम्बित अमूर्त भावों की सांकेतिक अभिव्यक्ति करते है। दूसरे शब्दों में, चित्रकला के रेखाचित्र प्रकार-विशेष का मूलाधार वे रेखायें होती है जो स्वतन्त्र न रहकर चित्रकार के अमूर्त भावों का संकेत देती है। चित्रकार थोड़ी सी रेखाओं से मानों चित्र की भूमिका-मात्र प्रस्तुत करने में ही विषय का पूर्णाभास दे देता है। यह ध्यान रहे कि रेखाचित्र में दो ही dimensions होती हैं। साहित्य में रेखाओं का उक्त कार्य शब्दों द्वारा हो सकता है इसलिए

---

[1] ग्राम्या—पृ० ७१ (चतुर्थ संस्करण)

[2] वह बुड्ढा, पृ० २६।

'रेखाचित्र' को 'शब्दचित्र' की संज्ञा प्राप्त है। रेखाचित्र तथा शब्दचित्र की समान प्रकृति का परिचय रेखाचित्रकार प्रकाशचन्द्र गुप्त इस प्रकार देते हैं—"अपने लिए उपयुक्त साहित्यिक माध्यम अनेक प्रयोग करने के बाद ही मैं खोज सका, और कुछ स्केच लिख चुकने के बाद उनके लिए रेखाचित्र शब्द मेरे मस्तिष्क में बार-बार प्रतिध्वनित होने लगा था। मैं शब्दों की रेखाओं से अपने अनुभव के चित्र उतारने का प्रयास कर रहा था, और निरन्तर सोचता था कि मैं इन रेखाओं को तूलिका या पेन्सिल से खींच सकता तो कितना अच्छा होता।"[1] अवश्य ही शब्दचित्र में शब्द-शिल्पी साहित्यकार वास्तविकता (व्यक्ति या वस्तु) के पहलू विशेष का अपने कुशल शब्द-विन्यास से इस रूप में चित्र प्रस्तुत करता है कि संपूर्ण अन्तर्बाह्य स्थिति व्यंजित हो जाती है। यदि परिभाषा का प्रयास करें तो कहा जा सकता है कि साहित्य का यह गद्यात्मक रूप जिसमें एकात्मक विषय-विशेष का शब्द-रेखाओं से संवेदनशील चित्र प्रस्तुत किया जाता है, रेखा-चित्र या शब्द चित्र है।

अब हम उक्त परिभाषा में आए तथ्यों का स्पष्टीकरण करेंगे।

'गद्यात्मक रूप'—हम यह स्पष्ट कर चुके है कि रेखाचित्र कविता में मिलता है किन्तु उसका पूर्ण वैभव गद्य में ही खिलता है। कवि को गद्यकार की सुविधा नहीं, अतएव कविता के रेखाचित्र में अपेक्षाकृत वर्णनात्मकता अधिक आ जाती है।

'एकात्मक'—यह शब्द ही रेखाचित्र को कहानी से पृथक करता है। "रेखाचित्र में दो डायमेन्शन होती हैं; एक लेखक और उसके एकात्मक विषय के बीच की संबंध-रेखा और दूसरी इस सम्बद्ध-रूप और पाठक के बीच की संयोजक रेखा। रेखाचित्र का विषय निश्चय ही एकात्मक होता है; उसमें एक व्यक्ति या एक वस्तु ही उद्दिष्ट रहती है। कहानी में एक

---

[1]'आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि' पृ० ११४। रामवृक्ष बेनीपुरी की 'गेहूँ और गुलाब' और 'माटी की मूरतें' पुस्तकों में शब्दचित्र के साथ-साथ चित्रकार इन्द्र दुग्गड़ ने रेखाचित्र भी निर्मित किये हैं।

डायमेन्शन और बढ़ जाती है, यह अतिरिक्त डायमेन्शन विषय के अन्तर्गत होती है; कहानी का विषय एकात्मक नहीं रह सकता, उसमें द्वैत भाव होना चाहिए अर्थात् एक व्यक्ति अपने में कहानी नही बन सकता। उसका अपने आप मे होना कहानी के लिए काफी नहीं है। कहानी में उसे दूसरे या दूसरों की सापेक्षता में कुछ करना होगा—प्रेम करना होगा, वैर करना होगा, सेवा करनी होगी, कुछ करना होगा; अपने में सिमट कर रह जाना काफी नहीं होगा। अपने से बाहर निकलना होगा। इस प्रकार कहानी का विषय एक बिन्दु न होकर दो या अनेक बिन्दुओं की संयोजक-रेखा होती है। यही एक अतिरिक्त डायमेन्शन है जो कहानी मे बढ़ जाती है।"[1] कहानी के द्वैतभाव का स्पष्टीकरण एक विद्वान के कहानी-सम्बन्धी इस कथन से भलीभाँति हो सकता है—"आदमी को कुत्ते ने काटा, यह घटना हुई, आदमी ने कुत्ते को काटा, यह कहानी बन गई; अथवा 'एक राजा था और उसकी एक रानी थी'—यह कोई कहानी नहीं बनी; किन्तु 'एक राजा था तथा उसकी दो रानियाँ थी; या एक रानी थी उसके दो राजा थे'—यह कहानी बन गई।" रेखाचित्र की पीठिका विषय के साथ ही नैसर्गिक रूप में होती है, पृथक् नहीं।

'विषय'—शब्दचित्र का लक्ष्य व्यक्ति भी हो सकता है, वस्तु भी; चेतन भी और जड़ भी। अतएव हमने मात्र विषय शब्द का प्रयोग किया है जिससे किसी निश्चित निर्धारित वस्तु का बोध नहीं होता।[2] इसमें व्यक्ति, प्राणी, प्रकृति आदि सब का चित्रण हो सकता है।

---

[1]'विचार और विश्लेषण'—डा० नगेन्द्र, पृ० ८५

[2]डा० भगीरथ मिश्र ने अपने 'काव्यशस्त्र' पृ० ६७ में 'विषय' के स्थान पर 'विलक्षण व्यक्तित्व' अथवा 'सामान्य विशेषताओं से मुक्त किसी प्रतिनिधि चरित्र' का प्रयोग किया है। अवश्य ही महादेवी के 'अतीत के चलचित्र' तथा 'स्मृति की रेखायें' पुस्तकों के आधार पर यही ठीक है किन्तु अनेक लेखकों तथा प्रकाशचन्द्र गुप्त के ऐतिहासिक भग्नावशेषों, खण्डहरों पर लिखे रेखाचित्र या बेनीपुरी के 'गेहूँ और गुलाब'

'विशेष'—विषय के साथ विशेष शब्द के दो अभिप्राय हैं—(१) विषय की अनुभूत वास्तविकता, (२)विषय की असाधारणता—संवेदना-स्फुरण में सक्षम विषय। रेखाचित्र का विषय प्रायः अनुभूत्यात्मक होता है, काल्पनिक नहीं। महादेवी के रेखाचित्रात्मक कृतियों के नामों—"स्मृति की रेखायें", 'अतीत के चलचित्र'—से, दूसरी कृति की भूमिका से, और इससे भी बढ़ कर उनकी सघन संवेदना से यह स्पष्ट होता है कि इन रेखाओं में चित्रकर्त्री ने उनको चित्रित किया है 'जो स्मृति पट से हटते ही नहीं'[१] या जो 'धूमिल चलचित्रों के उज्ज्वल आधार है;[२] जिनकी ममता सुन्दर, सरलता शिव और मनुष्यता सत्य रही है;[३] मानो जो धूलि के रत्न हैं और जिन्हें किसी पारखी ने पहचाना है। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने भी 'पुरानी स्मृतियाँ' पुस्तक में उन व्यक्तियों के चित्र बनाये है जिनके बीच उनका शैशव खेला है। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने'भूले हुए चेहरों' की याद को रेखाओं में बाँधा है।

'शब्द-रेखायें'—चित्रकला के 'रेखाचित्र' से समानता स्पष्ट करने के लिए हमने परिभाषा में 'शब्द-रेखाओं' का प्रयोग किया है। जैसे रेखा-चित्र में रेखाओं का आधार होता है, रंग आदि का नही—रेखाओं से ही बहुत कुछ व्यंजित हो जाता है उसी प्रकार 'शब्द-चित्र' में भी गिने-चुने शब्दों के विन्यास से बहुत कुछ संकेतित होता है; एक ऐसा सूचक चित्र प्रस्तुत हो जाता है कि 'माटी की मूरतें"[४] और 'प्रतिमाएँ"[५] मुखरित तथा

में लिखे 'पहली वर्षा' (प्रकृति-चित्रण) (पृ० १२१) आदि रेखाचित्र कोई विलक्षण व्यक्तित्वों को लेकर नहीं लिखे गये। अतएव 'विषय' शब्द ही ठीक रहेगा।

[१]"स्मृति की रेखायें" पृ० ३०

[२]द्रष्टव्य 'अतीत के चलचित्र' का समर्पण

[३]वही

[४]"माटी की मूरतें"—रामवृक्ष बेनीपुरी

[५]"बोलती प्रतिमा"—श्रीराम शर्मा

'रेखायें बोल उठती हैं।'†

'संवेदनशील'—चाहे वस्तु का चित्र हो या व्यक्ति का, उससे पाठक की संवेदनाओं की जागृति आवश्यक है। यही रेखाचित्र की प्रभावान्विति का प्रमाण हो सकता है। उक्त शब्द को परिभाषा में स्थान इसलिए भी दिया गया है कि सजीव शब्द-चित्र के लिए लेखक की गहरी आत्मीयता अपेक्षित है। चित्रांकन में तटस्थता अपेक्षित है फिर भी वैयक्तिक स्फूर्ति इसके लिए अनिवार्य है। महादेवी के रेखाचित्रों की मर्मस्पर्शिता जहाँ जगत् की 'मुर्झाई कलियों' तथा 'आँसू-लड़ियों' के कारण है वहाँ महादेवी की गीली पलकों, उनकी भावुक करुणा को भी नहीं भूला जा सकता। महत्त्व दोनों का है—महादेवी की करुणा ही तथाकथित क्षुद्रों की निहित महानता को अनावृत कर सकी है। इसी अर्थ में शब्दचित्र को वैयक्तिक कला कहा जा सकता है। वैसे रेखाचित्र कोई लेखक का अपना नहीं होता किसी और का ही होता है, इसलिए रेखाचित्र में सामान्यतः आत्मत्व तथा परत्व का अद्भुत सामंजस्य रहता है—वह अन्तर्बाह्य चित्र होता है।

अन्य मिलते-जुलते कलारूपों से अन्तर जान लेने पर रेखा-चित्र का स्वरूप और भी स्पष्ट हो सकेगा।

रेखाचित्र और कहानी

आज की चरित्र-प्रधान कहानी और रेखाचित्र बहुत निकट हैं। संक्षिप्तता, व्यंजना-प्रधानता की दृष्टि से भी उनमें समता है। "आज दिन कहानी की यह परिभाषा या व्याख्या स्वयं ही सर्वआत्म हो गई है कि किसी का ऐसा कारण सम्बद्ध वर्णन कहानी है जो भावोद्रेक कर सके।"[1]

---

† "रेखायें बाल उठी"—देवेन्द्र सत्यार्थी

[1]द्रष्टव्य—"तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ", पृ० ६—यशपाल।

फिर भी उनके मूल अन्तर का निर्देश हम कर चुके हैं कि किस प्रकार कहानी में रेखाचित्र से एक पहलू अधिक होता है। (२) दोनों कला-रूपों के नामों से भी यह अन्तर स्पष्ट है कि कहानी के लिए कहानी आवश्यक है—चरित्र प्रधान कहानी भी कहानी ही है। इस तत्त्व से नितान्त अछूती कहानी को कहानी कहना व्यर्थ है। रेखाचित्र का प्रमुख कार्य व्यक्ति या वस्तु का चित्र प्रस्तुत करना ही है। (३) इन दोनों विधाओं का अन्तर तब और भी स्पष्ट हो जाता है जब रेखाचित्र का विषय कोई वस्तु-विशेष होती है, व्यक्ति नहीं। (४) प्रसिद्ध विचारक लेसिंग ने ठीक संकेत किया है कि काव्य के गत्यात्मक स्वभाव तथा वस्तु-वर्णनों के स्थिर स्वरूप में तात्विक विरोध है। कहानी की गतिशील प्रवृत्ति तथा रेखाचित्र की स्थिर प्रकृति को उक्त आलोक में समझना आवश्यक है, (५) यहीं से यह व्यंजित होता है कि कहानी का सम्बन्ध देश-काल से , रेखाचित्र का मुख्यतः देश से। (६) कहानी अपेक्षाकृत कल्पना-प्रधान तथा रेखा-चित्र अधिक यथार्थ चित्रण है। (७) रेखा चित्र कहानी से कहीं अधिक वैयक्तिक कला है—उसका सम्बन्ध साक्षात अनुभवों से अधिक है। इस दृष्टि से वह कहानी की अपेक्षा 'संस्मरण' के अधिक निकट है। (८) इसलिए कहानी-कथन की अनेक विधियों में से रेखाचित्रकार ने आत्म-वृत्तात्मक विधि को विशेष रूप से अपनाया है। रेखाचित्रकार स्वयं एक पात्र के रूप में अपने अनुभवों को अधिक सुविधा से मूर्त कर सकता है। महादेवी के रेखाचित्र इसका सजग प्रमाण है।[1]

---

[1]आत्मतत्त्व के सन्निवेश से रेखाचित्रकार यथार्थता-वास्तविकता का जो आभास देना चाहता है, और इस दृष्टि से कहानी से जो उसका अन्तर हो जाता है, वह महादेवी के निम्नस्थ कथन से स्पष्ट हो जायेगा—

"इन स्मृति चित्रों में मेरा जीवन भी आ गया है। यह स्वाभाविक भी था।......मेरे जीवन की परिधि के भीतर खड़े होकर चरित्र जैसा परिचय दे पाते हैं, वह बाहर रूपान्तरित हो जायेगा। फिर जिस

रेखाचित्र और संस्मरण

अपनी साक्षात् सम्पर्क जन्य अनुभूति के बल पर, अपनी उज्ज्वल स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए जो रेखाचित्र लिखे गये हैं, वे संस्मरणों के अत्यधिक निकट है। महादेवी के संस्मरणों ने ही रेखाचित्रों का रूप धारण किया है।[1] बेनीपुरी की 'माटी की मूरतों' की भी यही अवस्था है।[2] इस रूप में रेखाचित्र संस्मृत व्यक्तियों का ही कलात्मक रूप हो जाता है। संस्मरणों का आधार लेकर ही रेखाचित्रों में आत्म-कथा का अंश आ जाता है क्योंकि संस्मरण आत्मकथा के उल्लेखनीय क्षणों का लेखा होता है। पर इसी से रेखाचित्र से इसका अन्तर भी स्पष्ट होता है—संस्मरण प्रसिद्ध व्यक्ति ही लिखते हैं किन्तु रेखाचित्रकार के लिये यह आवश्यक नहीं है। (२) संस्मरणों में देशकाल का वर्णन रेखाचित्र से अधिक होता है। यात्रा सम्बन्धी संस्मरणों से यह विशेषता अधिक पायी जाती है। (३) यह आवश्यक नहीं कि संस्मरण का लेखक रेखाचित्रात्मक शैली को अपनाये। (४) संस्मरण रेखाचित्र से अधिक आत्मनिष्ठ प्रकार है।

रेखाचित्र और रिपोर्ताज

फ्रांसीसी के शब्द 'रिपोर्ताज' तथा अंग्रेजी 'रिपोर्ट' शब्द में घनिष्ठ सम्बन्ध है। पत्रकार-कला से भी इसका गहरा सम्बन्ध है। समाचार पत्र

परिचय के लिये कहानीकार अपने कल्पित पात्रों को वास्तविकता से सजाकर निकट लाता है उसी परिचय के लिये मैं अपने पथ के साथियों को कल्पना का परिधान पहनाकर दूरी की सृष्टि क्यों करती !"

—'अतीत के चलचित्र' की भूमिका, पृष्ठ २

[1]द्रष्टव्य—'अतीत के चलचित्र' की भूमिका

[2]"हजारी बाग सेन्ट्रल जेल के एकान्त जीवन में अचानक मेरे गाँव और मेरी ननिहाल के कुछ ऐसे लोगों की सूरतें मेरी आँखों के सामने आकर नाचने और मेरी कलम से चित्रण की याचना करने लगीं"—माटी की मूरतों की व्याख्या में लिखी भूमिका, 'ये माटी की मूरतें'

की जिस घटना को, सत्य की रक्षा करते हुए कलात्मक रूप में—संवेदना-नुभूति की शक्ति के साथ—प्रस्तुत किया जाता है, वह रिपोर्ताज नामक साहित्यिक विधा की कोटि में आ जाती है। रिपोर्ताज और रेखाचित्र में कथनीयांश की यथार्थता की विश्वसनीयता के साथ सीमित विस्तार से विषय को चित्रित करने की समानता है। संवेदनानुभूति भी दोनों के लिए आवश्यक है। मुख्य अन्तर एक के घटना-प्रधान और दूसरे के चरित्र-प्रधान होने में है। दूसरे, रिपोर्ताज में परिवेष्टन-परिस्थितियों का चित्रण आवश्यक है और रेखाचित्रकार को विषय के भीतर से ही नैसर्गिक पीठिका उपलब्ध हो जाती है। तीसरे, सूचनिका में रेखाचित्र की अपेक्षा अधिक सामयिकता है क्योंकि इसका सम्बन्ध पत्रकार-कला से है।

रेखाचित्र और गद्यकाव्य

वैयक्तिकता के कारण अपनी संवेदनाओं के प्रवाह में रेखाचित्रकार की शैली में गद्यकाव्य का-सा प्रवाह भी आ जाता है। फिर भी गद्य काव्य रेखाचित्र से कहीं अधिक आत्मनिष्ठ साहित्य-प्रकार है। गद्य काव्य की गम्भीर प्रकृति रेखाचित्रकार के हास्य-व्यंग्य को भी नहीं सम्भाल सकती।

अपनी भावात्मक-विचारात्मक प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करने से रेखाचित्रों में निबन्ध के तत्त्व भी आ जाते हैं।*

साहित्य के अन्य प्रकारों से अन्तर जान लेने के पश्चात् अब हम रेखाचित्रों के विधायक तत्त्वों को गिना सकते हैं। ये चार है—१. पात्र

---

*महादेवी के रेखाचित्रों में ऐसा बहुत हुआ है, यथा ठकुरी बाबा के चित्र में लेखिका से कवि, ग्रामीण समाज तथा आधुनिक कवि-सम्मेलनों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। दृष्टव्य—"स्मृति की रेखायें", पृ० ६४—६५। वे निबन्धकार के समान विषयान्तर करके, उद्दिष्ट विषय से कुछ दूर जाकर, कभी अपनी, कभी भक्तिन की, और कभी सामीजक-साँस्कृतिक वस्तुस्थिति की चर्चा कर लेती है।

या वस्तु, २. पृष्ठाधार, ३. शैली, ४. उद्देश्य। इन सभी का कुछ परिचय हम परिभाषा को स्पष्ट करते हुए दे आये हैं।

१. पात्र या वस्तु—यह रेखाचित्र का मुख्य तत्त्व है। यही वह तत्त्व है जिसकी झाँकी शब्दचित्रकार को देनी होती है। उसे विषय के उस कोण विशेष को प्रस्तुत करना होता है जो सम्पूर्ण वास्तविकता को व्यंजित कर दे—जैसे यदि व्यक्ति है तो उसकी बाह्य आकृति से लेकर आचार-व्यवहार सब का संकेत मिल जायेगा। अपने आप में पूर्णता का आभास चित्र में अवश्य मिलना चाहिए।

२. पृष्ठाधार—चित्रांकन के लिए पट चाहिए। वैसे ही शब्दचित्रकार का वर्ण्य भी किसी स्थान विशेष पर आधारित होता है। वस्तु या पात्र की गोचरता के लिए ही इसकी सार्थकता है। इससे अधिक की शब्द-चित्र में गुंजाइश नहीं। वस्तुतः विषय अपने अस्तित्व के लिए एक नैसर्गिक पीठिका लिये होता है, शब्दचित्रकार का आधार वही है। मुख्यतः इसका सम्बन्ध देश से है, काल से नही। संगति के लिए काल व्यंग्य ही रहता है।

३. शैली—शब्द चित्रकार का यह दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्व है। इस पर असामान्य अधिकार के अभाव में शब्द-चित्रकार की सफलता संभव नहीं, क्योंकि सामान्य रूप से कुछ लिखने की बात यहाँ नहीं। लेखक को सीमित परिधि में शब्दों से रेखाओं का काम लेकर कोण को सम्पूर्ण बनाना होता है, जो विशेष लाघव—संक्षिप्तता-स्फूर्ति—का काम है। शब्दचित्रकार की सफलता इसमें है कि वह विषयानुरूप शैली का प्रयोग करके कहाँ तक उद्दिष्ट को सजीव रूप में प्रस्तुत कर सकता है। रामवृक्ष बेनीपुरी की अपनी पुस्तक 'गेहूँ और गुलाब' की प्रस्तावना में कहे निम्नस्थ शब्दों में रेखाचित्र-कला का सार आ गया है—"ये शब्द-चित्र, पिछले शब्द-चित्रों से भिन्न हैं—छोटे, चलते, जीवन्त! मैंने कहा—हैंड कैमरा के स्नैपशॉट; आलोचक ने उस दिन डाँटा—हाथी दाँत पर की तसवीरें!" लघुता, पैनापन तथा मार्मिकता शब्द-चित्र-शैली के लिए

आवश्यक हैं। शब्द-चित्र में शब्द-विन्यास तथा वाक्य-विन्यास की विशिष्टता होती है। एक शब्द का ऐक वाक्य, तथा अपने में चित्र हो सकता है। एक पंक्ति का ही प्रघटक हो सकता है। पूर्ण वाक्य के स्थान पर वाक्य-खण्ड से ही काम चला लिया जाता है और 'हैं' 'था' आदि सहकारी क्रियाओं की बेजा मुदाखलत भी बरदाश्त नहीं की जाती। इन्हीं साधनों से तो शब्द रेखायें बनाते हैं।[1] चित्र की प्रकृति के अनुरूप ग्रामीण शब्दों-मुहावरों का आश्रय भी लिया जाता है—रेखाचित्रकार की तूलिका में स्थानिक रंग भरा जाना आवश्यक है।[2] स्थान-स्थान पर पात्रानुकूल चरित्र-व्यंजक वार्तालाप भी रेखाचित्रों में मिलता है। इनकी भाषा पात्रानुकूल होती है।[3] चुभते-चित्रोपम विशेषण, साम्यमूलक अलंकार,[4] लक्षणा-व्यंजना आदि कवित्वपूर्ण प्रसाधनों से चित्र को सजीव

---

१. बेनीपुरी के छोटे-छोटे वाक्य, सहकारी क्रियाओं के बिना कैसे कार्य करते है, देखिये—"सिर के मुंडे हुए छोटे-छोटे बालों के रंग से चहरे का रंग प्रतियोगिता करता हुआ। बालों ने चारों ओर से जिस पर मुदालखत-बेजा कर रखी है, वह छोटा-सा ललाट, चिपटा-सा! ललाट की कालिमा में पतली भौंओं की रेखा खोई-खोई-सी। छोटी-छोटी आँखें—जिनका पीला रंग राजेन्द्र बाबू की आँखों की याद दिलाता है।" —'गेहूँ और गुलाब' का 'नथुनिया' चित्र पृ० २८।

२. बेनीपुरी ने 'माटी की मूरतें' पुस्तक में ग्राम्य जीवन के स्केचों में ग्रामीण शब्दों का विशेष प्रयोग किया है। कोमलकान्त-पदावली लिखने वाली महादेवी ने भी रेखाचित्रों में उनका स्वाभाविक-संगत आश्रय लिया है।

३. महादेवी की भक्तिन की भाषा देखिए—"हम मर जाब तौ इनकर का होई, कउन बनाई खियाई। कउन इनकर ई अजाबघर देखी-सुनी"—स्मृति की रेखाएँ, पृ० ७२।

४. महादेवी की कविता तथा गद्य की उपमाओं में बड़ा अन्तर आ गया है। सामयिक युग के पात्रों के लिए उपमाएँ भी दैनन्दिन के जीवन

किया जाता है। यथार्थता के लिए ध्वन्यात्मक शब्दों से ध्वनि-चित्र[1] और रंगों का उल्लेख कर वर्ण-चित्र अंकित किए जाते हैं। मिलते-जुलते शब्दों से प्रभाव-वर्द्धन किया जाता है।[2] एक ही वाक्य को एक छोटे से चित्र में अनेक बार दुहरा कर स्थिति के प्रभाव को मानस-खण्ड पर मुद्रित करने का संकल्प होता है।[3] रेखाचित्र में विराम-चिन्ह मात्र स्पष्टीकरण के लिये नहीं आते, वे भी बोलने लगते है।[4] हास्य-व्यंग्य शैली को मनोरंजक तथा तीखा बनाते हैं।[5]

से ली गई है। यथा—" मेरी किसी पुस्तक के प्रकाशित होने पर उसके मुख पर प्रसन्नता की आभा वैसे ही उद्भासित हो उठती है। जैसे स्विच दबाने से बल्ब में छिपा आलोक"—वही पृ० १५।

समान आकृति वाले व्यक्तियों को महादेवी 'कार्बन की कापियाँ' कहती हैं। (२१)

[1]"हड़ हड़ करती मोटर' गण्डक के किश्तीनुमा पुल को पार कर रही थी। (८८)

मोटर सर-सर सर-सर भागी जा रही थी। (८९)

ललन भी बोल रहे हैं—बा–बा...बा–बा...बा–आ–आ..."(१०६)

ललन भी रोने लगे—आँ–आँ...बा–बा–बा...म...मा..."(१०७)

—'गेहूँ और गुलाब'

[2]अगल-बगल के अनेक स्वरों को यों ही कुचलती, दबाती, दबोचती।

[3]'डोमखाना' एक लघुचित्र में, 'बाप रे, मरे रे' वाक्य को चार बार दुहराया गया है—वही, ८५—८७।

[4]बेनीपुरी ने अपने चित्रों में इनसे विशेष सहायता ली है। इनका मत है—"बोलने के समय जो काम हम चेहरे की भाव-भंगिमा से लेते हैं, लिखने के समय वे ही काम हमें विराम चिह्नों से लेना है।—देखिए 'हवा पर' पुस्तक में 'मैं कैसे लिखता हूँ' लेख, पृ० ८।

[5]महादेवी का एक मार्मिक व्यंग्य लीजिए, आप दाद दिए बिना नहीं

उद्देश्य—सोद्देश्यता से कला मूल्यवान बनती है। हृदय-परिष्कार द्वारा मानवता के कल्याण-निर्माण में अग्रसर करना, सभी प्रकार की कलाओं से अपेक्षित है। सोद्देश्यता का कला तथा आनन्दानुभूति से किसी प्रकार का विरोध नही। महादेवी की ये सारगर्भित पंक्तियाँ किसी भी कला का आदर्श हो सकती हैं—"कला के पारस का स्पर्श पा लेने वाले का कलाकार के अतिरिक्त कोई नाम नही, साधक के अतिरिक्त कोई वर्ग नहीं, सत्य के अतिरिक्त कोई पूँजी नही, भाव सौन्दर्य के अतिरिक्त कोई व्यापार नहीं और कल्याण के अतिरिक्त कोई लाभ नही।" अवश्य ही चित्रण की कुशलता कला का आदर्श है, जीवनोन्नायक तत्त्वों का उद्बोधन चित्रण का आदर्श—रेखाचित्र-कला की सार्थकता इसी में है। शब्द-चित्र-चित्रण में ऐसा प्रभाव अपेक्षित है कि पाठक के भाव-विचार जागृत हुए बिना न रह सकें। यह प्रभावक उद्देश्य चित्र के भीतर से ही आए, बाह्यारोपित न हो—चित्रण की प्रत्यक्ष वास्तविकता के ही अभीप्सित आदर्श का बोध हो जाए। बेनीपुरी की 'माटी की मूरतें' में ग्राम्य जीवन के यथार्थ चित्र हैं। यथातथ्य चित्रण होते हुए भी लेखक का अभीष्ट स्कैच के अन्त पर ध्वनित हो उठता है और पाठक का विचारोद्बोधन हुए बिना नही रहता।

रह सकते—'जैसे तिथि-पर्वो में कथावाचक के कथा कह चुकने पर श्रोता हाथ में रखे हुए अक्षत-फूल फेंक देता है वैसे ही वे, धर्म खरीदने के लिए लाए हुए सस्ते अन्न से कभी एक मुट्ठी चावल, कभी चने, कभी जौ, बूढ़े के सामने बिछे हुए अँगोछे पर बिखेर कर राह नापते हैं। कोई साहसी पाई डाल जाता है, कोई जल्दबाज धोखे में पैसा फैंक कर चल देता है। इन सब की भाग-दौड़ देख कर लगता है कि इन्हें ठीक संगम मे, अतल गहराई की सीमा रेखा पर, अनेक डुबकियाँ लगाने पर भी पाप के डूब जाने का विश्वास नहीं।...बीच-बीच में यह दान-लीला भी मानो उसी अजर-अमर और निरंतर संगी को दूसरी ओर बहका देने का प्रयास मात्र है। यह बहकाना भी लग जाय तो तीर नहीं तो तुक्का तो है ही'—स्मृति की रेखाएं, पृ० ५१—५२।

इस दृष्टि से उक्त लेखक का 'नथुनिया'[1] आदर्श स्केच हैं जहाँ आदर्श, मात्र व्यंजित होता है—लेखक अपनी ओर से तनिक नहीं कहता; उसकी सारी संवेदना शब्दों को सजीव करती और रेखाओं से ही मुखरित हो उठती है।

संवेदनानुभूति बढ़ाने में महादेवी के रेखाचित्र सर्वाधिक सफल कहे जा सकते हैं। जिस उदास-उन्मन लघुता ने उनके संवेदन को दिशा तथा भावना को गति दी उसी के कुशल चित्रण से वे पाठकों को भी प्रभावित करने में समर्थ हुई हैं। अवश्य ही महादेवी (तथा अन्य लेखकों) ने यत्र-तत्र विषयांतर करके भी, अपनी प्रतिक्रियाओं को, दृष्टिकोण को व्यक्त किया है—और ऐसा करने से रेखाचित्रकार मानो निबन्ध-तत्त्व का उपयोग करता है—फिर भी पाठक को मूल संवेदनानुभूति पात्रों के कुशल-करुण चित्रण द्वारा ही होती है। संस्मरणात्मक रेखाचित्रों में आत्मतत्त्व के सहज सन्निवेश के कारण प्रसंगानुसार व्यक्त हुई लेखक की मानसिक-हार्दिक प्रतिक्रियाएँ अनाधिकार चेष्टा नही लगतीं।

मानवेतर रेखाचित्र भी किसी न किसी सत्प्रेरणा को लेकर ही लिखे जाते हैं—मानवेतर होते हुए भी वे मानव-हिताय होते हैं।[2]

यह उल्लेखनीय है कि रेखाचित्र के उद्‌देश्य की प्रभविष्णुता लेखक से गहरी संवेदन की माँग करती है। गहन संवेदना के अभाव में स्तुत्य उद्‌देश्य भी चित्रों में ही सिमट कर रह जाता है। रेखाओं का पैनापन, कला का कलन भी इस कमी को पूरा नहीं कर सकता।

---

[1]'गेहूँ और गुलाब', पृ० २८—२९।

[2]इसी तथ्य को व्यक्त करने वाला प्रकाशचन्द्र गुप्त का कथन पठनीय है—"मेरे पहले संग्रह 'रेखाचित्र' की देहली रेडियो पर आलोचना करते हुए 'अज्ञेय' जी ने कहा था कि मैंने मानवता का चित्रण न करके खँडहरों का चित्रण किया था। यह सच था, लेकिन मानवता से प्रेरणा पाकर ही मैंने अपने विचार और भाव ऐतिहासिक भग्नावशेषों पर आरोपित किए थे।"—आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि, पृ० ११६।

रेखाचित्र के वर्गीकरण के दो आधार हो सकते हैं—

१. वर्ण्य विषय　　　　२. शैली

वर्ण्य विषय की दृष्टि से इसके दो प्रकार हो सकते है—१. मानव सम्बन्धी २. मानवेतर।

शैली की दृष्टि से इसके मुख्यतः दो प्रकार हो सकते हैं—१. शुद्ध रेखाचित्र २. मिश्र रेखाचित्र।

शुद्ध रेखाचित्र में साहित्य की अन्य विधाओं की सहायता नहीं ली जाती। मिश्र रेखाचित्र में कहानी, निबन्ध, संस्मरण आदि के तत्त्वों से सहायता ली जाती है। पहले का उदाहरण बेनीपुरी का 'नथुनिया' स्केच ही हो सकता है और दूसरे के उदाहरण महादेवी के रेखाचित्र है।

शुद्ध रेखाचित्रों में भी अनेक कलाप्रवृत्तियों का विकास हो चुका है और उनको ये नाम दिए गए हैं (या दिए जा सकते है)—संवेदना-चित्र, व्यंग्य-चित्र, अध्ययन चित्र, छवि आदि। इन अनेक शैलीगत प्रकारों का आधार यही है कि रेखाचित्रकार किस सीमा तक विषय की अनुकृति करता है, भीतर को कितना अभिव्यक्त कर सका है और किस सीमा तथा किस कोटि की आत्माभिव्यक्ति भी कर सका है। शुद्ध रेखाचित्र से 'प्रकाश छाया' में एक डायमेनशन बढ़ जाती है।

मिश्र रेखाचित्र कहानी-प्रधान, निबन्ध-प्रधान, संस्मरण-प्रधान आदि हो सकते हैं।

मीराँ का गीतिकाव्य

किसी उर्दू-कवि ने लिखा है—

सुना है संग दिल की आँख से आँसू नहीं बहते
अगर सच है तो पत्थर से ये चश्मे क्यों निकलते है

—यही समगुणता मेवाड़ के मरुप्रदेश में मीराँ के मार्मिक गीतो की मंदाकिनी में मिलती है।

पुरुष की परुषता को गीत की स्त्रैण प्रकृति के लिए कोमल होना पड़ता है—'नारी-नागिन एक स्वभाव' मानने वाले कबीर को भी 'बहुरिया' बनना पड़ा और सूर को अपनी विरह व्यक्त करने के लिए गोपी। इस माधुर्य-भाव के निर्वाह में पुरुष कवि का प्रतिभा-प्रयास या कवि-कौशल हो सकता है। न्यूमैन ने कहा था—If you want to go into the higher spiritual blessedness you must become a woman however manly you may be among men. अतएव कबीर-सूर को माधुर्य-भाव प्राप्त करना पड़ा, यह अर्जित है, किन्तु मीराँ नारी थी, उसे यह सहज प्राप्त था, यह नैसर्गिक है। नारी को भावातिरेक भी सहज प्राप्त होता है। गीति-कोमल प्रतिभा नारी का स्वभाव है और कबीर-सूर के माधुर्य-भाव सम्बन्धी गीतों में मीराँ की गीतों की श्रेष्ठता इसकी सजग प्रमाण।

मीराँ की नैसर्गिक कोमलता को उसके जीवन की कटु घटनाओं ने और भी करुण-कोमल बना दिया। गीति-काव्य में आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति अनिवार्य है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि इसमें आत्मचरित मूलक तत्त्व भी हों। फिर भी मीराँ की पदावली में आत्मानुभूति ही नहीं, आत्मचरितमूलक तत्त्व भी हैं जो उनकी घनीभूत वेदना के लिए स्पष्ट उत्तरदायी

दिखाई देते हैं। वैसे तो रचयिता का स्वभाव-संस्कार तथा जीवन-घटनाएँ उसकी किसी भी रचना को समझने में सहायक हो सकती हैं, किन्तु गीति-काव्य—उसमें भी विशेष रूप से आत्मचरितमूलक गीतिकाव्य—के लिए जीवन की जानकारी अपेक्षाकृत और भी आवश्यक हो जाती है। अतएव मीराँ के गीतिकाव्य को समझने के लिए उसकी वैयक्तिक तथा प्रभावक बाह्य परिस्थिति-पार्श्व से परिचित होना आवश्यक हो जाता है।

मीराँ में कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम का सांस्कारिक स्वभाव मिलता है। उन्होंने कृष्ण के प्रति अपनी 'प्रीत पुराणी' (२०) या 'पूर्व जनम की प्रीत पुराणी' (५१) का उल्लेख किया है तथा अपने आप को 'जनम जनम के नाथ' गिरधर नागर की (१७६) 'जनम जनम की चेली' (८०) समझा है। उन्होंने कृष्ण से अपनी 'बालापनां की प्रीत' (१००) का उल्लेख भी किया है—ऐसा प्रसिद्ध है कि बचपन में ही उन्हें कृष्ण का इष्ट हो गया था, इस सम्बन्ध में एक घटना भी प्रसिद्ध है। घरेलू वैष्णव संस्कार भी इसके लिए उत्तरदायी हैं।[1] गीतकार के लिए ऐसे संस्कार बड़े सहायक सिद्ध होते है क्योंकि बड़े होने पर बुद्धि के तर्क-क्रम से जो ज्ञानोपलब्धि हो सकती है वह गीतिकाव्य के उपयुक्त नहीं। आत्मा अनायास ही जिस सत्य को हृदयङ्गम कर लेती है उसकी अभिव्यक्ति गीतिकाव्य के अधिक उपयुक्त है।

शैशवावस्था के इस सहज वैराग्य या अनायास आत्मानुभूत ज्ञान को व्यक्तिगत साधना तथा पारिस्थितिक वैराग्य—स्वजन-वियोग-जन्य विरक्ति—ने पुष्टि किया। अल्पावस्था में ही मीराँ को अपनी माता से वियुक्त होना पड़ा। तदनन्तर पितामह, पति, पिता, श्वसुर एवं चचा की भी मृत्यु हो गई। पति कुँवर भोजराज की जीवितावस्था में भी मीराँ का पूजन-अर्चन पूरा चलता था, किन्तु उनके देहान्त के पश्चात् तो मानों सभी प्रकार के लौकिक बन्धनों को सदैव के लिए तिलांजलि मिल गई। प्राचीन काल में भारतीय विधवा और वैराग्य का सहज सम्बन्ध होता

[1]देखिए—मीराँ बाई की पदावली; पृ० २२०; २३१; परशुराम चतुर्वेदी

था और मीराँ जैसी नारी में तो पहले ही वैराग्य की भूमिका पुष्ट थी। दूसरे, यह युवावस्था का वैधव्य था, जिसमें अनुरक्ति या विरक्ति दोनों में हृदय पक्ष या आवेश अधिक हो सकता है। अतएव मीराँ की संसार के प्रति विरक्ति तथा कृष्ण के प्रति अनुरक्ति भी आवेश-प्रधान थी जो गीति-काव्य की हार्द के अधिक उपयुक्त है।

राजस्थान की गृह-कला का भी मीराँ पर विरक्तिपरक प्रभाव पड़ा होगा। इसके अतिरिक्त मीराँ जब प्रेम के आवेश में कुल-मर्यादा आदि का ध्यान न रख कर मन्दिरों में नाचने† तथा साधु-सन्तो की संगति करने लगीं, फलतः यशस्वी होने के कारण दर्शनाभिलाषियों का आगमन बढ़ने लगा तो राज्य की ओर से उन पर नाना प्रकार के अत्याचार होने लगे। स्वयं मीराँ के पदों* तथा यशस्वी होने के कारण उन पर नाभादास, ध्रुवदास, प्रियदास आदि की लिखी पंक्तियों‡ में दंड एवं अत्याचारों का उल्लेख हुआ है। इन मुसीबतों ने मीराँ के भक्ति-स्वर्ण के लिए निकष का काम किया। राजपूत नारी की निर्भीकता-निश्छलता प्रसिद्ध है। मीराँ भी इस प्रतिकूलता में अपने आराध्य कृष्ण के प्रति और भी तीव्रता तथा शक्ति से तन्मय हो उठीं—उनकी आवेशमयी भक्ति पवित्र पागलपन तक पहुँच गई। गीतिकाव्य के लिए जिस रागात्मक वृत्ति से सम्बन्धित सुख-दुःख की 'भावावेशमयी अवस्था'[१] या 'तीव्र सुखदःखात्मक अनुभूति'[२] तथा निर्द्वन्द्व मनःस्थिति की अपेक्षा होती है वह मीरा के

---

†देखिए पद १७, १९, २१ आदि　*देखिए पद ३७, ३८, ३९, ४०, ४१ आदि

‡देखिए 'मीराबाई की पदावली' पृ० २३५-२३९

[१]"सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का, गिने चुने शब्दों में स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है"—महादेवी
('महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' पृ० १४१)

[२]उपरोक्त परिभाषा के अतिरिक्त महादेवी की मिलती-जुलती परिभाषा है—"साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।" (वही पृ० १४७)

पास थी। यहीं आकर आत्माभिव्यक्ति सृजन की अनिवार्य आवश्यकता हो उठती है और रुदन अनायास गान का रूप धारण कर लेता है।

महादेवी ने गीतिकार के लिए भावातिरेक के साथ संयम को भी आवश्यक बताया है क्योंकि भाव की अतिशयता में कला की सीमा का अतिक्रमण हो सकता है। अतएव "गीत के कवि को आर्त्तक्रन्दन के पीछे छिपे हुए भावातिरेक को, दीर्घ निःश्वास में छिपे हुए संयम से बाँधना होगा तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा।"[1] इस दृष्टि से विचार करने पर मीराँ के "बाह्य राजरानीपन और आन्तरिक साधना में संयम के लिए पर्याप्त अवकाश था।"[2]

मीराँ का जीवनादर्श ही उनका काव्यादर्श था। ऐसा दिखाई देता है कि जीवनादर्श भी उन्हें निर्धारित नहीं करना पड़ा, वह स्वतः स्फूर्त हुआ है। गीतिकाव्य में जिस आत्मनिष्ठा की अपेक्षा होती है, मीरा का जीवनादर्श उसी का आदर्श है। मीरा का जीवनादर्श स्वकेन्द्रित था और ऐसा होने से उन्हें अपने से बाहर किसी इतर उद्देश्य—समाज-रुचि, लोक-मर्यादा, आदि—की कामना नहीं थी; आत्म-तोष के अतिरिक्त किसी लाभांतर की स्पृहा नहीं थी। न उन्हें भक्तिकाल के अन्य प्रसिद्ध भक्त कवियों के समान प्रचार करना था, न ज्ञान-भक्ति या निर्गुण-सगुण के दार्शनिक पचड़े सुलझाने थे; न किसी सम्प्रदाय के आचारों के अनुसार लिखना था; न समाजोपयोगी शील-निरूपण के आदर्श खड़े करने थे; न ही पाखंडियों का शोध-विरोध करना था और न ही भक्त के साथ कवि बनने या जगत में अपने 'चीन्हे' जाने की आकांक्षाएँ प्रकट करनी थीं। रोते-गाते उन्होंने जो गाया—

'म्हारा री गिरधर गोपाल दूसरा ना कूयां' (पद १८)

या 'मेरे तो एक राम नाम दूसरो न कोई' (पृ० २४१)

---

[1] 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' पृ०, १४२

[2] वही पृ० १४२

तो यही उनका आदर्श हो गया। निस्सन्देह दूसरा उनका कोई नहीं, कृष्ण के अतिरिक्त उनको किसी से कुछ लेना-देना नही, वह एक उन्हीं की चाकरी कर सकती हैं, 'नित उठ दरसण' पाने के लिए। किसी स्थूल पघार की उन्हे वाँछा नहीं—सुमरिण की खरची तथा भाव भगत की जागीरी उन्हें पर्याप्त है। वह 'घणों' अधीर 'हिवडो'(हिय)से, 'जनम जनम' से साँवरिया के दर्शनों के लिए 'तरस' रही है (१५४), 'दरद दिवानी' बनी हुई हैं। वे कृष्ण के लिए सब कुछ कर सकती हैं—उसके अपने शब्दों में उसकी लगन में 'होणी हो सो होई' की निडरता-दृढ़ता है। (२४१) नाभादास ने ठीक ही कहा था—

> भक्ति निसान बजाय के, काहूते नाहिन लजी
> लोक लाज कुल शृंखला, तजि मीरां गिरधर भजी (२३५)

लक्ष्य के प्रति ऐसी अनन्य जागरूकता, ऐसी तन्मय साधना अन्यत्र दुर्लभ है। मीरा के जीवन, और उनके काव्य मे भी, एक ही भाव, एक ही रस, और एक ही प्रणाली है। यह दीवानी एकनिष्ठता—व्याकुल भावावेशमयी अदम्य अनन्यता—गीतिकाव्य के लिए वरदान है। सारतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, उनके जीवन तथा काव्य का अध्ययन भी उनको गीतिकाव्य की आत्मनिष्ठ-एकनिष्ठ हार्द के अनुकूल सिद्ध करना है।

मीराँ की गीतिकाव्योपयुक्त अनुभूति संगीतानुमोदित भी है। तत्कालीन भक्ति आंदोलन तथा भजन-कीर्तन का सहज संबन्ध रहा है। उनके समसामयिक पुष्टिमार्गियों का तो यह विशेष अंग रहा है। परशुराम चतुर्वेदी ने निर्गुणिये संतों में भी संगीत के विशेष प्रसार को सिद्ध किया है। कबीर साहित्य में कबीर के संगीत-प्रेम-सूचक अनेक प्रसंग एवं प्रयोग पाकर वे सोचते हैं या तो उन्हें शिक्षा मिली होगी अथवा ऐसा उनके युग के वातावरण के ही कारण सम्भव हुआ होगा। इसके अतिरिक्त वे लिखते हैं—"भारतीय संगीत-शास्त्र के अनुसार संगीत-कला का घनिष्ठ सम्बन्ध योग-साधना के साथ माना गया है।" ('कबीर साहित्य की परख' ३००)

मीराँ को भी बचपन से ही भक्ति के साथ संगीत में भी रुचि दिखाई देती है। उनके अनेक पदों से मन्दिर के कीर्तनात्मक वातावरण का आभास मिलता है।[1] उन्होंने भावोन्माद में अपने नाचने का उल्लेख भी अनेक पदों में किया है।[2] इसके साथ ही संगीत के वाद्य,[3] स्प्त स्वर, लयों के भिन्न-भिन्न विस्तारों द्वारा उत्पन्न 'ताननि' की[4] धमार राग[5] आदि का भी उल्लेख हुआ है, जिनसे उनका संगीत-प्रेम सूचित होता है। मीराँ ने अनेक स्थलों पर गोविन्द के गुणों को गाकर अपनी भक्ति का परिचय दिया है।†

---

[1]कीर्तन में ताली बजाने का उल्लेख बहुत हुआ है। देखिए पद ६, ३७, ७७, १७५ आदि। पद ३१ में मन्दिर का वातावरण देखिए—

माई म्हाँ गोविंद, गुण गास्याँ ॥
चरणाम्रित रो नाम सकारे, नित उठ दरसण जास्याँ।
हरि मन्दिर माँ निरत करावाँ घूँघरया धमकास्याँ।

[2]'साज-सिंगार बाँध पग घूँघर, लोकलाज तज नाची' (१६)
'पग बाँध घुँघरयाँ णाच्यारी' (३६)
'म्हां गिरधर आगाँ णाच्यारी' (१७)
'णाच्याँ गाँवा ताल बजावाँ, पावाँ अणद हासी' (६)
'ज्याँ-ज्याँ चरण धरयाँ धरणीधर, त्याँ-त्याँ निरत कराँरी' (२१)

[3]'ताल पखावज मिरदंग बाजा, साधाँ आगे णाच्याँ' (३७)
'बाज्याँ झाँझ मृदंग मुरलिया बाज्याँ कर इकतारी' (७७)
'मुरली चंग बजत डफ न्यारो' (१७५)

चंग छोटे आकार का डफ बाजा है जिसे साधारणतः लावनी वाले बजाया करते हैं।

[4]'मीराँ के प्रभु बस कर लीने, सप्तताननि की फाँसु, री' (१६७)

[5]'गावत चार धमार राग तहँ, दै दै कल करतारी' (१७५)

†'गायाँ गायाँ हरिगुण निसदिन' (१६)

[कृपया अगले पृष्ठ पर देखिये

मीराँ का युग आधुनिक बौद्धिक युग से भिन्न साधनापूर्ण भक्तियुग था। उनके समय जहाँ संतों की ज्ञान-योग की धाराएँ मिलती हैं वहाँ रागपूर्ण भक्ति का वातावरण भी। 'पूर्व के बंगाल प्रान्त में उसी समय श्री चैतन्य देव का भी उदय हुआ था, उनका प्रभाव भी एक ओर उत्कल प्रांत से लेकर दूसरी ओर ब्रजमंडल तक फैल रहा था। उसी प्रकार पश्चिम की ओर गुजरात में भक्त नरसी के पद प्रचलित हो रहे थे। अतएव, उत्तरी भारत में सर्वत्र प्रायः एक ही प्रकार का वातावरण उत्पन्न हो जाने से, भक्तिभाव की लहरों में एक बहुत बड़ी शक्ति का संचार हो आया। इसके फलस्वरूप सूरदास, हितहरिवंश, गदाधर भट्ट आदि भक्त कवि अपनी ब्रजभाषा की रचनाओं की ओर विशेषकर इसी समय, प्रवृत्त हुए।''[1] तात्पर्य यह कि रागपूर्ण भक्ति का वातावरण गीतात्मक प्रकृति के उपयुक्त था।

मीराँबाई ने एक मात्र गीतिकाव्य की रचना की है—उनकी पदावली के प्राय सभी पद इसी रूप में हैं। साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से मीराँ बाई के पदों को एक ओर सिद्धों, नाथों तथा संतों के पदों से तथा दूसरी ओर जयदेव, विद्यापति, नरसी मेहता आदि के काव्य से सम्बन्धित किया जाता है। हमारे विचार में मीराँबाई के गीतिकाव्य की चर्चा करते समय जयदेव और विद्यापति का नाम तो लेना ही नहीं चाहिए क्योंकि इनका कोई प्रभाव मीराँ पर लक्षित नहीं होता। न तो इनमें मीराँ जैसी टेकबद्ध शैली है न मीरा जैसा प्रबल आत्माभिव्यंजन। इनमें नाटकीयता है और ये वर्णन प्रधान हैं। विद्यापति की पदावली के विषय—वयःसन्धि, नखशिख, सद्यःस्नाता, प्रेम प्रसंग, दूती, नोक-झोंक

---

[1]मीराँबाई की पदावली, पृ० १८, परशुराम चतुर्वेदी

(शेष) 'कोई निन्दो कोई बिन्दो म्हे तो, गुण गोविंद का गास्याँ' (२५)
'माई म्हाँ गोविंद गुण गाणा' (३६)
'बेला मंगल गावण री' (१४६)　'मीराँ होली गावाँ' (७८)
'साधो संगत हरि गुण गास्याँ' (१६७)

आदि—तथा उनके 'सिव सिंघ लखिमादेइ' के लिए लिखे जाने से उनकी वस्तुपरकता झलकती है। ('प्रार्थना और नचारी' तथा 'भावोल्लास' आदि के कुछ पद इसका अपवाद है।) इन में गीतिकाव्य का बाह्य कलेवर—संगीत तथा कोमलकांत पदावली आदि—प्रधान हैं। अतएव ये 'गीत' हैं, न कि 'गीतिकाव्य'—इन में गेयता प्रधान है न कि आत्मनिष्ठता। 'गीत-गोविन्द' में रागों और तालों का उल्लेख है। उन रागों के नाम हैं—मालव, गुर्जर, गुर्जरी, वसन्त, रामकली, कर्णाट, देशाख्य, देशवराटि, गुणकरी, देशांक, भैरव और विभास। मीराँ में इनमे केवल गुर्जरी (गुजरी) और रामकली मिलते हैं। अतएव संगीत की दृष्टि से भी मीराँ पर इनका कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता। विद्यापति में वे शास्त्रीय राग-रागनियाँ भी नहीं जो सूर-मीराँ की विशेषता है। उनकी मैथिली और बंगाली लोक-धुनें राजस्थान-ब्रज आदि की लोकधुनों से भिन्न है। वस्तुतः मीराँ के पदों का सम्बन्ध एक ओर गुजरात के नरसी मेहता, दूसरी ओर कबीर, रैदास आदि संतों तथा तीसरी ओर समकालीन कृष्ण-भक्तों से जोड़ा जा सकता है। इन सब ने पदों में रचना की है।

मीराँ बाई में गुजराती के शब्द ही नहीं मिलते, वे "वाक्य-विन्यास आदि कुछ बातों मे राजस्थानी, ब्रजभाष की अपेक्षा गुजराती का ही अधिक अनुसरण करती है।"† नरसी और मीराँ दोनों एकांत भक्त थे—दोनों के पदों में प्रेम-प्रवणता का भावोन्माद है। 'विनय के पद इन दोनों के प्रायः एक समान हैं'*

मीराँबाई की पदावली में संतों के प्रभाव से सन्त शब्दावली भी मिलती है। कबीरदास ने यद्यपि सिद्धों-नाथों की परम्परा के अनुसार पद-रचना की किन्तु उनकेपदों के संगीत में गोरखनाथ आदि से निश्चित अन्तर है। कबीरदास में न तो गोरखनाथ के पदों की दोहरी टेक है, न टेक की पंक्ति तथा पद के अन्य चरणों में समानता और न केवल दो ही चरणों

†मीराँ बाई की पदावली पृ० ६६, परशुराम चतुर्वेदी

*वही पृ० ६६

की तुक-समानता। कबीर के पदों में इकहरी टेक है, जो पद के अन्य चरणों से छोटी है। मीराँबाई के अधिकांश पदों में भी सिद्धों और नाथों की नही, कबीर की परम्परा मिलती है। मीराँ बाई के २०२ पदों में से केवल १६ की टेक दोहरी है शेष सबकी इकहरी है। लगभग ५० पदों की टेक पद के अन्य चरणों के समान है, शेष पदों की टेक छोटी है। पद की टेक तथा अन्य चरणों में प्राय: तुक-समानता है पर अलभग ३० पद इसका अपवाद हैं। शैली की इस समानता के अतिरिक्त कबीर-मीराँ में भाव-साम्य के उदाहरण भी मिलते हैं।† फिर भी मीराँ जैसा भावोन्माद नहीं, क्योंकि कबीर को केवल भावों में बहना ही नहीं था, प्रचारण-शिक्षण का कार्य भी करना था। इस दृष्टि से मीराँ के गीतिकाव्य को कृष्ण-भक्तों से अधिक सम्बन्धित किया जा सकता है जिन्होंने मीराँ के समान ही पद-रचना की है और जहाँ राग-रागनियों का विशेष प्रसार मिलता है। सूर और मीराँ में भाव तथा रचना प्रणाली—इकहरी तथा अन्य चरणों से छोटी टेक, और तुकान्तता आदि—में साम्य के आधार पर दोनों के एक ही स्रोत से उद्भूत होने का विचार उठता है।

अभी तक हम ने मीराँबाई के अन्तर्बाह्य प्रभावों का उल्लेख करके उनकी गीतात्मक प्रकृति को समझा है। अब हम उनके गीतिकाव्य का तात्विक विश्लेषण आसानी से कर सकेंगे।

गीतिकाव्य पूर्वापर के बन्धनों से मुक्त, अपने अर्थ को व्यक्त करने में स्वतन्त्र तथा पूर्ण यानि मुक्तक होना चाहिए। मीराँ बाई की पदावली में संगृहीत पद ऐसे ही हैं। प्रत्येक पद उनके एक-एक भावोन्मादी संचारी क्षणों का अक्षुण्ण स्वरूप है। अतएव प्रत्येक पद इतना निरपेक्ष है कि किसी प्रकार के क्रम या योजना की आवश्यकता नहीं। मीराँ की पदा-

† 'आदि ग्रंथ' तथा 'कबीर ग्रंथावली' में मीराँ के समान कबीर के पदों का रागानुसार वर्गीकरण मिलता है। फिर भी 'कबीर बीजक' के किसी प्रसिद्ध संस्करण में रागानुसार वर्गीकरण नहीं मिलता।

वली न तो तुलसी की 'विनयपत्रिका' है—जिसमें बहुत कम, पर कुछ न कुछ क्रम है —और न सूर का 'सूरसागर'—जिसमें भागवत के अनुसार सम्पादान के कारण पद स्वतन्त्र होते हुए भी कथा-शृंखला में बँधे हैं। कथात्मकता तथा गीतात्मकता में विरोध हो सकता है क्योंकि—जैसे सूरसागर में—केवल कथा-निर्वाह के लिए शुष्क वर्णन-प्रधान पदों को भी स्थान मिल जाता है। गीतिकाव्य में जिस आवेगात्मक दीप्त क्षण का प्रकाशन होता है वह पूर्ण मुक्तक की ही माँग करता है और यही मीराँ में है।

आत्माभिव्यक्ति गीतिकाव्य के लिए अनिवार्य है। दूसरे, यह अभिव्यक्त आत्मानुभूति आंतरिक भी हो, अनायास भी; सत्य भी, सद्य भी—सहज समुच्छ्वसित। मीराँ के समस्त पदों में उनके आत्म का सहज-सरल प्रकाशन है। निश्छल-निष्कपट तथा सद्यस्फूर्त अनुभूति उनकी विभूति है। 'खरी (सच्ची) प्रीत'* तथा तरल-कातर वेदना ही उनका वैभव है। ये वेदना इतनी विपुल है कि वह वृथा-वर्णना के फेर में नही पड़ी—यही काव्य बन गई है। रुदन ही गान बन गया है—अनायास, बरबस। इस गान में कंठ नहीं, 'करेजे' का द्रवण है। यहाँ वर्ण-वर्ण में 'आकुल व्याकुल'[1] उर की कम्पन,[2] शब्द-शब्द में 'तरसती' सुधि का दंशन,[3] चरण-चरण में 'घायल'[4] की आह और पद-पद में किसी 'कुलनासी'[5] 'बावरी'[5]

---

*मीराँ रे प्रभु हरि अविनासी करस्यों प्रीत खरी' (८२)

[1]"आकुल व्याकुल रेण बिहावा, बिरह कलेजो खाय,
दिवस न भूख न निदरा रैणा, मुख सूँ क्ह्या न जाय।' (१०१)

[2]"सबदाँ सुणताँ मेरी छतियाँ काँपाँ मीठो थारो बैण' (१०३)

[3]"म्हाणे क्या तरसावाँ।
थारे कारण कुल जग छाड़्याँ, अब थे क्याँ बिसरायाँ' (१०४)
'महाँरो जणम जणम रो साथी, थाँने णा बिसर्याँ दिन राती।
था देख्याँ बिण कल न पड़ताँ जाणे म्हारी छाती' (१०६)

[4]"घायल री घूमाँ फिराँ म्हारो दरद ण जाण्या कोय' (१०२)

[5]"लोग कह्याँ मीराँ बावरी, सासु कह्याँ कुलनासी, री' (३६)

तथा 'मदमाँती'[१] के निचुड़ते प्राणों[२] का अमंद-निर्बन्ध प्रवाह है। इसका विश्लेषण करने का प्रयास करें तो कह सकते हैं कि मीन पानी बिन तड़प कर देह त्याग देती है, पतंग दीपक के लिए जल कर 'खेह' हो जाता है किन्तु मीराँ 'साँवरे' प्रभु के बिना प्राण इसलिए नहीं छोड़ती कि उसे विरह में भी मिलन की आशा है।[३] पर व्याकुलता में सारी 'सुध-बुध' बिसर जाती है[४] देह अदेह"[५] (देह के रहते भी बिना देह के) हो जाती है—वेदना इतनो आक्रांत कर लेती है कि वेदनानुभूति के अतिरिक्त और चेतना रह ही नही जाती। तब ऐसी अवस्था की अभिव्यक्ति कैसी हो सकती है ? जो अदेह होकर लिखेगा उसकी अभिव्यक्ति में भी प्राण ही होंगे, देह लुप्तप्राय होगी—प्राण ही देह का रूप, अनुभूति ही अभिव्यक्ति का स्वरूप धारण कर लेगी। ऐसा प्रतीत होता है मानो मीराँ के भावुक भावोन्माद, निराभरण अन्तर्द्रवण, सद्य उच्छ्वसित उत्स, अनायास 'अदेही' अभिव्यक्ति तथा अपार रुदन रस के लिए ही आधुनिक कवियों ने ये पंक्तियाँ लिखी हैं—

मैं रोया तुम कहते हो गाना
मैं फूट पड़ा तुम कहते छंद बनाना		—'बच्चन'

या

वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान

---

[१]'पल-पल थारो रूप निहाराँ निरख निरखती मदमाँती।' (१०६)
[२]"प्राण गमायाँ झूरताँ रे, नैण गुमायाँ रोय' (१०२)
[३]"बिरह बिथा ल्याया उर अन्तर, थे आस्या णा बुझावाँ' (१०४)
[४]"मीराँ व्याकुल विरहिणी, सुध-बुध बिसराणी हो' (८७)
[५]"पाणी पीर णा जाणई, मीन तजफि तज्या देह।'
'दीपक जाण्या पीर णा पतंग जल्या जल खेह।'
'मीराँ रे प्रभु साँवरे रे, थे बिण देह अदेह' (१०५)

उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान —पंत

या

रुदन का हँसना ही तो गान
रो रोकर गाती है मेरी हृत्तन्त्री की तान। —गुप्त

वस्तुतः आधुनिक कवियों ने गीतिकाव्य के लिए लक्षण बनाये हैं, मीराँ के पदों ने उन तक पहुँचने के लिए लक्ष्य-ग्रंथ का-सा काम किया है। मीराँ के गीतिकाव्य में गुप्त जी की पारिवारिक मर्यादा का बन्धन, तथा 'स्वजनि रोता है मेरा गान' का सजग आत्मविश्लेषण नहीं; उनकी यशोधरा-उर्मिला के कर्तव्याकर्तव्य का द्वन्द्व नहीं; पंत की आवेगहीनता नहीं; निराला की 'गीतिका' की नूतन प्रयोगपरकता की चेतना नहीं; महादेवी की गोपन साकेतिकता नहीं और प्रसाद की 'सीवन को मत उधेड़ कर देखो' का संकोचन नहीं। प्राचीन कवियों में कबीर की दार्शनिकता नहीं, तुलसी की 'विनय पत्रिका' का पाडित्य नहीं, सूर की गोपियों का उक्ति-वैचित्र्य नहीं, पुष्टिमार्गियों (जिसमें सूर भी है) की सम्प्रदायबद्धता नहीं तथा विद्यापति की वस्तुपरकता नही। मीराँ में केवल आन्तर अनुभूति की अमोघ मार्मिकता है, किसी प्रकार का कला-कौशल, सौन्दर्य-सम्भार या चातुर्य-चमत्कार नहीं; कल्पना-कलन तथा अलंकरण नहीं। बेसुधी-अदेही अभिव्यक्ति की देह हो तो उसकी सुगढ़ता की परख की जाय! यहाँ प्राणों की साधना है जो हमें अनुप्राणित कर देती है। यह है मलयानिल की पुलक जिसे देखा नही अनुभव किया जा सकता है। नहीं नहीं, यह मीराँ की 'पीर' ही है जहाँ बाहर कोई घाव नहीं दिखाई देता किन्तु उसके अन्तरंग को कोई अन्तर वाला और अनुभवी ही समझ सकता है—

लागी सोही जाणै, करण लगण दी पीर॥

... ...

बाहरि घाव कछू नहिं दीसै, रोम रोम दी पीर। (१९२)

गीतिकाव्य की आत्माभिव्यञ्जना में बाह्य वर्णनों का बहुत कम स्थान है। यह वस्तुगत अथवा विषयगत नहीं होता। यह नितान्त निजात्मक या विषयीगत होता है। मीराँ में गीतिकाव्य की इस आत्म-परक विशेषता का पूरा पालन हुआ है। सूर और मीराँ की तुलना से हमारी बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी। दोनों कृष्णभक्त हैं, पर सूर तथा उसके सहयोगी एक विशेष सम्प्राय में बँधे है जिनका प्रमुख उद्देश्य कृष्ण-लीलाओं का वर्णन है; उन्हें कृष्ण के रूप-सौन्दर्य, दिनचर्या तथा अन्य लीलाओं का वर्णन करते हुए अपनी बात कहनी होती है। अवश्य ही इन लीलाओं में सूर का हृदय लीन रहता है फिर भी ऐसा वस्तु-तत्त्व के साथ होता है जिससे व्यक्तिगत भावावेश का पूर्ण प्रकाशन नहीं हो पाता। मीराँ किसी सम्प्रदाय मे बँधी नही थीं। वे निर्बन्ध थीं। ऐसा भी नहीं था कि उन्हे सूर के समान गुरु-कृपा से विनय के पदों को त्याग कृष्ण-लीलाओं को लिखना पड़ा हो। सूरदास को बहुत कुछ भागवत के अनुसरण में लिखना पड़ा—जैसे, कृष्ण के अतिरिक्त अन्य अवतारों पर भी। मीराँ प्रारम्भ से ही स्वानुभूति-प्रेरित रहीं। मीराँ के जीवन की मनोभूमिका गीतिकाव्य के लिए अधिक उपयुक्त है, अतएव मीराँ में सूर की अपेक्षा वस्तुतत्त्व बहुत कम है। मीराँ की वेदना का कारण कृष्ण है पर वे उसका बहुत कम चित्रण करती हैं—वह लक्ष्य नही उपलक्ष्य मात्र है, लक्ष्य तो अपनी वेदना का आकुल प्रकाशन है। गीतिकाव्य के आत्मपरक स्वरूप के अनुसार मीराँ में कही स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण नहीं, वह सर्वत्र उनकी वेदना से वेष्ठित या भावनाओं से रंजित है। यहाँ सावन की बदरिया मन भावन की हो जाती है; घन क्या घुमड़ता है, मीराँ का मन उमड़ता है।† दूसरे, सूर में आत्म निवेदन है, मीराँ में आत्म-समर्पण। तीसरे, सूर की आत्माभिव्यक्ति परोक्ष है—उन्हें गोपी, यशोदा

† बरसाँ री बदरिया सावन री, सावण री मण भावन री ॥
सावन माँ उमँग्यो म्हारो मणारी, भणक सुण्या हरि आवनरी।

(१४६)

आदि किसी माध्यम से बात कहनी होती है। मीराँ का आत्मभिव्यंजन प्रत्यक्ष है, वे मानों स्वयं गोपी हैं। इसी से मीराँ में सूर का परायापन कहीं नहीं झलकता। चौथे, सूर को कला से भी काम था, उनके गीत कलागीत हैं; मीराँ की तन्मयता कला का भार न वहन कर सकी, उनके गीत लोक-गीतों के अधिक निकट हैं। पाँचवें, सूर और मीराँ में दृष्टिकोण के भेद से विरह-व्यक्तिकरण में अन्तर आ गया है। भ्रमर-गीत में जहाँ सूर की गोपियों की मार्मिक विरह-वेदना व्यक्त हुई है वहाँ भी कृष्ण के प्रति सख्य दृष्टिकोण होने से हास्य-व्यंग्य की झलक तथा वाग्वैदग्ध्य है। मीराँ की विवश वेदना अति गम्भीर है, उसमें केवल छटपटाहट है जो किसी उक्ति-कौशल या व्यंग्य-विनोद का आश्रय नहीं ले सकती। यह गीतिकाव्य की गम्भीर प्रकृति के उपयुक्त है।

आत्माभिव्यक्ति तथा सत्य-सद्य अभिव्यक्ति के साथ गीतिकाव्य में भाव-ऐक्य तथा संक्षिप्तता भी आवश्यक है। कारण, भावावेशमय क्षण में भाव-वैविध्य हो ही नहीं सकता तथा न ही वह लम्बा हो सकता है। हम यह बता चुके हैं कि मीराँ की समस्त पदावली में एक ही भाव तथा एक ही रस है। उनकी अनन्य तन्मयता में विविधता या द्वन्द्व को स्थान मिल ही नही सकता था। उनकी अचल निर्भीकता डाँवाँडोल तो क्या हो सकती थी, वह ढोल बजा[१] कर बात कहती है। प्रत्येक पद में यही स्थिति है। एक-एक पद में एक-एक आवेग-दीप्त क्षण की अभिव्यक्ति है। प्रथम पंक्ति (टेक) में समग्र पद का सारभूत प्रभाव पुंजीभूत है, पद की शेष पंक्तियों में इसी मूल भाव की पुष्टि या रागात्मक विस्तार हुआ है। इस से समग्र पद अन्वित रागात्मक स्वरूप बन कर सामने आता है। यहाँ एकता में अनेकता या अनेकता में एकता की बात नहीं, केन्द्रगत मूल भाव का, भावावेश के वेगानुसार, सहज रागात्मक अन्वित विस्तार होता है। मीराँ की पहली पंक्ति से ही भावोन्माद, तन्मयता तथा विवशता का

[१]'मीराँ कहै मैं भई रावरी, कहो तो बजाऊँ ढोल।' (१००)
'थे कह्याँ छाणे म्हाँ काँ चोड्डे, लियाँ वजंता ढोल।' (२२)

परिचय मिल जाता है, अतएव उनकी टेक बड़ी भावपूर्ण तथा प्रभावपूर्ण होती है। जैसे—

'अखयाँ तरशां दरसण प्याशी।' (४५)
'हेली म्हाँसूं हरि बिनि रह्यो न जाय' (४२)
'आली री महारे णेणा बाण पड़ी' (१४)
'म्हा मोहणरो रूप लुभाणी' (११)
'तनक हरि चितवाँ म्हारी ओर' (५)
'डारि गयो मनमोहन पासी' (६५)
'रमैया बिन नीद न आवै' (७४)
'पतिया में कैसे लिखूँ, लिख्यो री न जाय' (७६)
'हेरी म्हाँ दरदे दिवाणी म्हारां दरद न जाण्यां कोय' (७०)
'होली पिया बिन लागां री खारी' (७७)
'पपइया म्हारो कब रो वैर चितार्‌याँ (८३)
'पपइया रे पिव की बाणि न बोल' (८४)
'सखी म्हारी नींद नसानी हो' (८७)
'जोगी मत जा, मत जा, मत जा, पाँइ परूँ मैं तेरी, चेरी हौं; (४६)
'म्हाणे क्या तरसावाँ' (१०४)
'हो कानां किन गूँथी जुल्फां कारियाँ' (१६२)
'जावा दे जावा दे जोगी किसका मीत' (५७)
'हो गये श्याम दूइज के चंदा' (१८०)
'सजण सुध ज्यूँ जाणे त्यूँ लीजै हो' (१०७)

भावावेशमय या गीतात्मक क्षणों में गाए जाने के कारण उनके पद न्विति तथा संक्षिप्तता में आदर्श हैं। विद्यापति, सूर, तुलसी, कबीर तथा आधुनिक कोई कवि इसकी समता नहीं कर सकता। एक-दो पद उद्धृत करके हम उनके भाव-ऐक्य तथा संक्षिप्तता को स्पष्ट करेंगे। देखिए—

नागर नंदकुमार, लाग्यो थारो नेह ।।
मुरली धुण सुण बीसरां म्हारो कुणवो गेह ।
पाणी पीर णा जाणई, मीन तलफि तज्यांँ देह ।
दीपक जाण्या पीर णा पतंग जल्या जल खेह ।
मीराँ रे प्रभु साँवरे रे, थे बिण देह अदेह ।। (१०५)

पहली पंक्ति में कृष्ण के प्रति प्रेम को व्यक्त किया गया है । दूसरी पंक्ति में उसका कारण तथा प्रभाव है । तीसरी-चौथी में आदर्श प्रेमियों के प्रसिद्ध उदाहरण हैं, और पाँचवी में विरह के कारण अपनी ऐसी अवस्था का कथन है कि कृष्ण पसीज ही उठें । "वे देह के रहते भी बिना देह के हो रही हैं"—मानो वे बता रही हैं कि उन आदर्श प्रेमियों का अनुसरण करने में वे किसी प्रकार पीछे नहीं । एक बार मर जाने से तो छुटकारा मिल सकता है, पर जीते जी अदेही अवस्था विशेष मार्मिक है । एक दूसरा मार्मिक पद लीजिए—

घड़ी चेण णा आवडाँ, थे दरसण बिण मोय,
धाम न भावाँ नीद ना आवाँ, विरह सतावाँ मोय ।
घायल री घूमा फिराँ म्हारो दरद ण जाण्या कोय,
प्राण गमायाँ झूरताँ रे, नैण गुमाया रोय ।
पंथ निहाराँ डगर मझारा, ऊभी मारग जोय,
मीराँ रे प्रभु कबरे मिलोगाँ, थे मिल्याँ सुख होय ।

पहली पंक्ति में जिस विकल-बेकल वेदना को व्यक्त किया गया है उसीकी पुष्टि एक-एक शब्द कर रहा है । अंतिम पंक्ति तक पहुँचते-पहुँचते बेचैनी की विवश व्यथा-कथा दूसरों को वशीभूत कर लेती है । आवेश-आवेग में कहीं शैथिल्य नहीं, प्रभाव अधिक से अधिक घनीभूत होता जाता है और आवेश-आवेग की सीमा के साथ ही गीत की भी समाप्ति हो जाती है ।

मीराँ के जो गीत कुछ लम्बे हो गए हैं वहाँ भी भावावेशमयी स्थिति तथा अन्विति स्थिर रही है । इस दृष्टि से उनके पद ८७, ९२, १०८ आदि देखे जा सकते हैं ।

आत्माभिव्यक्ति, सद्यस्फूर्ति, भाव-ऐक्य तथा संक्षिप्तता के साथ संगीतात्मकता तथा तदानुकूल प्रसादमयी शैली भी गीतिकाव्य के लिए आवश्यक है। ये मानों उसके शरीर का निर्माण करते है। गीतिकाव्य की कोमल हार्द के अनुकूल प्राय: 'शैली' के स्थान पर 'कोमलकात पदावली' का प्रयोग कर दिया जाता है। गीतिकाव्य का संगीत बाह्य नही, आंतरिक होता है। यह संगीतमय नही संगीतात्मक होता है जिसमें संगीतात्मकता शब्दों के अंतराल से फूटती है। संगीतात्मकता भावोदीप्ति का सहज तरल रूप होती है। इस दृष्टि से संगीत भावाभिव्यक्ति में सहायक ही होता है, बाधक नहीं। मीरॉं के गीत शास्त्रीय राग-रागनियों में बँधे हैं। उनके प्रत्येक पद पर राग-रागिनी का नाम लिखा है। यह भाव-तरल संगीतात्मकता छादिक संगीतात्मकता नहीं। वस्तुत: इन पदों की रचना पिगल के नियमादि को दृष्टि में रख कर नहीं की गई थी। "भिन्न-भिन्न रागों-रागनियों के अनुसार पंक्तियों की लय दुरुस्त करने अथवा भिन्न-भिन्न तालों के नियमानुसार उनके विराम आदि के स्थलों का संशोधन कर देने से पिंगल के बहुत नियम ठीक-ठीक लग नहीं पाते।"[१]

परशुराम चतुर्वेदी ने मीरॉंबाई की पदावली में जिन २०२ पदों को संकलित किया है वे कुल मिला कर ६८ विभिन्न राग-रागनियों[२] में मिलते हैं। इतनी राग-रागनियों का उल्लेख तो उस समय की संगीत शास्त्रीय पुस्तकों—शार्ङ्गदेव-रचित 'संगीत रत्नाकर' या लोचन की 'राग-तरंगिणी'—में भी नहीं हुआ। मीरॉं के समसामयिक भक्त-कवि सूरदास में भी ६८ राग-रागनियाँ मिलती हैं। सूर और मीराँ के कुछ राग तो अवश्य समान हैं किन्तु मीराँ के निम्नलिखित राग सूर में नहीं मिलते—तिलंग, त्रिवेनी, कामोद, पटमंजरी, मॉंड, धानी, पीलूबरवा, पूरिया कल्याण, खम्माच, अगना, पहाड़ी, पीलू, जौनपुरी, सोहनी, सुख सोरठ, श्याम

---

[१]देखिए 'मीरॉंबाई की पदावली' पृ० ५९-६०, परशुराम चतुर्वेदी।

[२]इन विभिन्न राग-रागनियों का पूरा क्रमिक विवरण लेख के अन्त में देखिये।

कल्याण, दरबारी, पूरिया धनाश्री, जोगिया, सावन, सावनी कल्याण, वागेश्वरी, आनंद भैरी, धुन लावनी, कोसी, नट बिलावल, कनड़ी, छाया टोड़ी, हंस नारायण, होली झिझोटी, दुर्गा, प्रभावती, प्रभाती, सिंध भैरवी, भीम पलासी, शुद्ध सारंग, कलिंगड़ा, छायानट। मीराँ में कोसी और पीलू राग सर्वाधिक मिलते हैं जो सूर मे नहीं।

सूरदास के निम्नस्थ राग मीराँ में नहीं:—केदारा, गंधार, देवगांधार, नायकी, जैतश्री, गौरी, कल्यान, जैजैवन्ती, सूहो बिलावल, नटनारायन, भैरव, अहीरी, गोंड, गुंड, श्रीमलार नट, पूर्वी, सुघरई, मेघ, अड़ाना, पूरिया, देवसाख, खंबाखती, ईमन, भोपाल, कुरंग, संकीर्ण, वैराटी, नट-नारायनी, वसन्त, शंकराभरण, श्रीहठी, वसन्ती, रामगिरी, देसकार, विभास करनाटी आदि।

विभिन्न राग-रागनियों तथा गीत के भावों का सम्बन्ध होता है। मीराँबाई में वियोग-श्रृंगार के अनुकूल अधिकांशतः गम्भीर तथा कोमल प्रकृति के रागों का प्रयोग हुआ है। मीराँ के अनेक राग प्रसंगानुकूल हैं। जैसे, वर्षा सम्बन्धी पदों में 'मल्हार' तथा 'सावन', होली के प्रसंग में राग 'होली' और कृष्ण को जगाने के प्रसंग में 'प्रभाती' आदि देखे जा सकते हैं, फिर भी इस नियम का सर्वत्र पालन नहीं हुआ। वस्तुतः किसी पद के लिए यह अनिवार्य नहीं कि वह केवल एक ही राग में गाया जाय।[१] मीराँ में एक ही राग में विभिन्न प्रसंग मिल जाते हैं। एक ही विषय तथा शैली का मिलता-जुलता पद सूर और मीराँ दोनों ने भिन्न-भिन्न रागों में गाया है। देखिए—

---

[१]परशुराम चतुर्वेदी 'कबीर साहित्य की परख' से भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। वे लिखते हैं—"कबीर-ग्रंथावली" में संगृहीत राग गौड़ी के १०, १२, २१, ३६, ६१, ६२, १११, तथा १४७ संख्यक पदों को 'आदि ग्रंथ' के अन्तर्गत क्रमशः रागु आसा २२ तथा ६ रागु गूजरी २, रागु मारू १, रागु भैरउ ४, रागु विभास ४, रागु आसा १२ तथा रागु बिलावल के शीर्षकों में स्थान दिया गया है...इन कतिपय उदाहरणों के

राग त्रिवेनी

निपट बंकट छब अटके ।
म्हारे णेणा निपट बंकट छब अटके ।।
देख्यां रूप मदन मोहन री, पियत पियूख न मटके ।
वारिज भवाँ अलक मँतवारी, णेण रूप रस अटके ।
टेढ्याँ कर टेढ़े करि मुरली, टेढ़याँ पाग लर लटके ।
मीराँ प्रभु के रूप लुभाणी, गिरधर नागर नटके ।।

—मीरां (पद १०)

राग सारंग

नैना निपट विकट छवि अटके ।
टेढ़ी कटि, टेढ़ी कर मुरली, टेढ़ी पग लर लटके ।।
देखि रूप रस सोभा रीझे, घेरे घिरत न घटके ।
पारत बचन कमलदल-लोचन, लाल के मोदनि अटके ।।
मंद मंद मुसुकात सखनि में, रहत न काहू हटके ।
सूरदास-प्रभु के रूप लुभाने, ये गुन-नागर-नटके । —सूरदास

(सूरसागर, दशमस्कंध २३२२)

मीराँ में विषय की एकरसता है । अनेक पदों में एकान्त विरह है, फिर भी इनमें विभिन्न रागों का उल्लेख हुआ है । जैसे मीराँ के १०० से १०६ तक पदों में विरह की प्रकृति तथा तन्मयता एक सी है परन्तु सभी पद विभिन्न रागों में गाए गये है । सूरसागर में मीराँ से कहीं अधिक विविधता है तथा उनके पद भी असंख्य हैं । अतएव वहाँ ६८ राग-रागनियों का प्रयोग हो सकता था, परन्तु मीराँ के पद सीमित हैं, विषय भी अधिक एक रस है, फिर भी ६८ राग-रागनियों का प्रयोग हुआ है, यह विस्मय का विषय है ।

आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं कहा जा सकता कि कबीर साहब के पदों का रागानुसार किया गया वर्गीकरण उनके मूल रचयिता का काम नहीं होगा ।" (पृ० २६४-६५)

विभिन्न राग विभिन्न समयों में गाए जाते हैं। मीराँ में शास्त्रीय संगीत के इस नियम का पालन अधिकांश पदों में हुआ है। मीराँ के अनेक पदों से जो समय संकेत मिलते हैं उनसे राग का समय मिल जाता है। जैसे 'देश' के गाने का समय मध्यरात्रि है। इसी राग में मीरा के निम्न पद में यही संकेत मिल रहा है—

मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर, हिवड़ो घणो अधीरा।
आधीरात प्रभु दरसण दीस्यों जमणा जी के तीराँ।। (१५४)

इसी तरह निम्न पदों में कुछ अन्य रागों के समय-सिद्धांत का पालन देखिए—

राग वागेश्वरी—समय मध्यरात्रि
'री म्हाँ बैठ्यां जागाँ, जगत सब सोवाँ'।। (८६)

राग आनन्द भैरव—समय प्रातःकाल
मीराँ प्रातःकाल होने पर मानों सखी से कह रही हैं—
सखी म्हारी नींद नसानी हो।
पिय को पथ निहारत सब रैण बिहानी हो।। (८७)

राग प्रभाती—समय प्रातःकाल
'थे तो पलक उघाड़ो दीनानाथ,
मैं हाजिर नाजिर कब की खड़ी।।' (११८)
'जागो बंसीवारे ललना, जागो मेरे प्यारे।' (१६५)

राग सूहा—समय दिन का दूसरा पहर
चालाँ मण वा जमणा कां तीर।।
वा जमणा का निरमल पाणी, सीतल होयां सरीर।
बँसी बजावाँ गावाँ कान्हाँ, संग लिया बलवीर। (१६१)

राग गूजरी—समय दिन का दूसरा पहर
'जमणा किणारे कान्हा धेनु चरावाँ, बँशी बजावाँ मीठाँ वाणी' (११)

इस संगीत-तत्त्व की रक्षा के लिए तदानुकूल प्रसादपूर्ण शब्दावली का प्रयोग हुआ है। कहीं भी भाषा की जटिलता नहीं—भावों के सहज तारल्य के साथ भाषा का सहज सारल्य है। नैसर्गिक भावोच्छ्वास के साथ भाषा का स्वाभाविक प्रवाह है। उनकी भाषा की प्रकृति को देख कर यह सहज ही कहा जा सकता है कि मीरां किसी विशेष भाषा में गाने नही बैठी थीं। तुलसी का 'मानस' अवधी में, तथा 'विनय-पत्रिका' ब्रज-भाषा में है; सूर का 'सागर' ब्रज-भाषा में है—ऐसा निश्चित मत मीरां के पदों के सम्बन्ध में नहीं दिया जा सकता। यहीं मीरा की भाषा का सहज गुण स्पष्ट होता है। उनकी भाषा सभी पदों में एक-सी नहीं। दूसरे उनकी भाषा की प्रकृति संतों की-सी है—यह मिश्रित भाषा है। "अधिकांश में राजस्थानी, ब्रजभाषा, गुजराती तथा कहीं-कहीं पंजाबी, खड़ी बोली एवं पूरबी तक का न्यूनाधिक संमिश्रण है। कई स्थलों पर, राजस्थानी के अतिरिक्त ब्रजभाषा के विकारी रूपों का भी व्यवहार है। ब्रजभाषा, पंजाबी, गुजराती तथा खड़ी बोली की विभक्तियों का भी व्यवहार है।...मीरांबाई मेड़ता वा मेवाड़ से लेकर कुछ न कुछ दिनों तक, वृन्दावन अथवा द्वारकापुरी में भी रह चुकी थीं, अतएव उनकी रचनाओं में उन स्थानों की भाषाओं के भिन्न-भिन्न प्रयोगों का भी पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नही।"[1] हमारा कार्य यहाँ मीरांबाई की भाषा का विवेचन नही। गीतिकाव्य ब्रज, अवधी या राजस्थानी में लिखा जाए इससे विशेष अन्तर नहीं पड़ता, पर मीरां की भाषा की मिश्रित प्रकृति से उसकी गीतिकाव्योचित सहजता स्पष्ट हो जाती है। मीरां का रुदन कभी भाषा का विचार करके नहीं चलता था—भाषा तो मानों आँसुओं के साथ बही चली आती होगी। वस्तुतः मीरां में ग्राम-कंठ का गीलापन अधिक है, साहित्यिक कंठ का सौष्ठव कम।

मीरां में पिंगल का ध्यान न रखते हुए, संगीतात्मकता की दृष्टि से कुछ विशेष शब्दों 'हो', 'रे' 'जी' 'हे' 'माई', आदि या अधिक पदों का प्रयोग

[1]परशुराम चतुर्वेदी, मीरांबाई की पदावली (पृ० ६०)

मिलता है। इससे छांदिक बंधन ढीला हो जाता है और संगीतात्मकता बढ़ जाती है। जैसे निम्न पदों में 'हो' का प्रयोग देखिए—

असा प्रभु जाण न दीजै हो ।।
तन मन धन करि वारणै, हिरदे धरि लीजै, हो।
आव सखी मुख देखिये, नैणा रस पीजै, हो।
... ...
मीराँ के प्रभु रामजी, बड़ भागण दीझै, हो ।। (१६)
म्हारी गलियाँ नाँ फिरे, वाँके आँगण डोले, हो।
म्हाँरी अँगुली ना छुवे, बाँकी बहियाँ मोरे, हो।
म्हारो अँचरा न वो, वाँको घूँघट खोले, हो। (१८१)

यहाँ 'हो' सार्थक भी है संगीतात्मक भी।

निम्नलिखित पदों में 'हे माय' तथा 'हो माई' का सम्बोधन भी संगीत के अनुकूल है—

मैं जल जमुना भरन गई थी, आ गयो कृष्न मुरारी, हे माय।
ले गयो सारी अनारी म्हारी, जल में ऊभी उघारी, हे माय।
सखी साइनि मोरी हँसत हैं, हँसि-हँसि दे मोहिं तारी, हे माय।
(१६६)

म्हें तो गुण गोविंद का गास्याँ, हो माई।
राणो जी रूठ्यो बाँरो देस रखासी।
हरि रूठ्याँ कुम्हलास्याँ, हो माई।
लोक लाज की काण न मानूँ।
निरभै निसाण घुरास्याँ, हो माई। (३५)

'रे, 'री', 'जी' का प्रयोग भी अनेक पदों में संगीतानुमोदित है। जैसे—

सावण दे रह्या जोरा रे, घर आयो जी स्याम मोरा, रे ।।
उमड़-घुमड़ चहुँ दिस से आया, गरजत है घन घोरा, रे।
दादुर मोर पपीहा बोलै, कोयल कर रही सोरा, रे।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, ज्यों वारूँ सोही थोरा, रे ।। (१४७)

रंग भरी राग भरी राग सूँ, भरी री ।
होली खेल्या स्याम संग रंग सूँ भरी, री ॥

...　　...　　...

चोवा चंदण अरगजा म्हा, केसर गागर भरी री ।
मीराँ दासी गिरधर नागर, चेरी चरण धरी री ॥ (१४८)

कहीं-कहीं मीरा पहली पंक्ति में शब्दों तथा वाक्यांशों की आवृत्ति करती हैं । यथा—

'बादल देखाँ झरी स्याम मैं बादल देखा झरी'　(८२)
'प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी रे, मने लागी कटारी प्रेमनी' (१७३)
जावा दे जावा दे जोगी किसका मीत । (५७)
जोगी मतजा मतजा मतजा, पाँइ परूँ मैं तेरी, चेरी हौं ।(४६)

किसी को बार-बार रोकने के भाव जिन स्वाभाविक शब्दों में फूटेंगे, वही यहाँ हैं जिससे संगीतात्मकता स्वतः ही बढ़ गई है । मीराँ के शब्दों तथा संगीत में कोई व्यवधान नहीं—वे सर्वत्र एकाकार हैं । कहीं-कहीं मीराँ में आनुप्रासिकता, शब्दावृत्ति तथा शब्दों के विशेष अनुक्रम से नूतन संगीत उत्पन्न हो गया है । ये पंक्तियाँ आस्वादनीय हैं—

'बरसा री बदरिया सावन री, सावन री मण भावन री' (१४६)
'रँगभरी राग भरी राग सूँ भरी री'
होली खेल्या स्याम संग रंग सूँ भरी, री ॥

उड़त गुलाल लाल बादला री रंग लाल,
पिचकाँ उड़ावाँ रंग-रंग री झरी, री ।......(१४८)

मीराँ का गीतिकाव्य कला-गीतों की अपेक्षा ग्राम-गीतों के अधिक निकट है । वस्तुतः न यह शुद्ध ग्राम गीत है न कला-गीत, यह दोनों के मध्य की कड़ी है । कलागीतों का ग्रामगीतों से ही विकास हुआ है । मीराँ का गीतिकाव्य इस विकास-क्रम के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण योग दे सकता है ।

मीराँ का गीतिकाव्य ग्रामगीतों के निकट है क्योंकि—

१. यह हृदय का सहज उच्छ्वसित रूप है, मस्तिष्क की चिंतन-धारा नहीं।

२. हृदयस्थ भावनाओं की अभिव्यक्ति में किसी कृत्रिम शिष्टाचार को स्थान नहीं दिया गया।

३. भावों की सरलता सर्वत्र बनी हुई है।

४. भाषा तथा शैली की ऋजुता।

५. भाषा का मिश्रित होना तथा ग्रामीण शब्दावली की प्रचुरता।

६. कलात्मक उपकरणों—उक्ति वैचित्र्य, वाग्वैदग्ध्य, अलंकारों का कम से कम प्रयोग।

७. स्त्रैण प्रकृति—'कवयित्रियों ने अपने गीतों में स्वकीया के प्रेम, विरह, उच्छ्वास को जितनी प्रतिष्ठा दी है, उतनी पुरुषों ने नहीं। ग्रामगीतों में स्वकीया-प्रेम के सरल प्रेम की मार्मिक व्यंजना है।'[1] मीराँ में ये सब हैं। स्त्री-प्रकृति में गार्हस्थ्य कर्म-विधान—चक्की पीसते, धान कूटते, चर्खा चलाते समय आदि के साथ मनोरंजन तथा श्रम-परिहार के लिए गीत गाने की जो स्वाभाविक प्रेरणा होती है वह मीराँ में नहीं। इसी तरह जन्म, मुण्डन, जनेऊ, विवाह आदि के अवसर पर उमंग में आकर जो ग्राम-गीत गाये जाते हैं वह भी मीराँ में नहीं। स्पष्ट है मीराँ में ग्राम-गीतों की उपरोक्त जातीय विशेषता कम है पर मीराँ के गीत ग्रामीण नारियों के विरह-गीतों के अधिक निकट हैं। इन्हीं गीतों में प्रायः कौए, मोर, चातक और बादल आदि भाग लेते हैं।

८. मीराँ में 'सावन' 'होली' आदि की लोकधुनें भी हैं। वैसे भी शास्त्रीय राग-रागनियों का विकास लोकधुनों के आधार पर हुआ। इस दृष्टि से मीराँ के गीतों का अध्ययन बड़ा उपयोगी सिद्ध हो सकता है। अब हम मीराँ के कुछ ऐसे पद देंगे जहाँ ग्रामगीतों की-सी शब्दावली, भाव, वातावरण, संगीत आदि हैं—

---

[1]लक्ष्मी नारायण सुधांशु—'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत' पृ० २०० (द्वितीय संस्करण)

पपइया रे पिव की बाणि न बोल ।।
सुणि पावेली विरहणी, रे, थारो रालैली पाँख मरोड़ ।
चांच कराऊं पपइया रे, ऊपरि कालर लूण ।
पिव मेरा मैं पिव की रे, तू पिव कहै स कूण ।
... ...
प्रीतम कूँ पतियाँ लिखूँ, कउवा तू ले जाँइ ।
जाइ प्रीतम जी सूँ यूँ कहै रे, थाँरी बिरहिणि धान न खाइ ।
(८४)

मतवारो बादर आए रे, हरि को सनेसो कबहुँ न लाय रे ।
दादुर मोर पपइया बोले, कोयल सबद सुणाये रे ।
(इक) कारी अँधियारी बिजरी चमकै, बिजरी
बिरहिणि अति डरपाये, रे, ।

(इक) गाजै बाजै पवन मधुरिया, मेहा अति झड़ लाये रे ।
(इक) कारी नाग बिरह अति जारी, मीराँ मन हरि भाये रे (८१)
होली पिया बिण म्हाणे णां भावाँ घर आंगणां न सुहावाँ ।।
दीपां चोक पुरावां हेली, पिया परदेस सजावां ।
सूनी सेजां व्याल बुझांया जागा रेण बितावां ।
नींद णेणा णा आवां ।
कब री ठाढ़ी म्हा मग जोवां निसदिन विरह जगावां ।
क्यासूँ मणरी बिथा बतांवा, हिवड़ो रहा अकुलावां ।
पिया कब दरसावां ।
दीख णाँ काँई परम सनेही, म्हारो सँदेसा लावाँ
वा बिरियां कब होसी म्हारो हँस पिय कंठ लगावाँ ।
मीराँ होली गांवा ।। (७८)

गीतिकाव्य के सभी तत्त्वों का कार्य प्रभावान्विति में योग देना है । प्रभावान्विति का प्रमाण है रसात्मकता । मीराँ के गीत इस दृष्टि से आदर्श हैं । पाठक एकदम रस-स्तर पर पहुँच जाता है ।

मीराँ की राग-रागनियाँ

४३. देस ६६-६८, १०३, १५३, १५४
४४. टोड़ी ६६
४५. आसावरी १०१
४६. धुन लावनी १०४
४७. अलैया १०५
४८. प्रभावती १०६
४९. प्रभाती १०८, ११८-१२०, १६५, १६६
५०. सिंध भैरवी १०६
५१. भीम पलासी ११०
५२. कोसी १११-११४, १२१, १२३-१३२
५३. देश ११५-११७
५४. कलिंगड़ा १४३
५५. नट बिलावल १४५
५६. परज १४६-१५२, १६३, १८४-१८६
५७. सूहा १६१
५८. कनड़ी १६२, १६८
५६. छाया टोड़ी १६४
६०. काफ़ी १६६-१७३
६१. हंस नारायण १७४
६२. होली झिझोटी १७५, १७६
६३. मारू १७८
६४. दुर्गा १८०
६५. धमार १८१
६६. शुद्ध सारंग १६३, १६४
६७. छाया नट १६५
६८. रागश्री १६६
६६. धनाश्री २००

शब्द स्वतः कोई राग नहीं, अतएव मीराँ-पदों की रचना कुल ६८ राग-रागनियों में हुई।

बिहारीलाल से इन्टरव्यू

उन दिनों रीतिकालीन बिहारीलाल की लोक-प्रियता का रहस्य जानने के लिए निरन्तर उनकी सतसई का अध्ययन करता था। अध्ययन इसी तक ही सीमित नहीं था, सतसई की अनेक टीकाओं तथा विभिन्न विद्वानों की आलोचनाओं का भी होता था। मेरे पास कोई गायत्री तो है नही कि जो नींद की पहरेदार बनी रहे, नींद आती है तो साथ स्वप्न भी आते हैं। उस दिन बिहारीलाल जी का ही स्वप्न आ गया। क्या देखता हूँ कि एक सजे-सजाए कमरे में—शायद राजाजयसिंह के भवन का कक्ष होगा—मुझे उसी स्वरूप का व्यक्ति दिखाई पड़ा, जिसे मैंने चित्र-रूप में एक पुस्तक के पहले पृष्ठ पर देखा था। पहचानने में कुछ देर अवश्य लगी, पर अन्त में पहचान ही लिया, वे बिहारीलाल थे। पर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि वे काव्य-रचना करने में संलग्न नहीं, चित्रकारी में लीन थे। अपनी तूलिका से रंग भरने के बाद वे कुछ सोच में पड़े दिखाई दिए। नाना रंग घुले पड़े थे, सबको देखते और चित्र पर दृष्टि डालते, बस यही क्रम चलता रहा। आखिर अपनी जिज्ञासा-तृप्ति के लिए मैं पूछ ही बैठा—"क्या आप ही बिहारीलाल जी हैं?" तीन बार पूछने पर मानों उनका ध्यान-भंग हुआ। "कहो, क्या कहते हो? एक कामिनी का सुन्दर पोज़ सामने था, अब नहीं बनेगा।" मेरे मुख पर अब भी वैसे ही आश्चर्य था। मानव-प्रकृति की परख से अपने दोहों को यथार्थ रूप देने वाले इस पुरोहित को समझते देर न लगी। बोले—"मैं पहले कवि था, अब चित्रकार हूँ······अधिक अन्तर नहीं, पहले शब्द-चित्र बनाता था, अब उन्हीं को पट पर अंकित कर रहा हूँ; बस लेखनी का स्थान तूलिका ने ले लिया है। पहले शब्दों से स्पर्श, गन्ध, वर्ण, ध्वनि तथा दृश्य-चित्र

बनाये थे, अब उन्हें दूसरे रूप में उतारने के प्रयास में हूँ।" मैं ने कहा— "आप की चित्रमयता रग लाई···" वक्रोक्ति-कुशल कवि ने मेरी बात पूरी न होने दी और अपने अभिप्राय से उसका अर्थ लेकर कहा: "ठीक है मेरी चित्रमयता ही रंग लाई, अब चित्रकार हूँ, रंगों से काम लेता हूँ। मैंने अपने शब्दचित्रों में सर्वाधिक वर्ण-चित्रों को अंकित किया था, पर शायद तृप्त न हुआ। उसी अतृप्ति का परिणाम है कि आज चित्रकार हूँ। आज उन्हीं वर्ण-चित्रों को रंगों या रेखाओं में उतारने में कठिनाई आ रही है। मेरी प्रश्न-सूचक दृष्टि को देखकर उन्होंने कुछ ऐसे दोहे बोले जिनके चित्र बना चुके थे। वे थे—

"सोनजुही सी जगमगति, अँग अँग जोवन जोति।
सुरँग, कसूँभी कंचुकी दुरँग देह-दुति होति ।।† (१६०)
छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंग।
दीपति देह दुहूनु मिलि दिपति ताफ़ता-रंग ।। (७०)
बिहँसति, सकुचति सी, दिऐ कुच-आँचर-बिच बाँह।
भीजैं पट तट कौं चली, न्हाइ सरोवर माँह ।। (६९३)
अहे, दहेँड़ी जिनि धरै, जिनि तूँ लेहि उतारि।
नीकैं है छींकैं छुवै, ऐसैंई रहि, नारि ।। (६९९)
त्रिबलि, नाभि दिखाइ, कर सिर ढकि, सकुचि, समाहि।
गली, अली की ओट कै, चली भली बिधि चाहि ।। (८८)
भौहँनु त्रासति, मुँह नटति, आँखिनु सौं लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति करु, इँची आगे आवति जाति ।। (६८३)

इनके चित्र बना चुका हूँ, पर इस दोहे का चित्र नहीं बना सका—

अंग अंग-प्रतिबिंब परि दरपन सैं सब गात।
दुहरे, तिहरे, चौहरे भूषन जाने जात ।। (६८०)

मैंने दो तीन अनुभाव-चित्र बोले हैं। सदा अनुभावों द्वारा भावों को व्यंजित किया है। भाव को वाच्य करना वाणी का उपहास करना

---

†दोहों की संख्या 'बिहारी-रत्नाकर' के अनुसार है।

है। वह कविता क्या हुई जो भाव का चित्र सामने न ला दे। इस दृष्टि से अपने चित्रमयता के दृष्टिकोण को मैंने 'अहे, दहेंड़ी...नारि' में भली-भाँति व्यक्त कर दिया है। हमारे ज़माने में कैमरा नहीं था, नहीं तो... खैर, इन्हें तुम शब्दों से स्नैप शॉट समझो।"

यह कहकर मुसकरा दिए। कहने लगे: "अब कहो क्या कहते हो?" मैं भी हँस दिया और अपनी बात दुहराने लगा: "आपकी चित्रमयता रंग लाई। आज के छायावादी, कविता की परिभाषा भी चित्र के आधार पर देते हैं—'कविता वर्णमय चित्र है' या 'चित्र-राग' है। हमारे पंत जी ने आपकी तरह कविताओं में ऐन्द्रिय विषयों का सुन्दर समावेश किया है। शुक्ल जी ने कविता में बिम्ब ग्रहण पर बड़ा बल दिया है। आगे और कुछ न कहकर मैंने पूछ लिया: "जब मैं आया आप खोये-खोये क्या खोज रहे थे?" बिहारीलाल जी ने कहा—"अब तुमने पूछ ही लिया तो एक बात कहे बिना नहीं रहूँगा। मैं आलोचक तो नहीं पर मर्त्य-लोक की आलोचनाओं को पढ़कर कुछ ठेस भी लगी और कुछ हमारी आलोचनात्मक बुद्धि भी जगी। जब भी हमारी आलोचना होती है तो कला की सभी प्रशंसा करते हैं किन्तु हमारी अनुभूति तक कोई नहीं पहुँचता, जैसे हम बिलकुल फरमायशी कवि थे, हमारी कोई अपनी आकुलता नहीं थी। सारी सतसई में केवल आठ दोहे† राजा जयसिंह पर हैं। इससे कोई अन्तर नहीं आता। हमारी कला के सौन्दर्यमय उपकरणों में भी एक सौन्दर्यानुभूति थी। जब तुमने पुकारा उस समय मैं उसी अवस्था में था। जो पोज़ मेरे सामने था वह मुझे भा गया, बस मैं सब कुछ पा गया। पर उसे उतारना सरल नहीं क्योंकि... क्योंकि...छोड़ो बस ठीक ही लिखा था—

† देखिए दोहे सं० ३८, २८०, १६७, २२६, ३००, ७१३, ७१२, ७११, ७१० इनमें से भी कुछ दोहे जयसिंह के युद्धों में जीतने की सच्ची घटनाओं पर हैं। ३८ तथा ३०० तो अत्यन्त सार्थक अन्योक्तियाँ हैं जो किसी पर भी लागू हो सकती हैं।

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥ (३४७)

"सच्ची बात है 'छवि का छाक' (नशा) बड़ा विषम होता है। और नशों को स्थिर रखने के लिए घड़ी-घड़ी पीना पड़ता है, पर यह नशा क्षण मात्र छक लेने पर फिर नहीं उतरता, अनोखा है। दूसरे नशे, नींद, डर या नियतकाल के बीतने पर उतर जाते हैं पर सौन्दर्य के इस नशे में कमबख्त नींद ही नहीं आती, बढ़ता ही जाता है।" मुझे याद आ गया कि बिहारी जी ने इसी सम्बन्ध में दोहा भी लिखा है—

डर न टरै, नींद न परै, हरै न काल-विपाकु।
छिनकु छाकि उछकै न फिरि, खरौ विषमु छवि-छाकु॥ (३१८)

मैं समझ गया कि सुन्दरी नायिकाओं तथा सुन्दर कला के मूल में उनकी यही अमर सौन्दर्य-मादकता रही होगी।

थोड़ी देर रुककर कहने लगे—"मुझे तो इस पोज का संकेत देना है। सारी बात कह देना मुझे भाता नहीं—आता ही नहीं। मैं क्यों कहता हूँ कि मुझे आता ही नहीं? मैं अपनी अनुभूति से कैसे लड़ जाऊँ जो भंगिम है, बंक (वक्र) है। यह भंगिम अनुभूति मेरी कला क. प्राण है। यही अभि-व्यक्ति में भंगिमा ले आती है। मैंने अपनी कला तथा अपने मनचाहे विषय सौन्दर्य-शृंगार का मर्म अपने दोहे में प्रकट कर दिया था किन्तु पता नहीं यह दोहा अभी तक आलोचकों में प्रचलित नहीं हो पाया। वह दोहा है—

दुरत न कुच बिच कंचुकी चुपरी, सारी सेत।
कवि आँकनु के अरथ लौं प्रगटि दिखाई देत॥ (१८८)

भला हो 'रत्नाकर' जी का जिन्होंने इस दोहे का शुद्ध पाठ देकर इसका अर्थ समझाया है। मेरे विचार में वह कवि क्या जिसका अर्थ व्यं-जित न हो, बात बात में बात न हो, और वह सौन्दर्य क्या जो झीने घूँघट के भीतर से न झाँके (५३८, ५७६), जलचादर के दीप लौं न जग-मगाए (३४०) और झीने झगा में से न झिलमिलाए। (१८६, १९८)

मैं न अधिक आवृत्त करता हूँ न अनावृत्त। बस इसी आध में अगाध सौंदर्य है। मेरी शैली को तुम 'लजौहीं अधखुली डीठि' (६५५, ६५३, ६३०, ६२८) से उपमित कर सकते हो। अब मैं तुम्हें अपनी बंकिम शैली का या भंगिम सौन्दर्यानुभूति का आधार बता सकूँगा। लक्षण ग्रंथ मैंने पढ़े हैं, समझे हैं, अध्ययनाभ्यास का मैं कायल हूँ, पर ध्वनि-सिद्धांत की अनुभूति भी तो हुई है। मुझे तो बाँकी अदा, 'बंकबिलोकनि-आँख' (३५६), टेढ़ो-टेढ़ो जाय की बाँकी चाल भाती है और ऐसी छबीली छवि-छाक में छक कर मेरी शैली भी बंकिम हो गई है। संगति का असर किस पर नहीं होता। मैंने तो साफ़ लिखा है—

संगति-दोषु लगै सबनु, कहे ति साँचे बैन।
कुटिल-बंक-भुव-संग भए कुटिल बंक-गति नैन॥

"जैसे बँकाई से 'बरुनी, अलक, चितवन, तरुनि, तान' आदि का मूल्य चढ़ जाता है उसी प्रकार कवि की बंकिम शैली या व्यंजना-सम्पन्न शैली का महत्त्व भी बढ़ जाता है।[1]

"मेरी शैली वैसे ही सज जाती है, अनुप्रास उसमें स्वतः ही आ जाते हैं क्योंकि राजा-रईसों के पास आवभगत में जब कोई पान भी देने आता है तो अपने सौन्दर्य-शिष्टाचार के साथ अनुप्रास भी लिए आता है—

सहित सनेह, सकोच, सुख, स्वेद, कंप मुसकानि।
प्रान पानि करि आपनैं, पान धरे मो पानि॥ (२६५)

"मेरी उपमाओं की जगमग राजमहलों की विलास-सामग्री है। तुमने इतिहास में पढ़ा होगा, हमारे युग में कलाओं की विशेष उन्नति हुई थी। उन कलाओं का जड़ाव-शृंगार और मीनाकारी मेरे मन में बस गई। बस मेरे दोहों में भी जड़ाव और मीनाकारी आ गई। पर प्रायः मेरी कविता-कामिनी तुम्हें सहज सजी मिलेगी, लदी-दबी नहीं। मैंने अपने 'सहज शृंगार, का दृष्टिकोण व्यक्त भी किया था—

---

[1] गढ़ रचना, बरुनी, अलक, चितवनि भौहँ, कमान।
आधु बँकाई ही चढै, तरुनि तुरंगम तान॥ (३१६)

बेंदी भाल, तँबोल मुँह, सीस सिलसिले बार।
दृग आंजे, राजै खरी एई सहज सिंगार॥ (६७९)

(मुझे भी ध्यान आया कि 'सहज-शृंगार' के परिचायक अनेक दोहे बिहारी में मिलते हैं; और कविता तथा कामिनी के सौन्दर्य के प्रति यही एक समान दृष्टिकोण मिलता है। बिहारी के नायक प्राय: 'सहज सचिक्कन', 'बिथुरे-सुथरे' बालों (९५), अंजन के बिना ही 'रससिंगार' मज्जित नेत्रों, आँग-ओप आंगी दुरी (१८४) तथा आभूषण-विहीन सहज सुन्दर नारियों पर रीझते हैं।) वे आगे कहने लगे—"नारी के लिए अलंकारों की आवश्यकता या समुचित सार्थकता पर मैंने कितने ही दोहे लिखे।[1] फिर भी मेरे दोहों में अलंकार आए हैं, और खूब आए है, पर मेरा प्रयास यही

[1]भूषन-भारू सँभारिहै क्यौं इहिं तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैं सोभा ही कैं भार॥ (३२२)
मानहु बिधि तन-अच्छ छवि स्वच्छ राखिबैं काज।
दृग-पग-पोंछन कौं करे भूषन पायंदाज॥ (४१३)
पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत इहिं हेत।
दरपन के से मोरचे देह दिखाई देत॥ (३३५)

पहले तथा तीसरे दोहे के प्रसंग के सम्बन्ध में 'रत्नाकर' जी का विचार है कि दूती ने नायिका को शीघ्र अभिसार कराने के लिए आभूषण न पहनने को कहा है। पर मेरा विचार है कि इसमें अभिसारादि की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि ये दोहे बिहारी की 'सहज सिंगार' वाली रुचि के अनुकूल हैं।

बिहारी को नायिका का स्वाभाविक सौन्दर्य विशेष अच्छा लगता है। यथा—

तन भूषन, अंजन दृगनु, पगनु महावर-रंग।
नहिं सोभा कौं साजियतु, कहिबैं ही कौं अंग॥ (२३६)

यदि मूल वस्तु (कविता या कामिनी) सुन्दर हो तो उस पर अन्य

[कृपया अगले पृष्ठ पर देखिये।

रहा है कि ये 'दरपन के से मोरचे' न दीखें। जैसे नारी की छवि-स्वच्छता के लिए अलंकार पुरुषों के 'दृग-पग-पोंछन' के लिए 'प्रायंदाज हैं—और इस रूप में ये नारी-शोभा के साधन है, साध्य नहीं—उसी तरह प्रायः मेरे दोहों में ये साधन रूप में ही आए हैं। वस्तुतः जिस व्यक्ति या विषय में स्वयं योग्यता नहीं वह दूसरों की सहायता या भूषणादि से श्रेष्ठ पद नहीं पा सकता पर जिसमें स्वयं योग्यता होती है, वह यद्यपि सामान्य भी हो, उच्च पद-प्राप्त करता है—

पाइल पाइ लगी रहै, लगौ अमोलिक लाल।
भोडर हूँ की भासिहै बेंदी भामिनि भाल॥" (४४१)

मैं उनके 'प्रयास' और 'प्रायः' को समझ गया। क्योंकि सतसई के कुछ दोहों में मात्र रंग-साम्य के आधार पर केवल चमत्कार के लिए उपमान लाए गए हैं। फिर भी बिहारी की अप्रस्तुत-योजना प्रशंसनीय है। रीतिमुक्त बोधा का रीतिबद्ध कवियों पर आक्षेप कि 'कुछ सीखे-सिखाए रूढ़िबद्ध उपमानों को लेकर लोगों ने कविता को खेल बना दिया है' बिहारी पर लागू नहीं होता।

आगे मैंने उनकी प्रशंसा में कहा—"उस समय और भी कलाकार थे, उनके लिए भी वही परिस्थितियाँ, वही कलाओं की मीनाकारी थी, पर बिहारी की बानगी अलग है, 'औरे कछु' है।[1] किसी 'सुजान' ने इसी के बस होकर ही तो कहा—

प्रसाधन स्वतः सुशोभित हो उठते हैं अन्यथा नहीं—

सबै सुहाएई लगैं बसै सुहाऐ ठाम।
गोरै मुँह बेंदी लसै अरुन, पीत, सित, स्याम॥ (२७१)

कभी-कभी तो बाह्य प्रसाधन सुन्दर छवि के 'सहज विकास' को विकृत तक कर देते हैं—

करत मलिन आछी छबिहिं, हरतु जु सहज विकासु।
अंगरागु अंगनु लगै, ज्यौं आरसी उसासु॥ (३३४)

[1]"वह चितवनि औरे कछू, जिहिं बसु होत सुजान' (५८८)

'सबकी भूषण सतसई रची बिहारीलाल'। या—

सतसैया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर
देखन के छोटे लगें...　　...　　...

आगे उन्होंने कुछ कहने न दिया, और मुख झुका लिया। थोड़ देर के बाद तरल नेत्रों से मेरी ओर देखकर बोले— "मैंने छोटे छंद का चुनाव अपनी रुच्यानुकूल किया। मैं कवि-कौशल, लाघव या व्यजना में मानता हूँ और दोहा छंद की प्रकृति ही ऐसी है। भाई रहीम की यह पंक्तियाँ मुझे याद आ रही है—

दोहा दीरघ अरथ के आखर थोरे आँहि।
ज्यों रहीम नट कुंडली सिमिटि कूदि चलि जाँहि॥

(मैंने देखा बोलते समय उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हो रही थी, उनका दोहों का अध्ययन बड़ा पूर्ण था।) काव्य में बिना व्यंजना शक्ति के कूदने-सिमटने या लाघव-फुरती का काम चल ही नहीं सकता। इसके साथ ही, हमारा कुछ रहस्य पाने वाले तुम्हारे शुक्लजी के शब्दों में, कल्पना की समाहार तथा भाषा की समास शक्ति से मैंने बड़ा काम लिया। अवश्य ही 'दीरघ अरथ' के लिए कल्पना का संकोचन तथा थोरे 'आखर' के लिए भाषा की सामासिकता दोनों अनिवार्य है। ये दोनों शक्तियाँ भी मेरी एक विशिष्ट वृत्ति पर आधारित हैं जिसके बिना ये शक्तियाँ ही नहीं, मेरी चित्रमयता भी पंगु हो जाती, वह है सुमुन्नत चयन वृत्ति। वैसे तो यह भी सामंती वातावरण की उपज है, सामंतवादी मनोवृत्ति है, और दूसरे कलाकारों में भी ये हो सकती थी, कुछ है भी, पर ऐसी सुरुचि कुछ स्वभावज भी होती है। इसी के बल पर मैंने अनेक प्रसंगों, अनुभावों या शब्दों में कुछ विशेष को ही चुना-सजाया और इसी से छोटे छंद दोहे से ही काम चल गया। बड़े छंदों में भरती बहुत होती है, जो मुझे नहीं भाती। सजाने में भी एक क्रम चाहिए, जिसकी सुरुचि बिहारीलाल की कृपा से मुझे प्राप्त थी।" मैं समझ गया कि उनके दोहे क्यों सुगठित तथा सार गर्भित हैं। यह भी समझ गया कि क्यों उन्होंने मात्र

सतसई ही लिखी। चयन-वृत्ति वाला अधिक नहीं लिख सकता। आगे मैं ने दोहों की मौलिकता के सम्बन्ध में प्रश्न किया। वे कहने लगे— "मैंने भावों-विचारों में कोई मौलिकता लाने का यत्न नहीं किया। हमारे रूढ़िबद्ध दृष्टिकोण तथा राजा-रईसों के उस विलासपूर्ण वातावरण में इसकी गुन्जायश भी नही थी, पर युग और स्वभाव से जिस सुचयन-वृत्ति को प्राप्त किया, उस से 'गाथा सप्तशती' 'अमरूक' आदि से लिए भाव —कुछ लोगों के अनुसार चुराये भाव—भी मेरे अपने हो गए ! अब इसे तुम चाहे दृष्टि की मौलिकता कहो चाहे शैली की। बहुत सों ने इसका अनुकरण किया, पर यह कोरी शैली मात्र का अनुकरण था, दृष्टि की भंगिमा तथा चयन-वृत्ति की सुरुचि तो सब के पास नहीं थी; इसलिए वे सफल न हो सके। तुम्हारे आलोचक ये स्वीकार करते हैं कि बड़े छंदों में भी वे हावानुभाव नहीं आ सके, जो मेरे छोटे-छोटे दोहों में आए हैं। एक बात तो कहना मैं भूल ही गया। चयन-वृत्ति और औचित्य का बड़ा सम्बन्ध है। सौन्दर्य बिना औचित्य के नहीं हो सकता। दोहे जैसे छंद में इसकी और भी आवश्यकता है। मैंने कुछ दोहों में अज्ञात रूप से यही बात कही है। जैसे—

जो सिर धरि महिमा मही लहियति राजा राइ।
प्रगटत जड़ता आपनियै, सुमुकुट पहरित पाइ॥ (४३०)

इसी से मेरे दोहों में 'अधिक पदत्व', 'न्यून पदत्व' तथा 'समाप्त-पुनरात्त दोष' बहुत कम मिलेंगे।" यह कह कर वह चुप हो गए। उन्होंने संकेत किया, दूर खड़ी सुन्दरी रतनार सुरा लाई और दो प्यालों में उंडेल दी गई। मुझे उन्होंने संकेत किया, मैंने संकेत से ही नाहीं कर दी। वे चुस्कियाँ लेकर मेरे प्रश्न को सुनने लगे। मैंने कहा हमारे आलोचक गण कहते हैं—"आपके काव्य में जीवन की विविधता नहीं, दर्शन भी"..."हाँ ! वे ठीक कहते हैं, किसी दर्शन के पचड़े में मैं नही पड़ा; फिर भी धर्म, अर्थ, काम मोक्ष में मेरे लिए काम ही काम का रहा है, यही मेरे लिए मोक्ष है। मेरे साहित्य के नाते पूर्वज विद्यापति ने जिस तिल भर के

संगम को सर्वस्व माना था मैं भी उसी का कामी हूँ। मैंने अपना काव्यादर्श तथा जीवनादर्श व्यक्त करते हुए कथा था—

तन्त्रीनाद कवित-रस, सरस राग, रति-रंग,
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग। (६४)

संगीत, कविता तथा रतिरंग के आनन्द को मैंने एक ही पंक्ति में रख दिया है। मेरी कविता शृंगार रस के लिए और शृंगार रस कविता के लिए आया है। और जहाँ 'रसराज' की साधना हो वही अपना राज्य है। मेरा तो अब भी यही विश्वास है, उस मुक्ति में धूल झोंको जिसमें प्रियतम-प्राप्ति की युक्ति नही और यदि प्रियतम संग में प्राप्त हो तो नरक की भी धड़क नही है। मैंने लिखा था—

जौ न जुगति पिय मिलन की, धूरि मुकति-मुँह दीन।
जौ लहियै सँग सजन, तौ धरक नरक हूँ की न। (७५)

"सच बात है, हम तो भोगवादी हैं। नारी के बिथुरे-सुथरे बालों को देख कर 'पथ'-'अपथ' का ध्यान भी कभी-कभी जाता रहता है। (६५) तुम्हारे छायावादियों की तरह किसी अतीन्द्रिय आनन्द के फेर में नहीं पड़ा। ऐन्द्रिय रति ही मुक्ति है, यही नहीं अपर मुक्ति तो विनाशक है। तुमने पढा होगा—

[illegible], [illegible]मक, हाँसी ससक, मसक, झपट, लपटानि।
ए [illegible] रति, सो रति, मुकति; और मुकति अति हानि ॥† (७६)

'[illegible] रति को साथ लेकर ही हम किसी गम्भीर प्रेम की कल्पना कर सकते हैं और उसका प्रतिपादन भी मैंने किया था, यथा—

गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन बूड़े जहाँ हजारु।
[illegible] पसु नरनु कौं प्रेम-पयोधि पगारु॥ (२५१)

[illegible]न है रसिकता के रस के साथ किसी की प्रेम-प्राप्ति

[illegible] अन्य दोहे में भी ऐन्द्रिय रति को मुक्ति बताया है—

[illegible] अरूनु, छला स्यामु छवि देइ।
लहत [illegible] पलकु यह नैन त्रिबेनी सेइ॥ (३३८)

भी हो तो और भी क्षेम है। तुम इसे बुरा तो कहोगे पर क्या करें, रीतिकालीन सामंतों की तरह हम भी कुछ संघर्ष नहीं कर सके। जायसी के रत्नसेन की तरह सात सागर पार करने की हिम्मत हममें नहीं; हमारे कृष्णलाल तो बड़े बेचारे हैं; वियोग होने पर बेहाल पड़ जाते हैं—

कहा लड़ैते दृग करे, पड़े लाल बेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पटु, कहूँ मुकुट, बनमाल॥ (१५४)

"रोमानी शौर्याश्रित प्रेम की बात ही नही हम तो हर दृष्टि से सुख चाहते हैं, श्रम करने का दुःख हमसे नहीं उठाया जाता। अनियारे दीरघ नयनों से घायल होकर, कोई कुछ कर भी क्या सकता है ? हम भौतिकवादी नहीं भोगवादी हैं। हम जीना चाहते हैं आराम से, कामिनी के दाएँ-बाँएँ, हमारा मन नहीं फिरा कि किन्हीं समस्याओं के फेर में पड़ें। हमारा आदर्श तो वह परेवा पक्षी है जिसे कुछ करना-धरना नहीं पड़ता और स्वाभाविक रूप में सारे आराम उसे उपलब्ध होते हैं। देखो ना पंख (वस्त्र) उसके पास होता ही है, भोजन कंकड़ सब स्थानों पर प्राप्य रहता है और सर्वत्र साथ उड़ सकने वाली सपर परेई उसके संग रहती है। फिर बताओ, पृथ्वी में एक वही सुखी है ना ?"[1] मैं जवाब में तनिक मुसकरा दिया और वे आगे कहने लगे "हम तो खाने खरचने की बात करते हैं जोड़ना हमें भाता नहीं।[2] जीवन को सहज से सहज रूप में लेना चाहते हैं; यम-नियम या संयम-दमन को हमारा दिल नहीं मानता। भोगवृत्ति मनुष्य का सहज स्वभाव है और सहज स्वभाव में यत्न करने पर भी अन्तर नहीं लाया जा सकता। मैंने लिखा था—

कोरि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतिहिं बीचु।
नल-बल जलु ऊँचै चढ़ै, अन्त नीच कौ नीचु॥ (३४१)

---

[1]पटु पाँखै, भखु काँकरै, सपर परेई संग।
सुखी, परेवा पुहमि मैं एकै तुँहीं, विहंग॥ (६१६)

[2]मीत, न नीति गलीतु ह्वै जो धरियै धनु जोरि।
खाएँ खरचैं जौ जुरे तौ जोरियै करोरि॥ (४८१)

"सच्ची बात है, किसी को अच्छा लगे या बुरा, अपना-अपना प्राकृतिक स्वभाव नहीं छूट सकता—

भावरि-अनभावरि-भरे करौ कोरि बकवादु ।
अपनी अपनी भाँति कौ छुटै न सहजु सवादु ।। (६३७)

"नर-नारी का आकर्षण सहज है, प्राकृतिक है । भव-सागर के पार उतरने की बात व्यर्थ है । और पार उतरकर जा भी कौन सकता है?—'तिय-छवि' जाने दे तब तो ।"[1]

मैंने कहा—"आपने नारी का इतना चित्रण किया है, पर महत्त्व तनिक भी नही दिया ।" "दिया है" वे बोले—"पर पुरुष की रसिक मनोवृत्ति को समझ कर । मनुष्य मूल रूप से ही रसिक है, विलासी है, प्रेमी नहीं । वह एक से, एकनिष्ठ प्रेम कर ही नहीं सकता । इसलिए मैंने भी अपने नायक को बन्धन में नहीं रखा । जीवन का सहज स्वाद है निर्बन्धता में, स्वच्छन्दता में, और इसी के अनुकूल मैंने नारी को भी देखा है । मेरा विलासी नायक नारी को संग लेकर असने लोचन जगत् को, रसमय करता है[2]। और नारी के देहरूपी सुदेश का भोग वह राजा बनकर क्यों न करे ?[3] नारी केवल कामिनी है, पुरुष को लुभाने-रिझाने के लिए न वह दासी है न देवी, वह है मदनिका । देखो न कितनी नायिकाओं का हमने चित्रण किया है, सबके पृथक्-पृथक् गुण हैं पर सब हमें रस देती हैं । कामिनी हमें अधिक से अधिक लुभाने के लिए गुण-ग्रहण करती है और सच्चे गुणीजन उनकी प्रशंसा करके रस लूटते हैं । उसकी अपनी कोई वैयक्तिक सत्ता नहीं है । उसे जो सुख मिलता है, वह भी हमारे ही सुख का साधन होता है । उसके गुणों की प्रशंसा होती है ताकि वह भोग्या बनने के अधिक से अधिक योग्य बन सके । 'मुग्धा'-

---

[1]या भव-पारावार कौं उलँघि पार को जाइ ।
तिय-छवि-छायाग्राहिनी ग्रहै बीच ही आइ ।। (४३३)

[2]इक नारी लहि संगु रसमय किए लोचन-जगत् (४२)

[3]क्यौं न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेसु सब देहु (५)

'मध्या' की लज्जा को हम आभूषण कहते हैं पर उनके रूप रंग के समान यह भी हमें उन्मत्त करती है।" मैंने देखा नशा बढ़ता जा रहा है पर कुछ कह नहीं सकता था। वहाँ खाने की ऐसी चीजें भी थीं कि नशा कम हो जाता था। अच्छा हुआ बिहारीलाल उन पर हाथ साफ करने लगे। तब मैंने भी प्रश्न करने की हिम्मत की—"आप के दोहों को कुछ लोग अश्लील कहते हैं!" उन्होंने जवाब दिया—

"भोगवादी दृष्टिकोण में अश्लीलता का तत्त्व तो हैं किन्तु मेरी सांकेतिक शैली ने इसे भी छिपा दिया है। अश्लीलता नर-नारी के काम-व्यापार के हार्दिक प्रदर्शन में है, सांकेतिक-बौद्धिक दर्शन में नहीं। यह ठीक है कि हमने समाज के शृंगारिक राज़ फाश किए हैं पर अनाड़ियों की तरह नही, कलाकारों की तरह। दो-तीन दोहों से मैं अपनी बात स्पष्ट करता हूँ। मेरा विपरीत रति सम्बन्धी दोहा है—

परयौ जोरु, विपरीत रति रुपी सुरत-रन-धीर।
करति कुलाहलु किंकिनी, गह्यौ मौनु मंजीर॥ (१२६)

"दूसरी पंक्ति में सूक्ष्मता है, साक्षात्कार नहीं; संकेत है, नग्न उत्तेजना नहीं। यहाँ दोहरी व्यंजना है—व्यंजना के भीतर भी व्यंजना है। यहाँ व्यंजना के पर्दों को खोलने में पाठक जिज्ञासा से रस तक पहुँचता है, स्थूल नेत्र से कुछ देख नहीं पाता। दो दोहे और लो जिनमें सांकेतिकता से कितनी बात कह दी गई है पर क्या मजाल कि फूहड़ता आई हो—

अहे, दहेंड़ी जिनि धरै, जिनि तूँ लेहि उतारि।
नीकैं है छीकैं छुवै, ऐसैई रहि, नारि। (६६६)

"पाठक चाहे, वक्ष के उभार, आंगिक नग्नता आदि, कितनी ही बातों की कल्पना कर सकता है किन्तु निरावृत्त या साक्षात् रूप में कुछ नहीं पा सकता। अधिक क्या प्रायः मेरे दोहे या तो 'अनबोले' ही उत्तर देकर नग्नता से बचते हैं[1] या 'छवि-छटा' में, उस ओर ध्यान नहीं

---

[1]बिनती रति विपरीत की करसि पिय पाइ।
हँसि, अनबोलै ही दियौ उतरु, दियौ बताइ॥ (१३०)

जाता।[1] तीसरे मेरा शृंगार नागरिक है जहाँ मेरी दृष्टि स्थूल अंगों के प्रदर्शन पर न रह कर मनोभावों और हावों के वर्णन पर रही है। मेरी नायिका राधा भी 'नागरि'[2] है और नायक कृष्ण भी नागर[3] हैं। मैंने अनेक दोहों में ग्रामीण तथा नागरिक मनोवृत्ति में अन्तर बताया है[4]। मेरा दृष्टिकोण नागरिक है और इस दोहे से समझा जा सकता है जिसमें मैंने नागरी को गँवेलिनों में रहने पर अपमानित होना बताया है। सुनो—

नागरि विविध बिलास तजि, बसी गवेंलिनु माँहि।
मूढ़नि मैं गनबी कि तूँ, हूठ्यो दै इठिलाँहि॥ (५०६)

"मैंने तुम से कहा है मेरी दृष्टि मनोभावों और हावों पर रही है। आत्मश्लाघा की बात नहीं, इसीसे मेरे दोहे यथार्थ बन सके हैं। नायक-नायिका का व्यावहारिक-शृंगारिक मनोविज्ञान इनमें बराबर मिलेगा। इस दृष्टि से कुछ उत्कृष्ट दोहे तुम्हें सुनाता हूँ—

"बतरस–लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंहँ करै भौंहनु हँसै दैन कहै नटि जाइ॥ (४७२)
देख्यौ अनदेख्यौ कियै, अँग-अँग सबै दिखाइ।
पैठति सी तन मैं सकुचि बैठी चितै लजाइ॥ (६१८)
ज्यौं ज्यौं आवति निकट निसि त्यौं त्यौं खरी उताल।
झमकि-झमकि टहलै करै लगी रहचटैं बाल॥(५४३)
नहिं अन्हाइ नहिं जाइ घर, चितु चिहुँट्यो तकि तीर।
परसि, फुरहरी लै फिरति विहँसति, धँसति न नीर॥(६४५)
नाँक चढ़ै सीबी करै जितै छबीली छैल।
फिरि-फिरि भूलि वहै गहै त्यौं कँकरीली गैल॥ (६०६)

---

[1]दीप-उजेरैं हूँ पतिहिं हरत बसनु रति-काज।
रही लपटि छबि की छटनु, नैंको छुटी न लाज॥ (४६३)

[2]मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोइ। (१)

[3]तौ, बलियै, भलियै बनी, नागर नंद किसोर। (६२१)

[4]देखिए दोहा सं० २७६, ४३८, ४३६, ६२४, आदि।

भौहँनु त्रासति, मुँह नटति, आँखिनु सौं लपटाति ।
ऐँचि छुड़ावति करु इँची आगैं आवति जाति ।। (६८३)
बालमु बारैं सौति कैं सुनि परनारि-बिहार ।
भौ रसु, अनरसु, रिस रली, रीझ खीझ इक बार ।।" (१८७)

निस्सन्देह, मुझे ये दोहे मनोवैज्ञानिक तथा यथार्थ लगे, और मैंने भी उनकी मानव-प्रकृति की परख की प्रशंसा में कुछ कहा । आगे मैंने पूछा—" आपने भक्ति के दोहे भी तो लिखे हैं ?" "लिखे हैं, इसलिए कि पहले के भक्त कवियों ने भक्ति की अपार रचनाएँ की थीं; हमने भी परम्परा का पालन कर लिया । दूसरे, राधा-कृष्ण के स्मरण से अपना क्या जाता है, लाभ ही लाभ है । मेरे साथी भिखारीदास का यह दोहा प्रसिद्ध है—

आगे के सुकवि रीझिहैं तौ कविताई,
नतु राधिका कन्हाई सुमिरन कौ बहानो है ।

"हमारी शृंगारिक सामग्री को भक्त-जन भी राधा-कृष्ण के नाम से ग्रहण कर लेते है । फिर हम कौन से सिद्धातवादी हैं कि 'रति' को 'मुक्ति' मान लिया तो कोई और भाव उठ ही नहीं सकता । 'समय पलटि पलटै प्रकृति' (६६१) के अनुसार 'वै-नै' चढ़ती बार जग न जाने कितने औगुन करता है (४६१)—यौवन-ऋतुराज में 'नव दल फल फूल' के बदले लाज चली ही जाती है (४७४)—और इस 'समय सौभाग्य' (३१२) के नष्ट होने पर वृद्धावस्था में कुछ वैराग्य भी आ जाना स्वाभाविक है । मनुष्य चाहे न चाहे, बुढ़ापा तो सहज-रूप से कभी-न-कभी आएगा ही । अतएव 'समैं समैं सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोइ' । (४३२) तब यम-करि के मुँह के नीचे पड़कर हम भी कह उठते—"विषय-तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ" (२१) वैसे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, किसी भी भाव की अति होती है तो कुछ न कुछ प्रतिक्रिया तो होती ही है । कुछ क्षण हमारे जीवन में भी ऐसे आ ही जाते, जब हम भी कह उठते थे—

मोहूँ दीजै मोषु, ज्यौं अनेक अधमनु दियौ । (२६१)

या दीन प्रार्थना भी करते—

हरि, कीजति बिनती यहै तुम सौं बार हजार।
जिहिं तिहिं भाँति डर्यौ रह्यौ पर्यौ रहौ दरबार ।। (२४१)

"इनको पढकर हमें कोई भी भक्त कहेगा, पर सच्ची बात है हम में कोई आत्मा की बेचैनी, तड़प या जिज्ञासा नहीं जैसी हमारे पहले के भक्तों मे होती थी। कोई सिद्धांत नहीं, या कुछ अन्तर नहीं आता इसलिए हम कभी सगुण का प्रतिपादन करते कभी निर्गुण का। ये दो दोहे सुनाता हूँ, समझ लो—

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन-विस्तारन-काल।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि चंग-रंग भूपाल ।। (४२८)
लटुवा लौं प्रभु-कर-गहै निगुनी गुन लपटाइ।
वहै गुनी-कर तें छुटैं निगुनीयै ह्वै जाइ ।। (५०१)

"एक स्थान पर तो मैंने मुरारी को भी राम का कार्य करने वाला बता दिया है। वह दोहा है—

कौन भाँति रहिहै बिरदु अब देखिबी मुरारि।
बीधे मोसौं आइ कै गीधे गीधहिं तारि ।। (३१)

वस्तुतः भक्तों के समान तल्लीनता-भावुकता हमारे दोहों में है ही नहीं, है भी तो इसलिए कि अपनी कला-चातुरी से हम में भक्त बनने का भी कौशल है। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि भगवान चाहे हमारी भक्ति से न रीझें हमारी बंकिम शैली से, वाग्विदग्धता तथा उक्तिवैचित्र्य से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। कला की दाद देने के लिए वह अपने दर्शन दुर्लभ नहीं करेंगे। इन दो-तीन दोहों का तुमने भी आस्वादन किया होगा—

मोहिं तुम्हैं बाढ़ी बहस, को जीतै, जदुराज।
अपनैं अपने बिरद को दुहूँ निबाहन लाज ।। (४२)
करौ कुबत जगु, कटिलता तजौं न, दीन दयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय बसत, त्रिभंगी लाल ।। (४२५)

"मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि मानव का मूल स्वभाव नहीं जाता चाहे समय के प्रभाव से, आयु बढ़ने के साथ उसके बाह्य स्वरूप में कुछ परिवर्तन भले ही आ जाए। भक्ति के दोहे लिखते समय भी हमारी मूल प्रकृति कोई भी देख-समझ सकता है। हम कौन सा भगवान को अपनी लौकिक जीवन की उपेक्षामय साधना से रिझाते थे या पश्चात्ताप-पीड़ित तरल उद्‌गारों से द्रवित करते थे। यहाँ भी हमारी भोगवादी मनोवृत्ति या आराम पसंदगी मुफ्त में काम निकालने से बाज़ नहीं आई। हम कहते—'जगत-गुरु स्याम ! क्या तुम्हें दुनियाँ की हवा तो नहीं लग गई कि तुमने थोड़े गुणों पर रीझना छोड़ दिया है! (७१) आखिर हमारी बार ही ऐसी क्या बात हो गई कि तुम हमारे गुण-अवगुण गिनने बैठे हो? आगे तो तुम अपनी दया से ही पतितों को तार देते थे। (२२१) फिर भी रियायत की बात नहीं। आगे तुम एक ही (आध्यात्मिक) ताप से पिघलते थे, हमने तो हृदय-हमाम को त्रयतापों से तपा रखा है, फिर भी तुम नही पसीजते ! (२८१)

"हमने जिस राधा-कृष्ण की भक्ति की उसके स्वरूप की जानकारी से हमारी भक्ति और भी स्पष्ट हो जाएगी। हमने कृष्ण के शृंगारी-लोकरंजक रूप से ही अनुराग दिखाया है। आखिर आपने नाम को तो सार्थक करना ही था, बिहारीलाल को 'बिहारीलाल' ही भा सकते थे—

सीस-मुकुट कटि-काछनि, कर मुरली, उर माल।
इहिं बानक मो मन सदा बसौ, बिहारी लाल ।। (३०१)

"आनन्द क्रीड़ा करने वाले 'बिहारीलाल' के साथ हमने उसी राधा से भव-बाधा हरने की प्रार्थना की जिसके तन की झांईं से श्याम 'हरित-दुति' हो जाते। (१) यह तो अलग-अलग की बात रही, हमने राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति की भक्ति भी की—इसलिए कि इनकी 'केलि' से ब्रजमग का एक-एक निकुंज 'प्रयाग' का फल देने वाला हो गया। मैंने तो अपने मन से स्पष्ट कहा था—

तजि तीरथ, हरि-राधिका तन-दुति करि अनुरागु।
जिहिं ब्रज-केलि-निकुंज-मग पग पग होतु प्रयागु ॥ (२०१)

"प्रेम में एक से काम नहीं चल सकता। अतएव हमारा काम तो 'युगल किशोर' से ही चल सकता था। मेरी अनन्य इच्छा थी—

नितप्रति एकत हीँ रहत, बैस-बरन-मन एक।
चहियत जुगल किसोर लखि लोचन-जुगल अनेक ॥ (२३८)

"जैसे कृष्ण गोपी-वल्लभ तथा रसिक शिरोमणि होकर भी राधा-प्रेमी प्रसिद्ध हैं वैसे ही तुम हमारे रसिक-प्रेमी नायक को समझो।" यह कहकर वे कुछ चुप होगए। पर मैं तो जैसे सब कुछ पूछने पर उतारू था। मैं कहने लगा—"मैं समझ गया कि आप की भक्ति का रहस्य क्या है। आपने अन्य अनेक विषयों पर भी तो लिखा है और उनका सामाजिक महत्त्व भी है। उनके सम्बन्ध में आपका क्या विचार है?" "वही" वे बोले "जो अपने भक्ति के दोहों के सम्बन्ध में है।" पर मेरे मुख पर जिज्ञासा देखकर वे उसका स्पष्टीकरण करने लगे—"जैसे भक्ति के अनेक दोहों के मूल में हमारी मूल शृंगारिक मनोवृत्ति झलकती है पर फिर भी कुछ दोहे पूरी भक्ति के दिखाई देते हैं, वैसे ही अन्य विषयों पर लिखे दोहे भी हैं—जैसे प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में। अपने समकालीन कवियों की तरह मैंने भी प्रकृति का उद्दीपन के रूप में चित्रण किया है। या आलम्बन रूप में किया है तब उसमें भी मुझे सुन्दर नारी ही नज़र आई है। तुम्हीं देखो, ऐसी शरद ऋतु किसे अच्छी न लगेगी—

अरुन सरोरुह-कर-चरन, दृग-खंजन, मुख-चंद।
समै आइ संदुरि सरद काहि न करति अनन्द ॥ (४८७)

या अर्द्धरात्रि के समय आने वाली यह शीतल प्रेम-पात्री वायु किसे सुख न देगी—

रही रुकी क्यौं हूँ सु चलि, आधिक राति पधारि।
हरति तापु सब द्यौस कौ उर लगि यारि बयारि ॥ (३८९)

हमें तो शीतल मंद सुगन्ध वायु भी नवोढ़ा नायिका ही लगती थी—

लपटी पुहुप-पराग-पट, सनी स्वेद मकरंद।
आवति, नारि नबोढ़ लौं, सुखद वायु गति मंद॥ (३९२)

पावस-घन-अँधियार में दिन-रात का भेद भी हमें चकवा-चकवी मिल-बिछुड़ कर बताते थे—

पावस-घन-अँधियार मैं, रह्यौ भेद नहिं आनु।
रात द्यौस जान्यौ परत, लखि चकई चकवानु॥ (४८६)

कहने की आवश्यकता नहीं कि आलम्बन रूप में भी हमारी रुचि-केन्द्र नारी ही रही है। फिर भी कुछ ऐसे दोहे भी अवश्य लिखे जो मेरे समकालीन कवियों से भिन्न प्रकार के हैं क्योंकि उनमें प्रकृति का प्रकृति के लिए चित्रण हुआ है। जैसे—

कहलाने एकत बसत अहि मयूर, मृग बाघ।
जगतु तपोबन सो कियौ दीरघ-दाघ निदाघ॥ (४८९)
चुवतु स्वेद मकरंद-कन, तरु-तरु-तर बिरमाइ।
आवतु दच्छिन देस तैं थक्यौ बटोही बाइ॥ (३९०)
रनित भृंग-घंटावली, झरित दान मधु-नीरु।
मंद मंद आवतु चल्यौ कुंजरु कुंज-समीरु॥ (३८८)

वस्तुतः श्रृंगार रस-राज की सेवा में हम ऐसे संलग्न हुए कि हमें उसी का राज्य सर्वत्र दिखाई दिया। वात्सल्य सम्बन्धी या करुण प्रसंग भी हमें प्रभावित नहीं कर सका—उसके मूल में भी हमें श्रृंगारिक रति दी दिखाई दी। ये दो दोहे सुनो जो मेरी बात को स्पष्ट करेंगे—

बिहँसि बुलाइ, बिलोकि उत प्रौढ़ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजति, पूत कौ पिय-चूम्यौ मुँहुँ चूमि॥ (६१७)
दृग थिरकौहैं, अध खुलैं, देह-थकौंहै ढार।
सुरत सुखित सी देखियति, दुखित गरभ कैं भार॥ (६९२)

तुम्हारे युग के फ्रायड ने अन्य भावनाओं के मूल में काम-भावना को माना है। हम यद्यपि किन्हीं सिद्धान्तों के पचड़े में नहीं पड़े पर परोक्ष रूप में हमारे दोहों से यही सिद्ध होता है। इनके आधार पर कोई भी

फ्रायड के सिद्धांत को सत्य स्वीकार कर लेगा। यह कह कर कुछ उत्तर पाने के लिए वह मेरी ओर देखने लग गए, पर जब मैं पूर्ववत रहा तो आगे कहने लगे कि "हमने पाखंड-खंडन किया है, पर रुच्यानुकूल रस भी लिया है, ये दोहे भी हमारे शृंगारिक क्षेत्र से बाहर नहीं पड़ते। मैंने तो 'रति' को ही 'मुक्ति' बता उसकी स्पष्ट साधना की पर कुछ छिपे रुस्तम कई प्रकार की आड लेकर शिकार करते थे। यहीं मेरा व्यंग्य-विनोद काम आया। ज़रा इन भक्तों की 'अपूर्व भक्ति' देखो—

मैं यह तोहीं मै लखी भगति अपूरब, बाल।
लहि प्रसाद-माला जु भौ तनु कदंब की माल।। (४७०)
चितवत, जितवत हित हियैं, कियैं तिरीछे नैन।
भीजे तन दोऊ कँपै, क्यौं हूँ जप निबरैं न।। (५१७)

और इस पर-उपदेश-कुशल कथावाचक मिश्र की मुस्कान का रहस्य समझो—

परतिय-दोषु पुरान सुनि लखि मुलकी सुखदानि,
कसु करि राखी मिश्र हूँ मुँह-आई मुसकानि। (२६४)

इस बाल-प्रेमी चतुर नायक की बदमाशी भी कैसे छिप सकती है—

लरिका लैबे कैं मिसनु लंगरु मो ढिग आइ।
गयौ अचानक आँगुरी छाती छैलु छुवाइ।। (३८६)

इसी तरह नपुंसक वैद्य का बहुत धन लेकर दूसरों की रति-शक्ति बढ़ाने के लिए पारा देना,[1] ज्योतिषी जी का अपने पुत्र-जन्म पर, पितृमारक योग की गणना कर के शोकाकुल और बाद में जारज-योग का फल निकलने पर हर्षित होना[2] आदि भी मेरे विनोद के उपकरण बने हैं।" यह कह वे मुस्करा दिए। मैं भी हँसता हुआ कहने लगा— "उस

---

[1]बहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि।
बैद-बधू, हँसि भेद सौं, रही नाह-मुँह चाहि।। (४७९)
[2]चित पितमारक-जोगु गनि भयौ, भयैं सुत, सोगु।
फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी समुझैं जारज-जोगु।। (५७५)

कृपण ससुर को तो आप भूल ही गए जिसने…" "हाँ वह," कह कर और हँसते हुए उन्होंने दोहा सुना दिया—

कन दैबौ सौंप्यौ ससुर, बहू थुरहथी जानि।
रूप-रहचटै लगि लग्यौ माँगन सब जगु आनि ॥ (२६५)

मैंने चर्चा आगे चलाने के लिए कहा कि "कुछ दोहे आपके धार्मिक क्षेत्र के भी हैं जिन में धर्म की वास्तविकता स्पष्ट होती है।" उन्होंने पूछा "जैसे", तब मैंने कुछ याद करके दोहे बोले—

"जपमाला, छापै, तिलक सरै न एकौ कामु।
मन-काँचे नाचै बृथा, साँचै राँचै रामु ॥ (१४१)
अपनें अपनें मत लगै बादि मचावत सोरु।
ज्यौं त्यौं सबकौं सेइबौ एकै नन्दकिसोरु ॥" (५८१)

ये सुन वे बोले—"इन दोहों में तो हमारी कोई मौलिकता नहीं। संतों ने बाह्याडम्बरों का खंडन करके आंतरिक साधना पर बल दिया ही था, हमने उनको ठीक समझ कर, अपने युग में वही बात देखकर, उनकी हाँ में हाँ मिला दी। अवश्य ही मेरे अनेक नीति सम्बन्धी दोहे तत्कालीन राजनैतिक अवस्थाओं के अनुसार हैं। यह ठीक है कि मैंने राजा जयसिंह का हुक्म पाकर ही सतसई की रचना की थी पर मेरी बुद्धि उनकी अराष्ट्रीय मनोवृत्ति को कभी स्वीकार नही कर सकती थी। शिवाजी ने राजा जयसिंह को पत्र लिखा था, मै कुछ ऐसा तो न कर सका, रोजी का सवाल था पर अन्योक्ति के माध्यम से उसी आशय की बात कहे बिना न रह सका। सुनो—

"स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु वृथा; देखि, विहंग, बिचारि।
बाज, पराएँ पानि परि तूँ पच्छीनु न मारि ॥" (३००)

मैं सोचने लगा कि शृंगारी कवियों को भी अपने-पराए का भेद ज्ञात था और इससे तत्कालीन राष्ट्रीय-दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिल सकती है। मैंने कहा—"आपके 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' वाले दोहे ने बड़ा काम किया।" "किया", बिहारी बोले "पर इस राजनैतिक दोहे

का अभीष्ट प्रभाव न पड़ सका। इसलिए मैंने भी उनकी अनेक जीतों की कोई प्रशंसा नहीं की और अपने ही क्षेत्र तक सीमित रहा। मैंने ऐसे नीति के अनेक दोहे लिखे हैं जिनमें सामंतिक व्यवस्था के व्यवहार स्पष्ट होते हैं। ये दोहे राजाओं-जागीरदारों के व्यवहार से सम्बन्धित है, जो हमारे अनुभवों का क्षेत्र रहे हैं। जैसे, किसी गुणी को उपयुक्त स्थान नहीं मिला और कोई गुण-हीन उच्च स्थान पाकर फूला-फूला फिरता है। दूसरे, उस युग में चाटुकारिता बढ़ी हुई थी, इसलिए ऐसा प्रायः होता रहता था कि राजाओं के मुँह-लगे लोग कृत्कार्य होते रहते थे और बहुत से विद्वान मानी स्वभाव के कारण असफल रहते थे। सम्मानित व्यक्ति भी किसी समय थोड़ी-सी बात पर अनादृत हो सकता था।" बिहारीलाल जी ने अनेक दोहे बोले थे पर मुझे कुछ ही याद हैं, वही लिखे देता हूँ—

जनमु जलधि, पानिपु बिमलु, भौ जगु आधु अपारु।
रहें गुनी ह्वै गर-पर्यौ, भलै न मुकता-हारु॥ (३७६)
गहै न नैकौ गुन-गरबु, हँसौ सबै संसारु।
कुच-उचपद-लालच रहे गरैं परैं हूँ हारु॥ (३७७)
दिन दस आदरु पाइ कै करि लै आपु बखानु।
जौ लगि काग! सराधपखु, तौ लगि तौ सनमानु॥ (४३४)
मरतु प्यास पिंजरा-पर्यौ सुआ समै कैं फेर।
आदरु दै दै बोलियतु बायसु वलि की बेर॥ (४३५)
नहिं पावसु, ऋतुराज यह; तजि तरुवर चित भूल।
अपतु भएं बिनु पाइहै क्यौं नव दल, फल, फूल॥ (४७४)
नीच हियैं हुलसै रहैं गहे गेंद के पोत।
ज्यौं ज्यों माथें मारियत, त्यौं त्यौं ऊँचे होत॥ (४६१)

मैं आगे कुछ पूछने ही वाला था कि मेरे मित्र ने मुझे झँझोड़ कर जगा दिया। देखा, वहाँ बिहारीलाल तो न थे किन्तु बिहारी सतसई मेज पर खुली पड़ी थी, जिसे मैं पढ़ते-पढ़ते सो गया था।